ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला, हिन्दी ग्रन्थाङ्क—२१

रेखाचित्र

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रंथमाला-संपादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन एम० ए०, डालमियानगर

प्रकाशक
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

प्रथम संस्करण २०००
नवम्बर १९५२
मूल्य चार रुपये

मुद्रक
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

विषय-सूची

[नं० १ से लगाकर ७ तक और नं० ११, १२, २८ अब स्वर्गवासी हो चके हैं—लेखक]

रेखाचित्र

रेखाचित्र खींचना एक कला है। थोड़ी-सी रेखाओंके द्वारा एक सजीव चित्र बना देना किसी कुशल कलाकारका ही काम हो सकता है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण अजन्ताका वह सुप्रसिद्ध चित्र है, जिसमें एक वृद्ध मनुष्य किसी राजाके पास जहाज़ डूबने या युद्धमें पराजय होनेका दुःखद संवाद लाया है। उसके चेहरे तथा हाथकी मूक रेखाओंने बड़ी खूबीके साथ उसके हृद्गत भावको प्रकट किया है। कहा जाता है कि कलाजगत्में इस कोटिका दूसरा चित्र शायद ही कोई विद्यमान हो। इसी प्रकार थोड़े-से शब्दोंमें किसी घटनाको चित्रित कर देना अथवा किसी व्यक्तिका सजीव चित्र उपस्थित कर देना अत्यन्त कठिन कार्य्य है। इसके लिए लेखकको कठोर साधनाकी ज़रूरत है। जहाँ रंगके थोड़े गहरे या किंचित् हलके होनेसे ही तस्वीर बिगड़ सकती है, वहाँ तूलिका-को कितनी सफ़ाई, कितने चातुर्य्यके साथ चलाना चाहिए, इसका अन्दाज़ किसी विशेषज्ञ चित्रकारको ही हो सकता है। इसके लिए सरस्वतीके मन्दिरकी आराधना तो अनिवार्य्य है ही, पर साथ ही साथ अपने व्यक्तित्व-को सजीव तथा उन्मुक्त बनाये रखना भी अत्यन्त आवश्यक है।

जिस आदमीको जीवनके विविध अनुभव प्राप्त नहीं हुए, जिसने आँखें खोलकर दुनिया नहीं देखी, जिसे कभी जीवन-संग्राममें जूझनेका मौक़ा नहीं मिला, जो संसारके भले-बुरे आदमियोंके संसर्गमें नहीं आया, मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघातोंका जिसने अध्ययन नहीं किया और जिसने एकान्तमें बैठकर ज़िन्दगीके भिन्न-भिन्न प्रश्नोंपर विचार नहीं किया, भला वह क्या सजीव चित्रण कर सकता है ?

जिसप्रकार अच्छा चित्र खींचनेके लिए कैमरेका लैंस बढ़िया होना

चाहिए और फ़िल्म भी काफ़ी कोमल या सैंसिटिव, उसी प्रकार सफल चित्रणके लिए चित्रकारमें, विश्लेषणात्मक बुद्धि तथा भावुकतापूर्ण हृदय, दोनोंका सामंजस्य होना चाहिए। पर-दुख कातरता, संवेदनशीलता, विवेक और सन्तुलन इन सब गुणोंकी आवश्यकता है। अत्युक्तिमय प्रशंसा अथवा घोर निन्दा दोनों ही चित्रणके लिए विघातक हैं।

अबतक रेखाचित्र विषयक अनेक ग्रन्थोंको पढ़नेका सौभाग्य हमें प्राप्त हो चुका है। अंग्रेज़ीमें इस विषयके माने हुए आचार्य्य ए० जी० गार्डिनर थे, जिनका स्वर्गवास कुछ वर्ष पूर्व हो चुका है। किसी भी निष्पक्ष आलोचकको यह बात निस्संकोच माननी पड़ेगी कि गार्डिनरके मुक़ाबलेका स्कैच-लेखक इस समय कोई भी विद्यमान नहीं। जो नवयुवक लेखक रेखाचित्र खींचनेकी कला सीखना चाहें, उनसे हमारा विनम्र अनुरोध है कि वे गार्डिनरकी किताबोंका भलीभाँति अध्ययन कर लें। गार्डिनरने अपने खींचे हुए रेखाचित्रोंमें निजके व्यक्तित्वको बिल्कुल पीछे ही रक्खा है और यही उनकी सबसे बड़ी खूबी है।

आचार्य्य गिड्वानीने हमें बतलाया था कि जब कभी गार्डिनरका कोई रेखाचित्र प्रकाशित होता तो विलायतमें उसकी धूम मच जाती थी। यत्र-तत्र वह चर्चाका विषय बन जाता था। स्कैच-लेखकोंमें वे सव्यसाची अर्जुन हैं, जिनका निशाना कभी खाली नहीं जाता।

सम्भवतः इस विषयके भीष्मपितामह रूसी लेखक तुर्गनेव ही थे। उनके लिखे रेखाचित्रोंने रूसी समाजपर इतना प्रभाव डाला था कि उनसे वहाँ गुलामीकी प्रथा बन्द करनेमें बड़ी मदद मिली थी। उनकी लिखी ए पोर्ट्स मैन्स स्केचैज़ (२ भाग) तथा 'ड्रीमटेल्स' एण्ड 'प्रोज़ पोइम्स' अब भी ताज़गी रखती हैं।

अमरीकन लेखक वाशिंगटन इर्विंगकी स्कैचबुक अंग्रेज़ी-साहित्यमें बहुत प्रसिद्ध है। उनकी रिपवान विंकिल नामक कहानीकी गणना अमर साहित्यमें की जाती है। उसे हमने १९१०-११में हाईस्कूलकी पाठ्य-

पुस्तकके तौरपर पढ़ा था और आज ४१-४२ वर्ष बाद भी उससे हमारा पर्य्याप्त मनोरंजन होता है।

ग्रेसन नामक एक अमरीकन लेखकके रेखाचित्रोंमें एक अद्‌भुत सरसता और आनन्द पाया जाता है और वह हमें बन्धुवर सियाराम-शरणजीके रेखाचित्रोंकी याद दिला देता है। ये दोनों ही लेखक अपने आसपासके ग्रामीण दृश्योंका बड़ा ही सजीव चित्रण करते हैं। जिस ग्रामीण जनताको हम मूक पशु ही समझते हैं, ग्रेसन, श्रीरामजी और सियारामशरणजी उनको वाणी देकर हमारे सामने उपस्थित कर देते है। दो भारतीय लेखकोंने——श्री के० एस० वेंकटरमनी और श्री के० ईश्वरदत्त-ने——बहुत बढ़िया रेखाचित्र अंकित किये हैं। पहले महानुभावकी योग्यता-की प्रशंसा तो विलायतके बड़े-बड़े लेखकोंने की थी और निस्सन्देह वे उसके उपयुक्त पात्र थे। उनका स्वर्गवास हाल ही में हुआ है। यह दुर्भाग्यकी बात है कि हिन्दीमें उनके किसी भी ग्रन्थका अनुवाद नहीं हुआ। दूसरे सज्जन आज भी हिन्दुस्तान टाइम्समें सुन्दर रेखाचित्र खीचा करते हैं, यद्यपि उनका संग्रह एक ही प्रकाशित हुआ है——स्फार्कस एण्ड फ्यूम्स। स्वर्गीय वेंकटरमनीके पेपर बोटसका प्रथम संस्करण जब निकला था, तब उसे पढ़नेका सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था और उसकी मधुर याद अब भी आ जाती है।

खेद है कि प्रान्तीय भाषाओंके रेखाचित्र सम्बन्धी साहित्यके विषयमें हमारा ज्ञान न कुछके बराबर है। और तो और, उर्दू-साहित्यसे भी हमारा परिचय बिल्कुल नहीं। हाँ, हिन्दी लिपि या अनुवादमें हमने उन्हें थोड़ा-बहुत पढ़ा है। पितरस, शौकत थानवी और चग़ताईके रेखाचित्र उच्च कोटिके है, पर इनमेंसे कोई भी बँगला-लेखक परशुराम (श्री० राजशेखर बोस)को नहीं पाता। वे अनुपम हैं, अद्वितीय हैं और सर्वोच्च स्थान अभीतक उन्हीके लिए सुरक्षित है। अवध पंचके कितने ही लेखोंमें बहुत सजीव चित्रण हुआ है और उमराव जान 'अदा'के कितने ही अंशोंमें रेखा-

चित्रोके उज्ज्वल दृष्टान्त विद्यमान है। मौलवी अब्दुलहक साहबके स्कैच भी ला-जवाब बन पडे है। उनका लिखा नामदेव माली नामक रेखाचित्र तो कई बार उद्धृत हो चुका है।

और भला स्व० रवीन्द्रनाथ मैत्रको कौन भूल सकता है, जिनके लिखे त्रिलोचन कविराजके मुकाबलेकी चीज शायद ही कही मिले।

गुजरातीमे श्रीमती लीलावती मुशीके लिखे रेखाचित्र प्रसिद्ध है। उनमे चरित्रोके अध्ययनकी प्रशसनीय प्रतिभा विद्यमान है। क्या ही अच्छा हो यदि उनके रेखाचित्रोका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करा दिया जाय! हिन्दी रेखाचित्रोका जिक्र करते हुए हमे सबसे प्रथम आचार्य प० पद्मसिहजी शर्माका स्मरण आता है। वैसे उनके पूर्व भी कितने ही अच्छे स्कैच हिन्दीमे निकल चुके थे, पर हिन्दीमे रेखाचित्रोके प्रथम आचार्य प० पद्मसिहजीको ही मानना पडेगा। उनका महाकवि अकबर विषयक लेख, चरित्र-चित्रणका सर्वोत्तम दृष्टात माना जा सकता है। यदि आज वे जीवित होते तो इस बातको सुनकर यही कहते "भई पहले सपादकाचार्य रुद्रदत्त शर्मा, बाल-कृष्ण भट्ट, बाबू बालमुकुन्द गुप्त और पडित प्रतापनारायण मिश्रको श्रद्धाजलि अर्पित करो। मुझे पाँचवाँ सवार क्यो बनाते हो?" अपने रेखाचित्रोके इस सग्रहको प्रकाशित करते हुए हमे इस बातका पछतावा है कि यह सग्रह स्व० प० पद्मसिह शर्मा, बन्धुवर व्रजमोहन वर्मा और भाई शोभाचन्द जोशीके सम्मुख न छप सका। वर्माजी तथा जोशीजीने तो हमारे सामने ही रेखाचित्र लिखने प्रारभ किये थे और उन दोनोके सामने हार माननेमे हमने निरन्तर गौरवका ही अनुभव किया था।

आज जो भी महानुभाव इस क्षेत्रमे अग्रसर हो रहे है, उन सबका हम अभिनन्दन करते है।

श्री वृन्दावनलालजी वर्माको हम 'बडे भैया' कहते है, श्रीरामजी हमारे लिए अनुज तुल्य है और हरिशकरजी शर्मा अग्रज तथा श्रीमती महा-देवीजी वर्मा हमे चाचा मानती है—उनके पूज्य पिताजीके साथ मै एक ही

कालेजमें सहायक अध्यापक था। बन्धुवर सियारामशरणजीसे भी अपना निकट संबंध बहुत वर्षोंसे रहा है। यही बात भाई अन्नपूर्णानन्दजी और कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकरके बारेमें कही जा सकती है। श्री वेंकटेश नारायणजी तिवारी तो हमारे श्रद्धेय हैं। इन सबके रेखाचित्रोंको हम बार-बार पढ़ते रहे हैं और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा भी करते रहे हैं। श्रीरामजी शर्माकी बोलती प्रतिमा नामक पुस्तकके रेखाचित्र एक-से-एक बढ़िया बन पड़े हैं। उसीप्रकार श्रीमती महादेवीजीकी 'अतीतकी स्मृतियाँ' एक अद्वितीय पुस्तक है। हिन्दी-जगत्की मनहूसियतको दूर करनेके लिए हरिशंकरजी, अन्नपूर्णानन्दजी और बेढबजीने जो काम किया है, उसे कौन भुला सकता है? शर्माजीके चहचहाते चिड़ियाघर और पिंजरापोलमें उच्च कोटिका हास्य विद्यमान है और अन्नपूर्णानन्दजीके महाकवि चच्चाका क्या कहना है।

इस प्रसंगमें हमें दो बन्धुओंका स्मरण आता है, एक तो श्री खानचन्द गौतमका और दूसरे श्री अख्तरहुसेन रायपुरीका। दोनों ही बढ़िया स्कैच लेखक हैं, पर दोनोंने ही अपनी रचनाओंकी बिल्कुल उपेक्षा की है। जिन दिनों गौतमजी 'लोकमणि' नामसे नवशक्तिमें अपने स्कैच प्रकाशित कर रहे थे, उन दिनों हमने उनके विषयमें विशाल भारतमें एक लेख लिखकर उनकी अद्भुत कलाकी ओर हिन्दी-जनताका ध्यान आकृष्ट किया था और अख्तर साहबके लिखे स्कैच जब 'विशाल भारत' में छपे थे, तो उनकी धूम ही मच गई थी। हमें इस बातका दुःख है कि हिन्दी-जनताने इन दोनों लेखकोंकी क़द्र नहीं की और इसके लिए वे दोनों भी कुछ अंशमें तो अपराधी है ही, क्योंकि वे स्वयं अपनी मानस संतानकी उपेक्षा करते रहे है। इसी कोटिके मुजरिम हैं, श्रीकृष्णदत्त पालीवालजी, जो हिन्दीके अप्टन सिनक्लेयर बन सकते थे, पर जो आज राजनैतिक रेगिस्तानमें अपनी नौका खे रहे हैं!

इस बीच साहित्याकाशमें सबसे अधिक तेजस्वी रेखाचित्रकारका आविर्भाव हुआ है और उसे हम अपने इतिहासकी एक स्मरणीय घटना ही मानते हैं—हमारा अभिप्राय बन्धुवर बेनीपुरीजीसे है। उनकी कलामें

यौवन है, भाषामें ओज है और सबसे बड़ी बात यह है कि वे खुली आँखोंसे आसपासके जगत्को देखते रहते हैं ।

बन्धुवर मोहनलाल महतो वियोगीके रेखाचित्र उच्च कोटिके हैं और चार बच्चोंके महाप्रयाणपर उन्होंने जो कुछ लिखा था, उसकी हृदय-वेधकताके विषयमें क्या कहा जाय ?

यदि कभी अवकाश मिला तो हम उपर्युक्त लेखकोंकी रचनाओंपर स्वतन्त्र निबन्ध ही लिखेंगे । दुर्भाग्यवश इस समय हमारे पास सर्वश्री रामनाथलाल सुमन, देवेन्द्र सत्यार्थी और प्रकाशचन्द्र गुप्तके ग्रन्थ विद्यमान नहीं, नहीं तो उनके विषयमें कुछ विस्तारसे लिखते। सुमनजी बड़े विस्तारपर अपने चित्र खीचते हैं और उनके रेखाचित्र 'विस्तृत अध्ययन' बन जाते हैं, पर उनका भी अपना अलग महत्त्व है । प्रकाशचन्द्रजी छोटी-छोटी चीज़ोंपर बड़े मज़ेके साथ लिखते हैं । उनके कुछ रेखाचित्र ए० जी० गार्डिनरकी याद दिला देते हैं । श्री जैनेन्द्रजीकी 'दो चिड़िया' में कई अच्छे रेखाचित्र हैं ।

अपने पुस्तकालयसे दूर बैठा हुआ जब कि यह लेख मैं लिख रहा हूँ, मुझे ख़ास तौरपर कई रेखाचित्रोंका स्मरण आ रहा है। बहन श्रीमती सत्यवतीजी मल्लिकके 'क़ैदी' नामक स्कैचने हमें चैखवकी कलाका स्मरण दिला दिया और मधुर कोमल भावनाओंके चित्रणमें हम उन्हें अद्वितीय मानते हैं ।

बन्धुवर डाक्टर हज़ारीप्रसादजी द्विवेदी अपने रेखाचित्रोंमें विद्वत्ताके साथ-साथ मधुर हास्यका पुट देनेंमें समर्थ हैं, और श्री गोयलीयजीके रेखाचित्र भाषा तथा भाव दोनोंकी दृष्टिसे काफ़ी अच्छे बन पड़े हैं ।

बन्धुवर सत्यार्थीजीका 'जन्म-भूमि' नामक रेखाचित्र निस्संदेह फर्स्ट क्लासका था और उसकी टीस अब भी हृदयको कुरेद देती है। अभी-अभी हमने उसे मँगाकर फिरसे पढ़ा और सत्यार्थीजीके कलाकार रूपको प्रणाम किया ।

और याद आ रही है प्रभाकरजीके मंजरअली सोख़्तापर लिखे रेखा-चित्रकी और मोती कुत्तेपर लिखे उनके संस्मरणकी।

स्व० बालकृष्णभट्टके सुपुत्र स्व० श्री लक्ष्मीकान्तजी भट्टने श्रद्धेय टंडनजीका जो रेखाचित्र गार्डिनरकी स्टाइलपर खींचा था, वह भी बहुत बढ़िया बन पड़ा था।

हमारे साथी लेखकोंमें श्रीयुत चन्द्रदत्तजी पाण्डे और श्री रतनलालजी बंसल अच्छे रेखा-चित्रकार हैं और हिन्दी-संसार उनसे बढ़िया ग्रंथोंकी आशा कर सकता है। पाण्डेजीका दिल्लीमें पाण्डव लोग और बंसलजीका राधारमण नामक रेखाचित्र उच्चकोटिके रहे थे।

अपने इन आराध्यों, अग्रजों, अनुजों तथा साथियोंका अभिनन्दन करनेके बाद दो बातें हम अपने रेखाचित्रोंके विषयमें भी कह देना चाहते हैं। अपने पाठकों तथा आलोचकोंसे हमारा विनम्र निवेदन है कि वे 'हमारे आराध्य', 'संस्मरण' तथा 'रेखाचित्र' इन तीनों पुस्तकोंको पढ़नेके बाद उनके विषयमें अपनी सम्मति क़ायम करें। सन् १९१२ में हमने अपना पहला रेखाचित्र मर्यादामें 'औरंगज़ेब' प्रकाशित किया था और उसे चालीस वर्षसे अधिक हो गये। इस बीचमें हमने सवा सौके क़रीब रेखाचित्र अंकित किये होंगे, जिनमें कितने ही अभी संग्रहरूपमें अप्रकाशित हैं।

मुहाविरेकी उस कूँजड़ीको हम अपना आदर्श नहीं मानते, जो अपने बेरोंको खट्टा बतानेमें संकोच करती है। अपने लिखे कितने ही रेखाचित्रोंको हम असफल प्रयत्न मानते हैं, यद्यपि उनमें कुछ साधारणतः अच्छे भी होंगे।

हम अपनी एक कमज़ोरी सार्वजनिक तौरपर स्वीकार करते हैं। भक्तिपूर्वक श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए हम अपना संतुलन खो बैठते हैं। आज हम किसी एक व्यक्तिके प्रेममें फँस जाते हैं तो कल दूसरेके। साहित्य-क्षेत्रमें स्वकीया जैसे गुणोंको धारण करना हमारे लिए सर्वथा असंभव है।

सच बात तो यह है कि हमने अपने इन रेखाचित्रोंमें अपने प्रेम-प्रपंचोंका

ही चित्रण किया है। बकौल—एमर्सन मनुष्य अपनी आत्माके विस्तृत रूपकी ही प्रशसा करता है।

नाप-तोलकर बावन तोले पाव रत्ती प्रशसा करनेका हमे अभ्यास नही और दिल खोलकर दाद देनेमे हम विश्वास रखते है। अपने खीचे रेखा-चित्रोको हमने प्राय ज्यो-का-त्यो छाप दिया है, यद्यपि उनके पात्रोके जीवनमे उल्लेख योग्य परिवर्तन हो चुके है, पर हम तो अब भी उनके पूर्व रूपके ही प्रशसक है। हमारे हृदयमे उनकी पुरानी मूर्ति ही विद्यमान है।

इधर हमारे दृष्टिकोणमे कुछ अन्तर अवश्य हुआ है। अब हम विशेषत उन्ही लोगोका चित्रण करना चाहते है, जिनका जीवन सघर्षमय है।

भावी रेखाचित्र

भावी रेखाचित्रोके विषयमे हम भगवान्के इस कथनको ही आदर्श मानते है। "दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।" वास्तवमे न्यायका भी यही तकाज़ा है कि हम सबसे पहले उनकी कद्र करे, जिनकी प्रतिभा कद्रदानीके अभावमे कुठित होती जा रही है। असाधारण मनुष्योकी महिमा गान करनेवाले बहुत मिल जायेगे।

पर कितने कलाकार ऐसे है, जो साधारण सिपाहियो, मामूली कार्यकर्ताओ, अविज्ञापित कवियो तथा सघर्षमय जीवन बितानेवाले लेखकोके विषयमे दो-चार पक्तियाँ भी लिखे? चित्रण? चित्रणके लिए मसाला गली-गली पडा हुआ है—रेखाचित्रोके पात्र हर जगह मौजूद है। कैमरेसे क्या राजा-महाराजाओके ही चित्र खीचे जा सकते है? यदि आपके हृदयमे गुणज्ञता हो, स्वभावमे रसज्ञता और मस्तिष्कमे विश्लेषण शक्ति तथा विवेक भी, तो आप एक-से-एक बढिया रेखाचित्र खीच सकते है। यदि मौलवी साहब अब्दुलहक नामदेव ढेढपर लिख सकते है, श्रीराम शर्मा चन्दा चमार या पीताम्बर कुम्हारपर, तुर्गनेव एक भिखारीको रेखाचित्रका पात्र बनाते है और नेविनसन एक कुत्तेको ही, तो क्या हम लोगोके लिए पात्रोकी कमी रहेगी?

कल्पना कीजिये हिन्दीका कोई पाठक सन् २२५२ में यह जानना चाहे कि तीन सौ वर्ष पूर्व बीसवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें यानी १९०० से १९५० तक भारतका साधारण जनसमाज कैसे अपना जीवन व्यतीत करता था, तो क्या उसे प्रामाणिक रेखाचित्र मिल सकेंगे ? जिसप्रकार कविवर बनारसीदास जैनने भारतवर्षका सर्वप्रथम आत्मचरित (अर्द्ध कथानक) लिखकर, हमारी मातृभाषाका मुख उज्ज्वल किया था, क्या उसप्रकार हम लोग बढ़िया-से-बढ़िया रेखाचित्र खींचकर अन्य प्रान्तीय भाषाओंके लिए उदाहरण उपस्थित नहीं कर सकते ?

ऐटम बमके इस युगमें भी क्या किसीको यह बतलानेकी ज़रूरत है कि क्या विज्ञान, क्या कला और क्या इतिहास और क्या साहित्य, सभीमें मापदण्डोंका परिवर्त्तन हो चुका है ? परमाणुओंकी महिमाका यह युग आ पहुँचा है और हम साहित्यिकोंका कल्याण इसीमें है कि हम अपना दृष्टिकोण युगधर्मानुकूल बना लें। अलौकिक महापुरुषोंकी यश दुन्दुभी बजानेवाले और उससे पैसा कमानेवाले बहुत पैदा हो जायेंगे। आवश्यकता है ऐसे कलाकारोंकी, जो साधारणमें असाधारणके दर्शन कर सकें, तथाकथित 'क्षुद्र' के महत्त्वको पहचान सकें और जिनकी पैनी दृष्टि जाति-वर्ग, धर्म, देश इत्यादिकी संकीर्ण सीमाओंको पारकर मानव-मात्र ही नहीं, प्राणिमात्रमें एकताका अनुभव कर सके।

भारतकी राष्ट्रभाषा और एशिया महाद्वीपकी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा ऐसे ही कलाकारोंकी प्रतीक्षा कर रही है।

१२३ नार्थ ऐवेन्यू,
नई दिल्ली
१०-९-५२

—बनारसीदास चतुर्वेदी

रेखाचित्रके लेखकका
रेखाचित्र

[श्री० रतनलाल वंसल]

[आदरणीय चतुर्वेदीजीकी— १ हमारे आराध्य २ संस्मरण ३ रेखाचित्र—तीन पुस्तकोंके प्रूफ़ पढ़ते-पढ़ते मनमें यह जिज्ञासा प्रबल होती गई कि जो व्यक्ति दूसरोंके गुण-गान गाते नहीं थकता, जो ख्याति-प्राप्त नररत्नोंके साथ-साथ गुदड़ीके लालोंको भी प्रकाशमें लाये जा रहा है। जिसके शब्द-शब्दसे श्रद्धा-विनय, दया-ममता, विश्वबन्धुता-सहृदयता टपकी पड़ती है; वह स्वयं कितना महान होगा ? क्योंकि जिसने अपने अन्तरमें तप-त्यागद्वारा दीप नहीं सँजोया है, उसको यह भव्य और दिव्य-दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती। मेरी तरह अन्य पाठक भी उनके परिचयके लिए उत्सुक एवं अधीर हो उठेंगे, अतः उनके सम्बन्धमें कुछ न दिया गया तो एक न भूलने योग्य भूल होगी। खेद है कि मुझे अभीतक उनके दर्शनोंका भी सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है, अतः स्वयं लिखनेमें असमर्थ था और स्वयं चतुर्वेदीजीसे उनका परिचय पूछना बालूरेतमेंसे तेल निकालने जैसा होता। पुस्तक बाइंडिगकी प्रतीक्षामें रुकी हुई है, ऐसी स्थितिमें किसीसे लिखाना भी सम्भव नहीं था। सौभाग्यसे उन्हींके गाँवके श्री० रतनलालजी वंसलद्वारा लिखित एक संक्षिप्त रेखाचित्र 'ज्ञानोदय'की फाइलमें मिल गया है। यद्यपि उसमें न तो उनका जीवन-परिचय ही है और न उनकी साहित्यिक-साधना एवं मानवताका ही विशेष उल्लेख है क्योंकि वह इस दृष्टिसे लिखा भी नहीं गया था। फिर भी किसी अंशमें पाठकोंकी जिज्ञासाके लिए पर्याप्त है।]

—गोयलीय

चतुर्वेदीजीका मकान मेरे मकानसे २ मिनटके रास्तेपर है। इससे पूर्व, जब मेरी आयु ३-४ वर्षकी थी, हम लोग उनके ठीक पड़ौसमें भी रहे हैं। फिर भी श्री चतुर्वेदीजीके नाम तकका परिचय मुझे पहले-पहल 'विशाल भारत'के अंकोंसे मिला, क्योंकि मेरे होश सम्हालनेसे पूर्व ही चतुर्वेदीजी फ़ीरोज़ाबाद छोड़ चुके थे और अपने परिवारसे मिलनेके लिए कभी-कभी २-४ दिनके लिए ही फ़ीरोज़ाबाद आते थे।

श्री चतुर्वेदीके प्रथम दर्शन मुझे अपने नगरके श्री भारती-भवन पुस्तकालयमें हुए थे। वे उस समय आजकी ही भांति खादीका एक मटमैला कुर्ता और अपनी पेटेण्ट क़िस्मकी लष्टम-पष्टम धोती पहिने हुए थे। वे सम्भवतः टहलकर सीधे पुस्तकालय आ गये थे, इसलिए उनके हाथमें ग्रामीणों-जैसी एक लम्बी लाठी थी। वे नगरके कुछ मित्रोंसे हँस-हँसकर बातें कर रहे थे।

उस समयतक प्रसिद्ध व्यक्तियोंमें मैंने कुछ कांग्रेसी नेताओंको देखा था, जो खादीके झकाझक कपड़े पहिनते थे और यदि कहीं आते-जाते थे, तो २-४ आदमी हमेशा उनके साथ रहते थे। यह लोग इतने गम्भीर रहते थे कि उनका हँसना तो दूर, कोई दूसरा व्यक्ति भी उनके सामने नहीं हँस सकता था। मैंने अपनी बाल-बुद्धिके अनुसार चतुर्वेदीजीके रूपकी भी यही कल्पना की थी। पर इस समय उनके मटमैले कपड़ों और मुक्त हास्यसे मुझे थोड़ी तसल्ली-सी हुई और मुझे लगा कि इनसे सम्पर्क स्थापित करना कुछ अधिक कठिन नहीं है।

इसके पश्चात् चतुर्वेदीजीसे किसने मेरा परिचय कराया, यह तो मुझे स्मरण नहीं रहा, किन्तु मुझे इतना स्मरण है कि पुस्तकालयसे सब्ज़ी-मंडीतक उनके साथ-साथ ही गया, क्योंकि चतुर्वेदीजीको साग खरीदना था। मैं उस समय भी उनकी ख्यातिसे आतंकित होकर सहम-सहमकर बात कर रहा था। शायद चतुर्वेदीजी भी यह अनुभव कर रहे थे, अतः सामनेसे आती हुई ऊँटोंकी एक लम्बी क़तारको देखकर मैं जब उनसे

पूछ बैठा कि क्या कलकत्तेमें भी ऊँटोंकी ऐसी लम्बी-लम्बी क़तारें दिखाई देती हैं, तो चतुर्वेदीजी एक हलकी मुस्कराहटके साथ बोले, "कलकत्तेमें अपने सिवा और कोई ऊँट तो हमें नज़र आया नहीं।" इसपर जब मैं हँसने लगा, तो चतुर्वेदीजीने अपने स्वरको किंचित् गम्भीर बनाकर कहा, "क्यों साहब ! हम तो समझते थे कि आप हमारी बातका विरोध करेंगे। कहेंगे, कि नहीं-नहीं चौबेजी, आप लम्बे तो हैं, फिर भी ऊँटके साथ आपकी तुलना नहीं की जा सकती, किन्तु आपकी हँसी बताती है कि आप भी इस बातसे सहमत हैं।" चतुर्वेदीजीने इसी प्रकारकी २-४ बातें और कहीं। परिणाम यह हुआ कि मेरा समस्त संकोच दूर हो गया और मैं कुछ ऐसा अनुभव करने लगा, मानो मेरा उनसे वर्षोंका परिचय है और मुझे उनसे सब कुछ निःसंकोच कहने-सुननेका अधिकार प्राप्त है।

उस दिनके पश्चात्से मैंने चतुर्वेदीजीको इसी नुस्ख़ेके द्वारा अनेक आगन्तुकोंका संकोच दूर करते देखा है, यद्यपि कभी-कभी इसका विपरीत परिणाम भी निकला है। एक सज्जन जो काफ़ी दूरसे बड़ी श्रद्धाके साथ चतुर्वेदीजीसे मिलने आये थे, चौबेजीके हँसने-हँसानेसे इतने रुष्ट हुए कि उन्होंने सैकड़ों आदमियोंसे इस बातकी शिकायत की। उनका कहना था कि चौबेजी, जिनका इतना नाम है, बहुत ही हलके आदमी हैं, चूँकि वे इतना हँसते-हँसाते हैं, इसलिए अवश्य ही उनका चरित्र भी भ्रष्ट है।

ऐसी घटनायें सुनकर ही कभी-कभी मुझे यह खयाल होता है कि हमारी सरकारको तो मुहर्रमोंको सबसे बड़ा राष्ट्रियपर्व घोषित कर देना चाहिए।

चतुर्वेदीजीके स्वभावकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे न किसीके आधीन रह सकते हैं और न किसीको अपने आधीन रख सकते हैं। 'तन, मन, धन गुसाईजीके अर्पण' सिद्धान्तके वे प्रबल विरोधी हैं। जिन दिनों वे 'विशाल भारत'के सम्पादक थे, उन दिनों अनेक विषयोंपर उनसे स्व० रामानन्द बाबूका, जो 'विशाल भारत'के मालिक थे, मतभेद हो जाया

करता था और चतुर्वेदीजी धड़ल्लेसे अपनी सम्पादकीय टिप्पणियोंमें रामानन्द बाबूके विचारोंकी आलोचना किया करते थे। इसीप्रकार टीकमगढ़में तो मैंने स्वयं देखा था कि एक ओर चतुर्वेदीजी राज्याश्रयमें रहते थे और दूसरी ओर चतुर्वेदीजीकी ही कोठीपर राज्य-सरकारकी नज़रोंमें निहायत ख़तरनाक कार्यकर्ता धड़ल्लेसे चायकी दावतें उड़ाया करते थे। राज्यके मंत्रियों आदिने कभी-कभी इस सम्बन्धमें चतुर्वेदीजीसे कहा भी, किन्तु चतुर्वेदीजीने कभी उनकी बातपर ध्यान नहीं दिया। इसमें भी विशेषता यह थी कि जिन कार्यकर्ताओंके लिए चतुर्वेदीजी राज्याधिकारियोंका विरोध सहते थे, उनसे चतुर्वेदीजीका मतैक्य नहीं था।

और यह बात तो चतुर्वेदीजीके सुपरिचितोंमें कहावतकी भाँति प्रसिद्ध है कि, यदि किसी व्यक्तिकी रेड़ मारनी है, तो उसे कुछ दिनोंके लिए चौबेजीके आधीन काम करनेको रख दीजिए। बस, कुछ ही दिनोंमें वह उन सभी गुण या अवगुणोंसे रिक्त हो जावेगा, जिनको नौकरी निभानेके लिए योग्यताकी अपेक्षा अधिक आवश्यकता पड़ती है। चतुर्वेदीजीके पास जो लोग कुछ दिन काम कर लेते हैं, वे फिर किसी दूसरी नौकरीमें बड़ी कठिनाईसे ही निभ पाते हैं।

चतुर्वेदीजी स्वतंत्रता देनेके इस सिद्धान्तका अपने घरेलू जीवनमें भी पूर्णतः प्रयोग करते हैं। आप कभी उन्हें अपने पुत्रों और भांजोंके, जो उनके पास ही रहते हैं, बीच देखिये। उन्होंने आजतक शायद ही कभी इनमेंसे किसीको भी पढ़ने, लिखने, परीक्षा देने, या कोई और काम करने न करनेके सम्बन्धमें 'उपदेश' दिया हो। उनको यदि शिकायत रही है तो यह कि थोथी डिग्रियोंके मोहमें यह लोग पढ़ाईकी अधिक और स्वास्थ्यकी चिन्ता कम करते हैं। अपने एक लड़केको एकबार उन्होंने लिखा था, "यदि इस बार भी तुम फ़र्स्ट आये, तो तुम्हारी पढ़ाई बन्द करानी पड़ेगी।" किसीके फ़र्स्ट आनेकी अपेक्षा, वह नित्यप्रति बैडमिण्टन खेलता है या नहीं, यह उनके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण बात है। चतुर्वेदीजी

बच्चोंको सिनेमा जाते देख, बजाय कुढ़नेके प्रसन्न होते हैं, यद्यपि हिन्दी-फ़िल्मोंके नीचे धरातलसे उन्हें काफ़ी शिकायत है। चतुर्वेदीजी जब अपने घरपर होते हैं, तब उनके पुत्रों आदिको अपने मित्रोंकी आवश्यकता अनुभव नहीं होती।

चतुर्वेदीजी स्फूर्ति, शक्ति और उत्साहके पुजारी हैं। वे सदैव अपनेको युवा अनुभव करना चाहते हैं और शायद इसीलिए, जो लोग आयुमें उनसे काफ़ी छोटे हैं, उनसे भी बिलकुल मित्रों-जैसा समान व्यवहार करते हैं। 'पितृ तुल्य,' 'गुरुवत्', 'वयोवृद्ध', 'पूजनीय' आदि शब्दोंसे वे शरमा जाते हैं और अपने लिए इनको निन्दात्मक मानते हैं। वे कभी किसीके संरक्षक बननेका प्रयास नहीं करते।

किसी भी प्रकारकी संकीर्णताके, चाहे वह साम्प्रदायिक हो या राष्ट्रिय, अथवा राजनैतिक सिद्धान्तोंकी हो, चतुर्वेदीजी प्रबल विरोधी हैं। कोई भी विचार, आदर्श या सिद्धान्त उनके निकट इसलिए प्रिय' या 'अप्रिय' नहीं हो सकता कि उसकी जन्मभूमि भारत है या कोई अन्य देश है। वे खुले रूपमें यह स्वीकार करते हैं कि उनकी प्रेरणाके मुख्य आधार एमर्सन, थोरो इत्यादिके ग्रन्थ रहे हैं। एक बार उनकी यह बात सुनकर राष्ट्रिय स्वयंसेवक संघके एक उत्साही कार्यकर्ता तो इतने उत्तेजित हो गये कि चतुर्वेदीजीके पुत्र श्री बुद्धिप्रकाशजीको जो शायद किसीसे एक कड़ी बात भी नहीं कह सकते, उन्हें कोठीसे बाहर कर देना पड़ा। इस सम्बन्धमें अपने विचार व्यक्त करते समय चतुर्वेदीजीको देश, काल, पात्रका भी ख़याल नहीं रहता।

साहित्यके मूक साधकों और ख्याति-विज्ञापनसे दूर रहकर चुपचाप जन-सेवा करनेवाले तपस्वी कार्यकर्ताओंके सम्बन्धमें लिखना चतुर्वेदीजीका सबसे प्रिय विषय है। वे प्रायः कहा करते हैं कि प्रसिद्धतम व्यक्तियोंपर ही लिखते रहना 'चौबोंको मिठाई खिलानेके समान' है। इसी भावनासे प्रेरित होकर उन्होंने बीसियों ऐसे व्यक्तियोंके स्कैच लिखे हैं, जिनकी

साधना, तपस्याका स्तर चाहे जितना ऊँचा रहा हो, किन्तु ख्यातिमें आनेके लटकोंसे अपरिचित या उदासीन रहनेके कारण शायद ही कभी उनपर किसीकी नज़र पड़ती ।

चतुर्वेदीजीकी एक अन्य विशेषता दुखी व्यक्तियोंके हृदयतक पहुँचनेकी उनकी शक्ति है । यह बिलकुल ही असम्भव बात है कि उनके घर जिस ग्वालेके यहाँसे दूध आता है, उसके परिवारमें कोई बीमार हो और चतुर्वेदीजीको उसकी सूचना न मिले । पीड़ितों, अभावग्रस्तों, सर्वहाराओं तथा दुखियोंसे मिलने और बातचीत करते समय चतुर्वेदीजीमें कृपालुताकी भावना नहीं होती, बल्कि एक निष्कपट आत्मीयता होती है ।

कुछ गुण तो चतुर्वेदीजीमें ऐसे हैं, जो मात्राकी अधिकताके कारण कुछ परम व्यावहारिक व्यक्तियोंको अवगुण दिखाई दे सकते हैं । उदाहरणार्थ—चतुर्वेदीजी समयकी पाबन्दीको अधिक महत्त्व नहीं देते । वे कहा करते हैं कि 'हमारे पास अनन्त समय है और हड़बड़ीमें कोई कार्य नहीं करना चाहिए ।' उनके इस आदर्शका परिणाम यह हुआ कि उनके सम्पादनमें निकलनेवाला 'मधुकर' ८-८ महीने पिछड़ा रहा । 'विशाल भारत'के सम्पादक और चतुर्वेदीजीके अनन्य मित्र श्रद्धेय पं० श्रीरामजी शर्मा तो कहा करते हैं कि चतुर्वेदीजी यदि गार्ड होते, तो एक भी ट्रेन ठीक समयपर न चलती और न जाने कितने मुसाफ़िर ट्रेन दुर्घटनाओंके शिकार होते । पर चतुर्वेदीजी रेलवेकी गार्डशिप और पत्रकी सम्पादकीको एक माननेके लिए तैयार नहीं हैं, अतः उनका विचार अब भी ज्यों-का-त्यों है । जब कभी हम फ़ीरोज़ाबाद-निवासियोंको यह सूचना मिलती है कि चतुर्वेदीजीने शीघ्र ही फ़ीरोज़ाबाद आनेको लिखा है, या अमुक तारीख़को वे फ़ीरोज़ाबादके लिए चल देंगे, तो हम विश्वास कर लेते हैं कि अगले वर्षकी इस तारीख़ तक तो चतुर्वेदीजी आ ही जायेंगे, यद्यपि कभी-कभी इसपर भी हमें निराश होना पड़ा है । हाँ, चाय पीने और एनिमा लेनेके सम्बन्धमें वे समयकी पाबन्दी आदर्श रूपमें करते हैं ।

चतुर्वेदीजीके स्वभावकी कुछ बातें तो बड़ी ही मज़ेदार हैं। उनके पास चाहे कपड़ोंके २० सैट हों, पर शायद ही उनके पास कभी दो जोड़ी उजले कपड़े मिल सकें। कहीं यात्राके समय यदि उन्हें किसी चीज़के खो जानेका सन्देह हो जाय, तो वे उसे इतनी घबड़ाहटसे खोजते हैं कि २-४ दूसरी चीज़ें खो जाती हैं। इसी प्रकार यदि कभी उनके घरमें कोई बीमार पड़ जाता है, तो उसकी परिचर्या करनी तो दूर, चतुर्वेदीजीकी परिचर्याके लिए एक और आदमीकी आवश्यकता पड़ जाती है।

चतुर्वेदीजीके पत्र, कोई भी उनसे परिचित व्यक्ति दूरसे ही पहिचान सकता है। वही मोतियों-जैसे सुन्दर अक्षर, और लाल-नीली स्याहीका रंग-बिरंगापन उनके पत्रोंके बाह्य रूपकी विशेषता है। शोक और खेदके अवसरोंको छोड़कर वे शायद ही कोई ऐसा पत्र लिखते हों, जिसमें एक-दो चटपटी पंक्तियाँ न हों। साथ ही उनके पत्रमें एक-दो योजनाएँ भी अवश्य होंगी।

बातचीतके किसी भी रसियाके लिए चतुर्वेदीजीसे बातचीत करनेका एक भी अवसर छोड़ना उसके संयमकी कठिन परीक्षा होगी। वे प्रायः अपनी ही कहते जाते हैं, फिर भी गांधीजी, गुरुदेव, एण्डूज़, श्रीनिवास शास्त्री-जैसे प्रसिद्ध व्यक्तियोंके संस्मरण, अनेक ग्रन्थोंके उद्धरण और फिर बीच-बीचमें चतुर्वेदीजीके विनोद श्रोतापक्षको ऊबने नहीं देते। इस बात-में भी नाममात्रकी सच्चाई अवश्य है कि कभी-कभी चायपानके पश्चात् चतुर्वेदीजीका प्रवचन इतना लम्बा हो जाता है, कि उसके शिकंजेमें फँसे हुए व्यक्तिकी स्थिति बड़ी दयनीय हो जाती है।

चतुर्वेदीजीकी विनोदवृत्ति उनकी सहिष्णुता और सजीवताका रहस्य है। 'प्रसन्न रहो और प्रसन्न रक्खो'का आदर्शवाक्य जैसे चौबीसों घंटे उनकी आँखोंके सामने रहता है। उनके परिहासमें एक विशेषता यह रहती है कि प्रायः अपने परिहासका लक्ष्य वे स्वयं अपनेको बनाते हैं। मसलन्, एक रात्रिको १०-११ बजेके लगभग चतुर्वेदीजीको मैंने उनके

घरकी ओर जाते देखा तो मैंने सहज भावसे पूछा, "क्यों दादाजी ! इतनी रातको आप कहाँसे आ रहे हैं ?"

उत्तर मिला, "हमें ऐसी बातें पसन्द नहीं। किसी विधुर आदमीसे यह पूछना कि रात्रिके समय वह कहाँसे आ रहा है, भला कोई शिष्टताकी बात है ?" यह बात सुनकर भला किसे हँसी नहीं आयगी।

चतुर्वेदीजी यूँ ही हँसते-बोलते अपने चारों ओर एक सजीव वातावरण बनाये रहते हैं। किसीके प्रति द्वेष-भावना रखकर द्वेषाग्निमें सुलगते रहना वे सबसे बड़ी मूर्खता मानते हैं और यदि किसीसे उनका झगड़ा हो भी जाता है, तो क्षमा-याचनाका एक कार्ड लिखकर उसकी ओरसे उदासीनता ग्रहण कर लेते हैं। वे कभी किसी दूसरेके जज नहीं बनते और किसी मनुष्यकी हज़ार भूलें और लाख अपराध भी चतुर्वेदीजीकी सहानुभूति से उसे वंचित नहीं कर सकते।

चतुर्वेदीजीका दम सैकड़ों-हज़ारों व्यक्तियोंके लिए एक बड़ी न्यामत है, इसमें सन्देह नहीं।

आचार्य द्विवेदीजी

सन्

होशियारपुर—भारतीय स्वाधीनता संग्रामका प्रारम्भ हो चुका है और उस भयंकर विद्रोहाग्निकी एक चिनगारी यहाँ तक आ पहुँची है ! देखते-देखते उसने होशियारपुर-स्थित हिन्दुस्तानी पल्टनको प्रज्वलित कर दिया, पर ईस्टइंडिया कम्पनीके गोरे सिपाही बहुत सावधान निकले। उन्होंने निर्दयतापूर्वक उक्त पलटनके अधिकांश सैनिकोंको जहाँ-का-तहाँ भून डाला ! उस हृदयवेधक दुर्घटनामें कितने भारतीय जवान् मारे गये, इसका ठीक-ठीक पता नहीं, पर कुछ व्यक्ति भाग भी निकले !

देखिये वह एक सिपाही सतलजमें कूद रहा है ! तोपका भोजन बननेकी अपेक्षा उसने सतलज माताकी वेगवती धारामें जल-समाधि लेना ही उचित समझा। पर "जाको राखे साइयाँ, मारि न सकिहैं कोइ।" वह सिपाही, जिसे फ़ौजमें सब संगी-साथी 'लछिमनजी'के नामसे पुकारते थे, एक या दो दिन बाद बेहोशीकी हालतमें सैकड़ों कोस दूर आगेकी तरफ़ किनारे लगा। लछिमनजी होश आनेपर सँभले और हरी-हरी मोटी घासके तिनके चूस-चूसकर कुछ शक्ति सम्पादन की और माँगते-खाते साधु-वेशमें कई महीने बाद वे अपने ग्राम दौलतपुरमें पहुँचे !

सन् १८६४

आज पंडित रामसहाय द्विवेदी (लछिमनजी) के घरमें पुत्र-जन्मोत्सव मनाया जा रहा है। लड़केका नाम रक्खा गया है महावीरप्रसाद ! सतलज माताके हम हृदयसे कृतज्ञ और ऋणी हैं कि उन्होंने अपने वक्षस्थल-पर लछिमनजीको बीसियों घंटे धारण कर अपने तटपर ज्यों-का-त्यों सजीव रख दिया ! और घासके तिनकोंसे अपना जीवन बचानेवाले

उस विद्रोही सैनिकके स्वाभिमानी सुपुत्रने मातृभाषा हिन्दीके भण्डारकी जो वृद्धि की, उससे हिन्दी-जगत् पूर्णतया परिचित है। यदि लछिमनजी उस दिन तोपसे भुन गये होते, अथवा सतलजमें जलमग्न, तो 'द्विवेदी युग'-के बजाय कोई अन्य युग ही प्रारम्भ हुआ होता !

संघर्षमय जीवन

यदि एक शब्दमें द्विवेदीजीके जीवन-चरितका वर्णन किया जाय तो वह है 'संघर्ष'। द्विवेदीजीसे अधिक प्रतिभाशाली लेखक हिन्दी साहित्य संसारमें शायद कई हुए हैं और भविष्यमें भी होंगे, पर उनकी कोटिका संघर्षशील व्यक्तित्व दुर्लभ ही है।

अब द्विवेदीजीके ही कुछ शब्द सुन लीजिये--

"मैं एक ऐसे देहातीका एकमात्र आत्मज हूँ, जिसका मासिक वेतन सिर्फ़ १० रुपया था। अपने गाँवके देहाती मदरसेमें थोड़ी-सी उर्दू और घरपर थोड़ी-सी संस्कृत पढ़कर १३ वर्षकी उम्रमें मैं ३६ मील दूर राय-बरेलीके ज़िला स्कूलमें अंग्रेज़ी पढ़ने गया। आटा, दाल घरसे पीठपर लादकर ले जाता था। दो आने महीने फ़ीस देता था। दाल हीमें आटेके पेड़े या टिकियाएँ पका करके पेट-पूजा करता था। रोटी बनाना तब मुझे आता ही न था। संस्कृत-भाषा उस समय उस स्कूलमें वैसी ही अछूत समझी गई थी, जैसे कि मद्रासके नम्बूदरी ब्राह्मणोंमें वहाँकी शूद्र जाति समझी जाती है। विवश होकर अंग्रेज़ीके साथ फ़ारसी पढ़ता था। एक वर्ष किसी तरह वहाँ काटा। फिर पुरवा, फ़तेहपुर और उन्नावके स्कूलोंमें चार वर्ष काटे। कौटुम्बिक दुरवस्थाके कारण मैं उससे आगे न बढ़ सका। मेरी स्कूली शिक्षा वहीं समाप्त हो गई।

एक साल अजमेरमें १५ रुपया महीनेपर नौकरी करके पिताके पास बम्बई पहुँचा और तारका काम सीखकर जी० आई० पी० रेलवेमें २० रुपये महीनेपर तारबाबू बना।"

युगान्तरकारी निर्णय

लार्ड कर्ज़नके दिल्ली दरबारका ज़माना था। झाँसीमें द्विवेदीजी काम करते थे। डिस्ट्रिक्ट ट्रैफ़िक सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब अपनी रातें मौजके साथ या तो क्लबमें अथवा अपने बँगलेपर बिताते थे। द्विवेदीजी दिनभर तो दफ़्तरका काम करते और रातभर अपनी कुटियामें पड़े हुए उनके नाम आये हुए तार लेते और उनके जवाब देते थे! ये तार उन स्पेशल रेल-गाड़ियोंके विषयमें होते थे, जो दक्षिणसे देहलीकी ओर दौड़ा करती थीं। महीनों तक द्विवेदीजीको यह अत्याचार सहना पड़ा।

पूज्य द्विवेदीजीने लिखा था—

"मैं यदि किसीके अत्याचारको सह लूँ, तो उससे मेरी सहनशीलता तो अवश्य सूचित होती है, पर उससे मुझे औरोंपर अत्याचार करनेका अधिकार नहीं हो जाता है, परन्तु कुछ समयोत्तर बानक कुछ ऐसा बना कि मेरे प्रभुने मेरे द्वारा औरोंपर भी अत्याचार कराना चाहा। हुक्म हुआ कि इतने कर्मचारियोंको लेकर रोज़ सुबह ८ बजे दफ़्तरमें आया करो और ठीक दस बजे मेरे काग़ज़ मेरे मेज़पर मुझे रक्खे मिलें। मैंने कहा मैं आऊँगा पर औरोंको आनेके लिए लाचार न करूँगा, उन्हें हुक्म देना हुज़ूरका काम है। बस बात बढ़ी और बिना किसी सोच-विचारके मैंने इस्तीफ़ा दे दिया। बादको उसे वापस लेनेके लिए इशारे ही नहीं, सिफ़ारिशें तक की गईं। पर सब व्यर्थ हुआ। क्या इस्तीफ़ा वापस लेना चाहिए? यह पूछनेपर मेरी पत्नीने विषण्ण होकर कहा, "क्या थूककर भी उसे कोई चाटता है"? मैं बोला "नहीं, ऐसा कभी नहीं होगा, तुम धन्य हो।" तब उसने ८ आना रोज़ तककी आमदनीसे भी मुझे खिलाने-पिलाने और गृह-कार्य चलानेका दृढ़ संकल्प किया, सरस्वतीकी सेवासे मुझे हर महीने जो २० रुपया उजरत और तीन

किया। मैंने सोचा किसी समय तो मुझे महीनेमें १५ रुपये ही मिलते थे, २३ रुपये तो उसके डचोढ़ेसे भी अधिक हैं। इतनी आमदनी मुझ देहातीके लिए कम नहीं।"

द्विवेदीजीको उस समय २०० रुपये महीने मिलते थे---वेतन १५० और भत्ता पचास रुपये। जिस दिन दोसौकी नौकरीको लात मारकर २३ रुपयेकी नौकरी स्वीकार करनेका निश्चय द्विवेदीजीने किया, वह वास्तवमें हिन्दी-साहित्यके लिए एक युगान्तरकारी दिन था, और इस निर्णयके लिए वस्तुतः हम उनकी धर्मपत्नीके ऋणी और कृतज्ञ हैं, जिनकी अनुपम दृढ़ताके कारण ही द्विवेदीजी यह सत्साहस कर सके।

अद्भुत परिश्रमशीलता

ऐसे-ऐसे महानुभाव हिन्दी-जगत्में विद्यमान हैं, जो यह कहते थे कि द्विवेदीजी प्रतिभाशाली नहीं थे! अँग्रेज़ीमें एक कहावत है कि प्रतिभाके माने होते हैं नब्बे फ़ीसदी परिश्रमशीलता और दस फ़ीसदी स्वाभाविक स्फूर्ति, और कोई-कोई तो असाधारण रूपसे परिश्रम करनेकी शक्तिको ही 'प्रतिभा' कहते हैं। दोनों ही अर्थोंमें द्विवेदीजी प्रतिभाशाली थे। यदि किसीको यह माननेमें इन्कार हो तो फिर हम यहाँ तक कह सकते हैं कि द्विवेदीजी प्रतिभाशालियोंके पिता और पितामह थे! यदि हिन्दी-जगत्में कोई भी प्रतिभाशाली लेखक या कवि आज विद्यमान है तो वह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष-रूपसे द्विवेदीजीका ऋणी है। यही नहीं, आगे आनेवाली पीढ़ी भी उनके ऋणसे मुक्त नहीं मानी जा सकती।

द्विवेदीजी सरस्वतीके छै महीने आगे तकके अंकों तक का मसाला अपने पास इकट्ठा रखते थे, ताकि पत्रिका वक़्तपर निकल सके। परिश्रम-शीलतामें पत्रकार-जगत्में केवल एक ही व्यक्ति उनका मुक़ाबला कर सकते थे, यानी स्वर्गीय रामानन्द चट्टोपाध्याय। निस्सन्देह दोनों ही घोर परिश्रमी थे।

द्विवेदीजीका व्यवस्था-प्रेम

तीन बार हमें द्विवेदीजीके निवासस्थान दौलतपुरकी तीर्थ-यात्रा करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था और जो समय द्विवेदी जीकी सेवामें बीता, उसे हम अपने क्षुद्र जीवनकी सर्वोत्तम घड़ियोंमें शुमार करते हैं। श्री यज्ञदत्तजी शुक्लने द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थमें द्विवेदीजीकी नियम-बद्धता पर अच्छा प्रकाश डाला था। उन्होंने लिखा था--

"उनको (द्विवेदीजीको) केवल आम खानेका ही शौक़ नहीं है, बल्कि लगानेका भी है! उनके लगाये हुए क़रीब पचास-साठ पेड़ हैं। आमके पौधोंके सिंचन, सेवन और उनकी वृद्धि व रक्षाका वे विशेष ध्यान रखते हैं। प्रतिदिन सायंकाल वे जब अपने बाग़ोंमें घूमने जाते हैं, तब उनका भली-भाँति निरीक्षण करते है। यही नहीं, वे निरीक्षणद्वारा इसका भी अनुमान कर लेते है कि किस वृक्षमें कितने फल लगे हुए हैं। इसी प्रकार वे अपने खेतोंका भी खूब निरीक्षण करते हैं। शामको टहलते हुए वे प्रत्येक खेतमें यह देखते हैं कि उसे सींचनेकी आवश्यकता है या नहीं, या उसमें कोई कीड़ा तो नहीं लग गया है। प्रति दिन खेतोंमें जाकर वे यह देखते हैं कि मजदूर भली-भाँति काम कर रहे हैं या नहीं।"

द्विवेदीजीकी मितव्ययिता तो आदर्श थी। एक बार उन्होंने मुझे ख़ासी डाट बतलाई। जब द्विवेदीजीको मेरी फ़िज़ूलख़र्चीका पता लगा तो उन्होंने कहा--"मैं तो अपने तेईस रुपये मासिक वेतनमेंसे चार रुपये प्रति मास बचा लेता था और जनाब आप पौने दो सौ रुपयेमेंसे भी एक पैसा नहीं बचा पाते! आखिर हमें बतलाइये तो आप किस चीज़में ये पैसे उड़ा देते हैं।" बड़ी लज्जापूर्वक हमें अपनी अव्यवस्था स्वीकार करनी पड़ी। हमारे इस प्रमादसे द्विवेदीजी बहुत असन्तुष्ट हुए। इस विषयमें द्विवेदीजीका मूल मन्त्र था यह श्लोक--

"इदमेव हि पाण्डित्यमियमेव विदग्धता ।
अयमेव परो धर्मो यदायान्नाधिको व्ययः ॥"

अर्थात्––'आमदनीसे ज्यादः ख़र्च न करनेमें ही पण्डिताई, चतुराई और धर्मात्मापन है'।

द्विवेदीजीकी उदारता

द्विवेदीजी हिसाब-किताब रखनेमें इतने नियमवद्ध थे कि कोई भी व्यक्ति उनसे पूछ सकता था कि पिछले बीस वर्षमें किस दिन उन्होंने कितना पैसा पोस्टेज अथवा साग-तरकारी इत्यादि पर व्यय किया! दैनिक व्ययका वे पैसे-पैसेका हिसाब रखते थे। पर यदि इससे कोई यह अनुमान लगावे कि द्विवेदीजी कंजूस थे, तो यह उसकी महान् भूल होगी। द्विवेदीजी अत्यन्त उदार थे। उन्होंने अपने कठिन परिश्रमकी अधिकांश कमाई हिन्दू-विश्व-विद्यालयको छात्र-वृत्तियोंके लिए अर्पित कर दी थी।

अपने एक प्राइवेट पत्रमें (जो द्विवेदीजीने मुझे २२।१०।२८ को भेजा था) उन्होंने लिखा था––

"१७ वर्षकी उम्रमें मैंने रेलवेमें मुलाज़िमत शुरू की सिर्फ़ १५ रुपया मासिक पर। २१ वर्ष बाद जब छोड़ी तब सिर्फ़ १५० रुपया और परसनल एलाउएंस ५० रुपया, कुल २०० रुपये मिलते थे। १८ वर्षतक 'सरस्वतीका' काम किया। छोड़नेके वक़्त सिर्फ़ १५० रुपये मिलते थे। तबसे सिर्फ़ ५० रुपया मासिक पेंशन। कभी एक पैसा भी किसीसे हरामका नहीं लिया। मेरी रहन-सहन घर-द्वार सब आपका देखा हुआ है। कानपुरका कुटीर भी आप देख चुके हैं। इस तरह रह कर जो कुछ बचाया, वह सब प्रायः ख़ैरात कर दिया। यथा––कई लड़कोंको अपने ख़र्चसे पढ़ा दिया। उनमेंसे कुछ एम० ए०, बी० ए० भी हैं। रिश्तेमें अपनी तीन भानजियोंकी शादियाँ और गौने किये। गैरोंकी भी दो लड़कियाँ ब्याहीं। गाँवमें कई ग़रीब घरोंकी लड़कियोंकी शादियोंमें मदद

दी। कई विधवाओंका पालन किया। दो एक अब भी वृत्तियाँ पाती हैं। पिताकी इच्छाएँ पूर्ण कीं, गया-श्राद्ध, ब्राह्मण-भोजन, दान-पुण्य, मकान और कूप आदि निर्माणके रूपमें। गत वर्ष मेरे कुटुम्बकी अन्तिम स्त्री मरी, तब मैंने अन्त्येष्टि कर्म करनेके सिवा १,००० रुपये दीन-दुखियोंको बाँट दिया। कानपुरका पुस्तक संग्रह ना० प्र० सभाको पहले ही दे चुका था। एक गाड़ी पुस्तकें छै महीने हुए यहाँसे उसे और भेजीं। दो गाड़ियाँ अभी और भेजनी हैं। १००० रुपया इस सभाको अभी-अभी जो दिये हैं, सो आप जानते ही हैं। अब भी लोकोक्तिकार*के अनुमितसे लाख-डेढ लाख या करोड़-दो करोड़ जो बच रहे हैं, वे प्रायः सबके सब हिन्दू-विश्व-विद्यालयको देनेवाला हूँ। पत्र-व्यवहार कर रहा हूँ।"

यहाँपर यह लिख देना उचित होगा कि पूज्य द्विवेदीजीने ६,४०० रुपये हिन्दू विश्व-विद्यालयको छात्रवृत्तियोंके लिये दिये थे। द्विवेदीजीने अपने पत्रके अन्तमें लिखा था:—

"यह सब मैंने लिख तो दिया, पर डर है कि मेरे मरनेपर कहीं आप ये बातें छपवाने न दौड़ पड़ें! मैं इसकी ज़रूरत नहीं समझता। लाख-दो-लाखका स्वप्न देखनेवालोंका स्वप्न मैं भंग नहीं करना चाहता।"

पूज्य द्विवेदीजीसे मैंने प्रार्थना की थी कि वे अपना जीवन-चरित्र स्वयं ही लिख दें। उनका आत्मचरित हिन्दी-जगत्के लिए एक अद्भुत ग्रन्थ होता, पर जिन दिनों उनके पास मेरा यह आग्रहपूर्ण निवेदन पहुँचा

***एक बार लोकोक्ति-कोषके लेखक श्रीदामोदरदासजीने 'विशाल भारत' आफ़िसमें पधारकर हमसे यह कहा था कि द्विवेदीजीके पास तो कई लाख रुपये हैं! मैंने यह बात अपनी एक प्राइवेट चिट्ठीमें द्विवेदीजीकी सेवामें निवेदन कर दी थी। उसीसे उद्विग्न होकर द्विवेदीजीको विस्तार पूर्वक ये बातें लिखनी पड़ीं।**

था, उनका स्वास्थ्य बहुत ख़राब हो चुका था। द्विवेदीजीने अपने पत्रमें लिखा था—

"हिन्दी-लेखकोंकी दशा अच्छी नहीं। प्रकाशक उनसे भी बदतर हैं। रद्दी कहानियाँ ये लोग दौड़-दौड़ छापते हैं। मेरे फुटकर लेखोंकी कोई ३२ पुस्तकें हुईं। बाबू शिवप्रसादजी गुप्तने सबकी नक़ल करा दी। उनमेंसे कोई दस पुस्तकें पड़ी हुई हैं। कोई पूछता ही नहीं! ऐसे लोगोंके लिए आत्मचरित लिखकर बेचनेकी इच्छा नहीं होती। हो भी तो लिखनेकी शक्ति नहीं।"

हमने इस लेखके प्रारम्भमें द्विवेदीजी तथा रामानन्द बाबूका नाम साथ-साथ लिया है। दोनों ही ऋषि-तुल्य थे, दोनों ही सम्पादकाचार्य और दोनोंका ही घनिष्ट सम्बन्ध स्वर्गीय चिन्तामणि घोषसे रहा था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'सरस्वती' के प्रकाशनका परामर्श रामानन्द बाबूने ही घोष बाबूको दिया था। महापुरुषोंकी तुलना करना अनुचित है। स्व० रामानन्द बाबूका ज्ञान काफ़ी अधिक विस्तृत था, उन्हें अंग्रेज़ी पत्र 'माडर्न रिव्यू' द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कीर्ति मिली थी और उनकी साधना भी किसी हालतमें द्विवेदी जीसे कम नहीं थी। पर एक बात हमें कहनी पड़ेगी, वह यह कि द्विवेदीजीने महान् कठिनाइयोंके बीच अपने पथका निर्माण किया और हिन्दीके लिए द्विवेदीजीने जितना महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उतना महत्त्वपूर्ण कार्य शायद बड़े बाबू (स्व० रामानन्द चट्टोपाध्याय) ने बँगलाके लिए न किया होगा। द्विवेदीजी तो हिन्दीमें युग-प्रवर्तक माने जाते हैं।

स्वर्गीय बड़े बाबूकी विस्तृत जीवनी उनकी सुपुत्रीने लिख दी है। अपने कार्यको अग्रसर करनेके लिए वे श्री केदारनाथ चटर्जी तथा श्री अशोक चटर्जी और दो सुशिक्षित कन्याएँ तथा उनका विस्तृत कुटुम्ब छोड़ गये हैं। इस विषयमें द्विवेदीजी सौभाग्यशाली नहीं हुए। वे निस्सन्तान थे और हम लोग (वर्तमान हिन्दी लेखक और कवि) जो वस्तुतः उनके

मानस-सन्तान हैं, उनके ऋणको चुकानेके लिए कुछ भी चिन्तित नहीं ! हिन्दीमें उनके एक भी विस्तृत जीवनचरित न होना हमारे प्रमाद और शायद कृतघ्नताका भी सूचक है। इस बारेमें सबसे जघन्य अपराध हम अपना ही मानते हैं, क्योंकि श्रद्धेय गणेशजीसे प्रेरणा, प्रोत्साहन तथा पूर्ण सहायताके वचन मिलनेपर भी अपने प्रमादके कारण हम इस यज्ञको न कर सके। हाँ, पं० देवीदत्त शुक्लने 'बालद्विवेदी' नामक एक ६४ पृष्ठकी पुस्तिका अवश्य लिख दी थी और वह इंडियन प्रेस, प्रयाग-से मिल सकती है।

द्विवेदीजीका उत्कट हिन्दी-प्रेम

एक बार किसी सज्जनने द्विवेदीजीको अँग्रेज़ीमें पत्र भेज दिया। उसके उत्तरमें द्विवेदीजीने लिखा था:—

"That two persons being closely related to each other, and being natives of the same province, and seeking the same mother tongue should correspond in a language of an island six thousaud miles away is a spectacle for gods to see ! Such an unnatural scene is possible only in a wretched country like India."

अर्थात्—"एक दूसरेके निकट सम्बन्धी और एक ही प्रान्तके निवासी तथा एक ही मातृभाषाके बोलनेवाले दो व्यक्ति छै हज़ार मील दूरस्थित द्वीपकी विदेशी भाषामें पत्र-व्यवहार करें, यह दृश्य देवताओंके लिए दर्शनीय है ! इस प्रकारका अस्वाभाविक नजारा हिन्दुस्तान-जैसे नालायक़ मुल्कमें ही देखा जा सकता है !"

एक बार मैंने महाबोधि सोसाइटीके मुख्यपत्र 'महाबोधि' के एक विशेषाङ्ककी, जो स्वर्गीय धर्मपालजीकी स्मृतिमें निकाला गया था, प्रति द्विवेदीजीको भेजते समय अँग्रेज़ीमें दो-शब्द "Complimentary

Copy" (भेंट स्वरूप) लिख दिये थे । उस पर द्विवेदीजीने ऐसी मधुर डाट लाई कि उसकी मुझे अभी तक याद है । उन्होंने अँग्रेज़ीमें पत्र क्यों लिखा सुन लीजिये—

My dear Chaturvediji'

Many thanks for the "Complimentary Copy" of the Mahabodhi so kindly sent by you. Will you please convey to the General Secretary of the Mahabodhi Society my sincere thanks for forwarding me with a copy of this journal, issued in memory of the Rvd. Deva Mitta ?

Buddhism was born in this very country and we Hindus recognised its founder as the 9th incarnation of the Almighty God. But we had almost totally forgotten the great teacher and his ennobling teaching. It is entirely due to the lifelong efforts of the Great departed soul that we have now began to know something of the soul, elevating doctrines of Buddhism.

About 40 years ago, I had occasion to read an English version of Quran. It gave me little consolation. I then ordered certain books on Buddhism (1) ललित विस्तर (2) बुद्ध चरित (3) सौन्दरनन्द (4) Light of Asia, and (5) Beal's Buddhist's Records. These books gave me a very good idea of Buddhism and its founder. Of all of them, the Sanskrit books (2) and (3) gave me indescribable pleasure.

Although they are not with me now, some portion thereof made so vivid an impression upon my mind that I can repeat them by heart even at this distance of time. When about to renounce the world, Goutam's mental struggle has been described in (2) as follows :—

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष ।
सोऽनिश्चियान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः ॥

according to Buddhism NIRVANA has been defined in the following verses in (3)

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात्
केवलमेति शान्तिम् ॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचिद् क्लेशक्षयात् केवलमेति
शान्तिम् ॥

These books are the work of ASHVA-GHOSH. This great poet and master teacher flourished even before KALIDAS. He was a renowned preacher of Buddhism. He left behind him several valuable works on Buddhism. Some of them, though lost for ever in India, have been rendered in Chinese and Japanese and are found in those countries.

If you will read—nay study—the above two Sanskrit books carefully, I am sure you will be as much benefited as I havē been.

Your two words "Complimentary Copy" in English on the cover of the Mahabodhi journal have prompted me to scribble these lines in that foreign language of which I have so scanty knowledge and trust you will forgive me for doing so.

Thanking you and the Mahabodhi Society again for the present of the memorial issue of the journal.

I remain
Yours sincerely
MAHAVIRPRASAD DVIVEDI

द्विवेदीजीकी मनुष्यता

हिन्दी-जगत्में अनेकों विद्वान् हुए हैं और होंगे। कवि तो द्विवेदीजीसे कहीं बढ़कर उस समय भी विद्यमान थे और अब भी हैं। हमारी मातृभाषाको राष्ट्रभाषा होनेका गौरव प्राप्त हो चुका है और अभी अनेक युग उसके भविष्यमें आनेवाले हैं, इसलिए द्विवेदीजीके समकक्ष युग-प्रवर्तक उत्पन्न करनेका सौभाग्य भी हिन्दी संसारको प्राप्त होगा और जहाँ तक पत्र-सम्पादनका प्रश्न है, उसकी उज्ज्वल सम्भावनाओंका एक उदाहरण द्विवेदीजीके ही एक शिष्य श्रद्धेय गणेशजीने उनके सामने ही उपस्थित कर दिया था। पर द्विवेदीजीकी तरहका कर्तव्यशील तथा संयमी मनुष्य जो अपनेपर क़ाबू पानेके लिए इस प्रकार निरन्तर जागरूक रहे और जो अपने मार्गकी बाधाओंको असाधारण परिश्रम द्वारा दूर करनेमें इतना संलग्न हो, शताब्दीमें एकाध ही उत्पन्न हो सकता है।

निस्सन्देह द्विवेदीजी महापुरुष ही नहीं, महामानव भी थे।

जनवरी १९५०]

श्री देवमित्र धर्मपाल

"Let me die soon, let me be reborn. I can no longer prolong my agony. I would like to be born again twenty-five times for the spread of Lord Buddha's Dharma."—धर्मपाल।

अभी उस दिन जब मैंने महाबोधि-सोसाइटीको फोन किया और वहाँके पुस्तकाध्यक्ष विमलानन्दजीसे पूछा—"श्री धर्मपालजीकी तबीयत कैसी है ? क्या आप उनसे बातचीतके लिए समय निश्चित कर सकते हैं ?" उत्तर मिला—"तबीयत पहलेसे तो कुछ अच्छी है, लेकिन डाक्टरने उन्हें अधिक बातचीत करनेकी मनाही कर दी है। फिर भी आपके लिए वे आध घंटा देनेको तैयार हैं। कल आइये।"

निश्चित समयपर पहुँचा। विमलानन्दजीने कहा—"देखिये, आध घंटेसे अधिक समय न लीजिए।"

मैंने कहा—"ठीक"

बातचीत प्रारम्भ हुई, और उसे समाप्त होते-होते डेढ़ घंटा लग गया। धर्मपालजी इस समय ६८ वर्षके हैं, दमेके द्वारा उनके फेफड़े ख़राब हो चुके हैं और शरीर जर्जरित हो चुका है। उनके लिए चलना-फिरना अत्यन्त कठिन है, और खाटपर पड़े रहना ही उनका एकमात्र कार्यक्रम रह गया है, पर उन्हें एक ही चिन्ता है—एक ही धुन है, वह यह कि किसी प्रकार भगवान् गौतमबुद्धकी जन्मभूमिमें बौद्धधर्मका प्रचार हो। शारीरिक कष्टोंसे वे अत्यन्त तंग आ गये हैं, फिर भी उनका उत्साह ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। बातचीतमें उन्होंने कहा—"छै-सात वर्ष तक गवर्मेण्टने मुझे इसी जगह पर नज़रबन्द रखा। कहीं आ-जा नहीं सका। जब मैं

सीलोन गवर्मेण्टसे पूछता कि मेरा अपराध क्या है ? तो वह जवाब देती, भारत-सरकारसे पूछो, और भारत-सरकारसे पूछता , तो वह कहती कि सीलोन-गवर्मेण्टसे पूछो ! एक ही जगह रहनेके कारण मेरा स्वास्थ्य ख़राब हो गया । पहले यात्राओंमे भी मुझे काफ़ी कष्ट सहन करने पड़े थे । खाने-पीनेका प्रबन्ध ठीक नही था, मेदा खराब हो चुका था। उसके ऊपर गवर्मेण्टकी यह कृपा हुई, इसने मेरी बची-खुची तन्दुरुस्ती ख़त्म कर दी । अब तो मै मरना चाहता हूँ, और फिर जन्म धारण करूँगा। वर्तमान कष्टोंको बढ़ाना नही चाहता । भगवान् बुद्ध धर्मके प्रचारार्थ मै पचीस बार जन्म ग्रहण करूँगा ।''

जिस समय धर्मपालजीने कहा--''बौद्धधर्मके प्रचारार्थ मै पचीस बार जन्म ग्रहण करूँगा,'' मैने उनके चेहरेकी ओर देखा । सिर मुड़ा हुआ है । मुखपर झुर्रियाँ पड़ी हुई है, जो वर्षोंकी बीमारीकी गवाही दे रही हैं, पर आँखोंमें वही पुरानी ज्योति झलक जाती है और मनमें वही पुराना उत्साह है, जो सन् १८९३ में था, जब कि आप शिकागोके सर्वधर्म सम्मेलन (Parliament of religions) में निमन्त्रित होकर अमेरिका गये थे। इस प्रसंगमें पाठकोंको यह बतला देना आवश्यक है कि स्वामी विवेकानन्दका वह महत्त्वपूर्ण भाषण, जिसके कारण देश-देशान्तरोंमें उनकी इतनी ख्याति हुई, इसी सम्मेलनमें हुआ था । इस सम्मेलनके अधिकारियोंने भारतसे केवल दो व्यक्तियोंको निमन्त्रित किया था; एक तो सुप्रसिद्ध ब्राह्मसमाजी प्रचारक श्री० पी० सी० मजूमदार और दूसरे श्री अनागारिक धर्मपाल । स्वामी विवेकानन्द अपने व्ययसे स्वयं ही गये थे । आज इस घटनाको ३९ वर्ष व्यतीत हो गये; इस बीचमें दुनिया कहाँकी कहाँ चली गई, पर धर्मपालजीने अपनी धुन नहीं छोड़ी ।

धर्मपालजीके विचारोंसे भले ही कोई सहमत न हो,--हम भी अनेक अंशोंमें उनसे सहमत नहीं हैं,--उनकी प्रचार-पद्धतिमें चाहे किसीको कुछ त्रुटियाँ दीख पड़ें और उनकी धार्मिक कट्टरता आजकलके ज़मानेमें

भले ही किसीको अनुदारतापूर्ण तथा अनुपयुक्त जँचे, पर इन कमज़ोरियोंके होते हुए भी धर्मपालजीमें एक गुण है, वह है उनकी असाधारण लगन, और वह अत्यन्त चित्ताकर्षक है। हमारे यहाँ ऐसे आदमी बहुत कम पाये जाते हैं, जो अपने जीवनको ख़तरेमें डालकर गहरे पानीमें घुसते हैं, और जो 'चाहे कुछ हो जाय, हमें तो यह काम करना ही है', यह निश्चय करके आगे बढ़ते ही चले जाते हैं। धर्मपालजी उन अल्पसंख्यक आदमियोंमेंसे हैं, जो अपने लक्ष्यमें विश्वास रखते हैं, जो अपने जीवनपर प्रयोग करते हैं और जो अपनी कल्पनाओंको मूर्तमान देखनेके लिए जी-जानसे प्रयत्न करते हैं। निस्सन्देह धर्मपालजी स्वप्न देखा करते हैं। आठ सौ वर्षसे नष्टप्राय बौद्धधर्मको भारतमें पुनर्जीवित करनेका प्रयत्न एक प्रकारसे स्वप्न देखना ही है, पर इसके साथ यह भी सच है कि संसारमें जो कुछ काम हुआ है, उसे स्वप्नदर्शी आदमियोंने ही किया है। 'Without vision a nation perishes'—'जिस जातिमें स्वप्नदर्शी नहीं, वह नष्ट हो जाती है।' धर्मपालजीने आजसे ४० वर्ष पहले सारनाथके खंडहरोंमें, जहाँ पहले सुअर चरा करते थे, एक स्वप्न देखा था। आज वह स्वप्न मूलगन्धकुटी-विहारके मनोहर रूपमें विद्यमान है। उनके स्वप्नने जंगलमें मंगल कर दिया है। कौन कह सकता है कि भविष्यमें उनका भारतमें बौद्धधर्म-प्रचार सम्बन्धी स्वप्न भी सत्य न होगा? स्वप्नदर्शियोंके विषयमें भविष्यद्वाणी करना ख़तरनाक है, और ख़ासतौरसे किसी ऐसे आदमीके विषयमें, जो अपने कार्यको समाप्त करनेके लिए पचीस बार जन्म धारण करनेका निश्चय कर चुका है! आइये, हम धर्मपालजीको ज़रा नज़दीकसे देखें।

धर्मपालजीका जन्म १७ सितम्बर सन् १८६४ में सीलोनकी राजधानी कोलम्बोमें हुआ था। उनके पिता एक धनाढ्य ज़मींदार तथा व्यापारी थे, और वहाँके बौद्ध समाजमें उनका अच्छा सम्मान था। धर्मपालजीका वंश विद्या-प्रेमके लिए विख्यात था। सन् १८७३ में उन्हींके

घरवालोंने 'पाली-विद्योदय-कालेज' की स्थापना की थी। धर्मपालजी स्कूलमें पढ़नेके लिए बिठला दिये गये, और सन् १८८० में मैट्रिककी परीक्षा देनेवाले थे। उन्हीं दिनों एक घटना घटी, जिसने धर्मपालजीके समस्त जीवनको ही पलट दिया। थियोसोफिस्ट सोसाइटीकी जन्मदात्री श्रीमती एच० पी० ब्लैवेड्स्की सीलोन पहुँचीं। बालक धर्मपालके हृदय-पर उनके व्यक्तित्वका बड़ा प्रभाव पड़ा। मैडम ब्लैवेड्स्की विद्यार्थी धर्मपालपर स्नेह करने लगीं, और उन्हें वे अपने साथ अडयार (मदरास) भी लेती आई। धर्मपालजीकी इच्छा उन दिनों प्रेत-विद्या (Occultism) सीखनेकी थी, पर मैडम ब्लैवेड्स्कीने इसके लिए मना कर दिया। उन्होंने कहा—"धर्मपाल, तुम प्रेत-विद्या न सीखो। तुम पाली-भाषाका अध्ययन करो। उससे तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी।"

'पाली-अध्ययन' और 'परोपकार व्रत' उन्हीं दो बातोंपर मैडमने ज़ोर दिया। धर्मपालजीने भी यही निश्चय कर लिया। उन्होंने पाली पढ़ते हुए बौद्ध ग्रन्थोंका अध्ययन किया, और उनके हृदयमें बौद्धधर्म-प्रचारकी भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने अपनी पूज्य मातासे जाकर कहा—"मैं तो घर-बार छोड़कर बौद्धधर्म-प्रचारमें अपना जीवन लगाना चाहता हूँ।"

माताजी धर्मपालपर बहुत स्नेह करती थीं, पर साथ ही वे स्वयं भी बड़ी धार्मिक थीं, इसलिए उन्होंने कहा—"बेटा, तेरी इस बातसे मैं प्रसन्न हूँ; जैसी तेरी इच्छा हो, वही कर।"

पर पिताजीको चिन्ता हुई। उन्होंने कहा—"तुम्हीं हमारे ज्येष्ठ पुत्र हो, मेरे बाद इस कुटुम्बका बोझ कौन सम्हालेगा?"

धर्मपालजीने आदरपूर्वक कहा—"पिताजी, सब अपने-अपने कर्मोंके अनुसार फल प्राप्त करेंगे।"

तत्पश्चात् उन्होंने भी धर्मपालसे यही कहा—"अच्छा भाई, जो तेरी इच्छा हो, वही कर।"

इस प्रकार बीस वर्षकी उम्रमें वे घरसे निकल पड़े। परिवारकी तो उन्हें कुछ चिन्ता थी ही नहीं, और पिताजी भी उन्हें आवश्यकता पड़नेपर बराबर खर्च भेज दिया करते थे। पिताजीको रुपये-पैसेकी कमी नहीं थी। अपने जीवनमें उन्होंने धर्मपालको तीन लाख रुपयेसे अधिकको सहायता दी!

अडचारमें धर्मपालजी ६ वर्ष तक रहे, और वहाँ उन्होंने अपना समय बौद्धधर्मके अध्ययन तथा अंग्रेज़ीका अभ्यास करनेमें व्यतीत किया। लेख लिखने तथा भाषण देनेका भी अभ्यास उन्होंने वहींपर किया। अडचारके ये ६ वर्ष उनके लिए आगे चलकर बड़े उपयोगी सिद्ध हुए।

धर्मपालजी प्रारम्भसे ही राष्ट्रीय विचारोंके आदमी रहे हैं। आपने एक मोटर-कार रखी थी, और उसपर बड़े-बड़े अक्षरोंमें लिख रखा था 'Wake up Ceylon' (सीलोन जाग्रत हो)। इसी मोटर पर आप सीलोनमें यात्रा किया करते थे!

दिसम्बर सन् १८९० में वे अडचार छोड़कर गयाके लिए रवाना हुए। २२ जनवरी सन् १८९१ को उन्होंने पहले-पहल महाबोधि-मन्दिर तथा बोधिवृक्षके दर्शन किये। मन्दिरको शैव महन्तके अधीन और स्वयं महन्त महोदयकी अनुचित कार्रवाइयोंको देखकर उनके हृदयमें बड़ी वेदना हुई, और उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि हम महाबोधि-मन्दिरको फिर बौद्धोंके अधीन लानेका प्रयत्न करेंगे।

मार्च सन् १८९१ में धर्मपालजी कलकत्ते पधारे, और यहाँ पर वे स्वर्गीय नीलकमल मुकर्जीके मकानपर बेनियापूकुर गलीमें ठहरे। यहाँ-पर उन्होंने अपने समयका पूर्णतया सदुपयोग करनेका निश्चय कर लिया। वे नित्यप्रति ऐशियाटिक सोसाइटीके पुस्तकालयमें जाकर बौद्ध ग्रन्थोंका अध्ययन करने लगे और जो समय बचता था, उसमें कालेजस्क्वायर तथा वैलिंगटन स्क्वायरमें विद्यार्थियोंके सम्मुख भाषण दिया करते थे। यहींपर उनको यह विचार सूझा कि कालेज-स्क्वायरके निकट ही एक ऐसा 'हाल'

बनाना चाहिए, जहाँ विद्यार्थियोंके लिए बौद्धधर्मके महत्त्वपर भाषण हुआ करें। तत्पश्चात् उन्होंने कलकत्तेके मित्रोंकी सहायतासे सन् १८९१ में महाबोधि-सोसाइटीकी स्थापना की, और उसके मंत्रित्वका भार अपने ऊपर ही ले लिया। इस सोसाइटीकी स्थापनासे उनको अपने कार्यमें बड़ी सहायता मिली। इसी समय उनको गयामें एक बौद्धधर्म-शालाकी आवश्यकता प्रतीत हुई। उन्होंने बर्मा तथा सीलोनकी यात्रा करके उसके लिए चन्दा इकट्ठा किया, और जो कुछ मिला, वह सब गया-डिस्ट्रिक्ट-बोर्डको अर्पित कर दिया, जिससे वहाँ एक सुन्दर धर्मशाला बन गई। यह बौद्ध यात्रियोंके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है।

जनवरी सन् १८९३ में उन्होंने 'महाबोधि' नामक मासिक पत्र निकालना प्रारम्भ किया, जो ३९ वर्षसे बराबर काम कर रहा है। सौभाग्यवश अकस्मात् इस पत्रकी प्रथम संख्या शिकागोके सर्वधर्म-सम्मेलनके आयोजकोंके हाथ लग गई। वे इस अंकको देखकर इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने तुरन्त ही धर्मपालजीको निमंत्रण भेज दिया। धर्मपालजी अमेरिका गये, और वहाँ जो भाषण उन्होंने दिये, उनकी चर्चा अमेरिका-भरके ख़ास-ख़ास पत्रोंमें हुई। 'सेण्ट लुई औवज़र्वर'ने अपने २१ सितम्बर १८९३ के अंकमें लिखा था :—

"अपनी चौड़ी भौहोंके पीछे लम्बे घुँघराले बाल डाले हुए श्रोताओं-पर अपनी स्पष्ट तीक्ष्ण दृष्टि फेंकते हुए और लम्बी उँगलियों द्वारा अपने गुंजायमान करनेवाले स्वरपर ज़ोर डालनेवाला यह आदमी 'प्रचारक' की मूर्ति ही प्रतीत होता था, और यह जानकर कि संसारके बौद्धोंका संगठन करनेवाला और बौद्धधर्मकी ज्योतिको विश्वव्यापी बनानेका कार्य इसी मूर्तिके सुपुर्द है, दर्शकका हृदय कम्पायमान हो जाता था।"

अमेरिकाके ख़ास-ख़ास नगरोंकी उन्होंने यात्रा भी की। आप शिकागो-यूनिवर्सिटीके प्रधान डाक्टर हार्पर और कोलम्बिया-यूनिवर्सिटी-के प्रधान मरे बटलरसे मिले, और उन दोनोंसे उन्होंने यह प्रार्थना की कि

वे अपने विश्वविद्यालयमें भारतीय विद्यार्थियोंको छात्रवृत्ति देकर निमन्त्रित करें। उन दोनोंने इस बातको स्वीकार भी कर लिया, पर उन दिनों भारतीय विद्यार्थियोंमें विदेश-यात्रा करनेके लिए विशेष उत्साह नहीं था। सन् १८९६ या १८९७ में भारतमें घोर दुर्भिक्ष पड़ा। उस समय धर्मपालजी अमेरिकामें ही थे। आपने वहाँ भारतीय अकालपीड़ितोंकी दुर्दशापर भाषण दिये। उनका इतना प्रभाव पड़ा कि आयोवाके अमेरिकनोंने बहुत-सा अन्न भारत भेजनेका निश्चय कर लिया, और एक जहाज़ भरके अन्न भेजा भी। आयोवा राज्य बहुत कुछ धनधान्य समृद्ध है। सर्वधर्म-सम्मेलनके बाद अमेरिकासे लौटते हुए धर्मपालजीकी मुलाक़ात होनोलूलूमें श्रीमती मेरी फोस्टरसे हुई और उक्त महिलाने आगे चलकर धर्मपालजीको कुल मिलाकर आठ लाख रुपये सहायतामें दिये!

धर्मपालजीने चार बार जापानकी यात्रा की है। पहली बार सन् १८८९ में, द्वितीय बार सन् १८९३ में, तीसरी बार सन् १९०२ में और चौथी बार सन् १९१३ में। वे जापानके सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ काउण्ट ओकूमासे भी मिले थे। ओकूमाने धर्मपालजीसे कहा—"आप लोग अपने विद्यार्थी तो हमारे यहाँ भेजते हैं, पर विद्वानोंको क्यों नहीं भेजते? हम लोग आपके विद्वानोंसे मिलना चाहते हैं।"

धर्मपालजी जापानकी बड़ी प्रशंसा करते हैं। सन् १८८९ और १९१३ के जापानमें उन्होंने ज़मीन-आसमानका अन्तर देखा था। जापानके महापुरुषोंने कितने कष्ट सह-सहकर अपने देशकी उन्नति की है, इसके अनेक दृष्टान्त धर्मपालजी सुनाते हैं। स्वयं काउण्ट ओकूमाके विषयमें उन्होंने कहा—"काउण्ट ओकूमाके माता-पिता इतने निर्धन थे कि उन्हें चावल भी खानेके लिए नहीं मिल सकते थे, इसलिए उनकी माँ थोड़ेसे चावलोंके साथ कोई दूसरा मोटा अनाज मिलाकर उन्हें खानेके लिए दिया करती थीं।"

संसारके अनेक महापुरुषोंसे मिलनेका सौभाग्य धर्मपालजीको प्राप्त हुआ है, और उनसे इन महानुभावोंके विषयमें बातचीत करनेमें बड़ा आनन्द आता है। धर्मपालजी रूसके सुप्रसिद्ध अराजकवादी प्रिंस क्रोपाट-किन, संसार-प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ मैक्समूलर, 'लाइट आफ् एशिया' के लेखक सर ऐडविन आरनाल्ड इत्यादि कितने ही आदमियोंसे मिले थे।

मैंने उनसे पूछा--"प्रिंस क्रोपाटकिनसे आपकी क्या बातचीत हुई थी?"

धर्मपालजी--"मैंने जब उन्हें हिन्दुस्तानका वृत्तान्त सुनाया, उस समय उनकी लड़की भी उनके साथ थी। वह बोली--'हिन्दुस्तानी लोग अंग्रेज़ोंको 'शूट' क्यों नहीं कर देते?' इसपर प्रिंस क्रोपाटकिनने तुरन्त ही कहा--'नहीं, नहीं, यह ठीक नहीं। भारतीयोंको चाहिए कि वे ग्रामोंमें जाकर कार्य करें। बहुत-से भारतीय नवयुवकोंको ग्रामोंमें जाकर बस जाना चाहिए, जैसा कि हम लोगोंने रूसमें किया है।"

धर्मपालजी मैक्समूलरसे मिलने गये, और उनसे पूछा--"आप भारतवर्ष क्यों नहीं जाते?"

इस पर मैक्समूलरने जवाब दिया--"जब भारतीय ही मुझसे मिलने-के लिए यहाँ आते हैं, तो मैं भारत जाकर क्या करूँगा?"

जब मैक्समूलरके स्वर्गवासके बाद कलकत्तेमें एक सभा हुई, तो धर्म-पालजी भी उसमें निमन्त्रित किये गये। अपने भाषणमें उन्होंने मैक्समूलर-की उपरोक्त बात कही, और साथ ही यह भी कह दिया कि यह अच्छा ही हुआ कि मैक्समूलर भारतमें नहीं पधारे, क्योंकि उनके दिमाग़में उप-निषदोंका भारत घूम रहा था, पर यहाँ आकर जब उन्हें कालीघाटमें बकरों-के बलिदानका दृश्य दीख पड़ता, तो वे अत्यन्त निराश होते। इस बातको सुनकर बंगाली जनता बहुत नाराज़ हुई। उस समय जस्टिस शारदा चरण मित्रने धर्मपालजीके कथनका समर्थन करते हुए कहा--"जो कुछ

इन्होंने कहा है, वह ठीक तो है । अगर मैक्समूलर यहाँ आते, तो भारतकी वर्तमान दशाको देखकर अत्यन्त निराश हो जाते ।"

जब धर्मपालजी के सर ऐडविन आर्नाल्डसे मिले तो आर्नाल्ड साहबने उन्हें थियोसोफिकल सोसाइटीमें शामिल न होनेके लिए कहा था।

धर्मपालजी चालीस वर्षसे नियमानुकूल अपनी डायरी लिख रहे हैं । क्या ही अच्छा हो, यदि उसके उपयोगी अंश वे प्रकाशित करा दें । उनकी डायरीके कुछ पृष्ठ हमें भी देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था । उनसे यही प्रकट होता है कि धर्मपालजीको एक ही धुन है, एक ही फ़िक्र है, यानी भारतमें बौद्धधर्मके प्रचार की । जैसा कि हम कह चुके हैं, सारनाथमें मूलगन्धकुटी-विहारका निर्माण उनके चालीस वर्षके प्रयत्नका परिणाम था । अपनी डायरीमें उस दिनके पृष्ठमें धर्मपालजीने निम्न-लिखित वाक्य लिखा थाः—

"At the end I spoke expressing my delight at completion of my labours, begun forty years ago, and told that I present the Vihara to the people of India. It was a happy ending of my forty years labour in the land of Buddha."

अर्थात्—"अन्तमें मैंने अपने भाषणमें चालीस वर्ष पहले आरम्भ हुए अपने कार्यकी सकुशल समाप्तिपर हर्ष प्रकट किया, और उपस्थित सज्जनोंसे कहा कि यह विहार मैं भारतीय जनताको समर्पित करता हूँ । बुद्ध भगवान्की भूमिमें मेरे चालीस वर्षके परिश्रमका यह फल आनन्द-प्रद था ।"

अभी उस दिन बैठे-बैठे वे उन विद्वानोंकी सूची बना रहे थे, जिन्होंने बौद्धधर्मका विशेषरूपसे अध्ययन किया है । उस सूचीको दिखलाते हुए उन्होंने कहा—"देखिये, इन ७२ विद्वानोंमें चार-पाँच भारतीय हैं, दो जापानी और एक सिंहलद्वीप-निवासी और बाक़ी सब यूरोपियन हैं ।

इन चार-पाँच भारतीयोंमें दो——यानी डाक्टर भंडारकर और श्री एस० सी० दास——का स्वर्गवास हो चुका है। हाँ, एक भारतीय विद्वान्ने एक बड़ी योग्यतापूर्ण पुस्तक हालमें लिखी है। उसका नाम है 'The Bodhi sattva Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature'* ('बौद्ध संस्कृत साहित्यमें बोधिसत्त्वका सिद्धान्त' लेखक लाला हरदयाल, एम० ए०, पी-एच० डी०)। इसी विद्वत्तापूर्ण निबन्धसे हरदयालजीको यूनिवर्सिटीसे पी-एच० डी० की उपाधि मिली है। सन् १९२७ में, जब मैं लन्दनकी महाबोधि-सोसाइटीमें ठहरा हुआ था, लाला हरदयाल मुझसे मिलने आये थे, और उन्होंने मुझसे यह कहा कि वे बौद्धधर्मका अध्ययन कर रहे हैं। रूसकी सोवियट सरकारने भी बौद्धधर्मके विशेष-रूपसे अध्ययनके लिए मास्कोमें प्रबन्ध किया है, पर खेदकी बात है कि भारतीय विद्वानोंने इसकी ओर समुचित ध्यान नहीं दिया।"

इसी प्रसंगमें मैंने श्रीराहुल सांकृत्यायन और उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'बोधिचर्या' का ज़िक्र किया। इसपर धर्मपालजीने कहा——"राहुलजी बड़े विद्वान् और अच्छे कार्यकर्ता हैं। मेरी अभिलाषा थी कि वे सार-नाथको अपना कार्यक्षेत्र बनावें, पर उनका विचार नालन्दामें रहकर काम करनेका है। हमारे यहाँ सारनाथमें स्थान है, पर भारतीय विद्वान् कार्यकर्ताओंका अभाव है।"

आजकल धर्मपालजीको खासतौरसे दो बातोंकी चिन्ता रहती है; एक तो यह कि ऋषिपत्तनको (सारनाथका यही प्राचीन नाम है) किस प्रकार पुनर्जीवन प्राप्त हो, और दूसरा यह कि हिन्दी-उर्दू द्वारा भारतमें बौद्ध-साहित्य किस प्रकार फैले। वे कहते हैं :—

---

*यह पुस्तक Kegan Paul, French, Tubuer and Co. Limited, Broadway House, 68-74, Carter Lane E. C., London, से मिल सकती है।

"सत्रह सौ वर्ष तक भारतमें बौद्धधर्मका शासन रहा। तत्पश्चात् पिछले आठ सौ वर्षमें बौद्धधर्मके नाशके साथ ही साथ भारतकी पराधीनताका भी युग प्रारम्भ हुआ। अब फिर समय आ गया है, जब भारतमें बौद्धधर्मके सिद्धान्तोंका प्रचार किया जाय। बौद्धधर्मका सन्देश आशाका सन्देश है और आत्म-निर्भरताका सन्देश है। बुद्ध भगवान् बराबर यही उपदेश देते रहे कि अपना उद्धार स्वयं ही करो। किसी देवी-देवताके भरोसे बैठे रहनेके वे सर्वथा विरुद्ध थे। वे पूर्ण वैज्ञानिक थे। किसीकी अन्ध-भक्ति और अन्ध-श्रद्धा नहीं चाहते थे। मनुष्यकी अद्भुत और अनन्त शक्तिको उन्होंने पहचान लिया था, और वे जनताको यही उपदेश देते थे कि तुम सब कुछ कर सकते हो, स्वयं बुद्ध भी बन सकते हो। 'अपण्यकसूत्र' में एक सर्वधर्म-सम्मेलनका ज़िक्र आया है। प्राचीन कालके भारतीय इस प्रकारके सम्मेलन कराया करते थे, जिनमें भिन्न-भिन्न धर्मोंके आचार्य अपने-अपने धर्मका समर्थन करते थे। 'अपण्यकसूत्र' में एक ऐसी ही मीटिंगका वृत्तान्त है। उसमें अनेक धर्माचार्योंने अपने-अपने मत-मतान्तरोंकी खूब प्रशंसा की। जब बुद्ध भगवान्की पारी आई, तो उन्होंने उपस्थित जनतासे कहा—"आप लोगोंने सबका कथन सुन लिया। अब आपको इनमें जो कुछ अच्छा लगे, उसे ग्रहण करें। आप अपनी बुद्धिका प्रयोग करके सब धर्मोंका सार ग्रहण कर लें, क्योंकि आप 'विज्ञ-पुरुष' हैं।"

फिर धर्मपालजीने कहा—"हमें आवश्यकता है ऐसे कार्यकर्ताओंकी, जो केवल भोजन-वस्त्रका व्यय लेकर भारतमें आर्यधर्मका प्रचार करें। बौद्धधर्मका प्रचार देश-देशान्तरोंमें निर्धन भिक्षुओं द्वारा ही हुआ था। हमारे यहाँ लिखा है—'जातरूप रजत पतिग्गहन विरमानि शिक्षापदं समादियाम'—(मैं सोना और चाँदी ग्रहण नहीं करता हूँ)। क्या ऐसे कार्यकर्ता हमें मिल सकेंगे?"

इस प्रश्नपर कुछ देर तक बातचीत होती रही। धर्मपालजीकी

स्मरणशक्ति बड़ी अच्छी है। कभी श्री उदित मिश्र और आचार्य नरेन्द्र-देवजी उनसे मिले थे। उनका ज़िक्र आया। फिर धर्मपालजीने कहा––"श्री नरेन्द्रदेवजीसे क्यों न कहा जाय कि वे जब तक काशी-विद्यापीठ बन्द है, तब तक ऋषिपत्तनमें ही आकर रहें? हम लोग अपना पुस्तकालय भी अब वहीं भेजना चाहते हैं, इसलिए उनको अध्ययनका सुभीता भी हो जायगा।"

श्री धर्मपालजीसे दो बार बातचीत हुई। अस्वस्थ होते हुए भी और यह जानते हुए भी कि डाक्टरने उन्हें बातचीत करनेकी मनाई कर रखी है, उन्होंने डेढ़ घंटा समय हमें देनेकी कृपा की। कमरा बहुत साफ़ है। सामने अलमारीमें पाली भाषाके बौद्धधर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ सुन्दर जिल्दोंमें बँधे हुए रखे हैं। सिरहानेपर बुद्ध भगवान्‌का धर्मचक्र प्रवर्तन नामक मनोहर चित्र है। सिंहाली अक्षरोंका 'धम्मपद' पासकी मेज़पर सुशोभित है। बातचीतमें उसके दृष्टान्त प्रायः दिया करते हैं। उस दिन 'धम्मपद' का एक श्लोक उन्होंने कहा––

"यो च पूब्बे पमज्जित्त्वा पच्छासो न प्पमज्जति,
सो इमं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तोव चन्दिमा।"

अर्थात्––'जो पहले प्रमाद करके फिर प्रमाद नहीं करता, वह इस लोकमें इस प्रकार प्रकाशित होता है, जिस प्रकार बादलोंसे मुक्त चन्द्रमा।"

श्लोक मुझे बहुत पसन्द आया। मैंने कहा––"कृपाकर इसे लिखा दीजिए।" जब बोलने लगे, तो पाली न जाननेके कारण वह ठीक-ठीक मेरी समझमें नहीं आया। इसपर उन्होंने कहा कि दूसरे कमरेमेंसे काला जिल्दवाला बँगला 'धम्मपद' ले लीजिए। जब तक हम इधर-उधर ढूँढ़ ही रहे थे, तब तक वे स्वयं उठकर लड़खड़ाती टाँगोंसे चले आये, वह पुस्तक हमें दे दी, और कहा––"इसमें से आप नक़ल कर लीजिए।"

धर्मपालजीके उत्साह और लगनको देखकर आश्चर्य हुआ, साथ ही यह डर भी लगा कि कहीं इस बातचीत और परिश्रमसे उनकी तबीयत और भी ख़राब न हो जाय, इसलिए प्रणाम करके मैं शीघ्र ही वहाँसे चल दिया। रास्तेमें सोचता आता था—"लगन हो तो ऐसी ! जिसने पचीस बार जन्म लेकर एक ही काम करनेको निश्चय कर लिया है, उसकी दृढ़ताका क्या अन्दाज़ लगाया जा सकता है ?"

मार्च १९३२]

माननीय श्रीनिवास शास्त्री

"मिस्टर शास्त्री आस्ट्रेलिया, कनाडा और न्यूज़ीलैण्डकी यात्रापर जा रहे हैं। आप उनसे ज़रूर मिलिये और प्रवासी भारतीयोंके विषयमें जो कुछ मसाला उन्हें दे सकें, दीजिए।" मि० पोलककी इस आशयकी एक चिट्ठीने, जो मई सन् १९२२ में मिली थी, मुझे बड़े पशोपेशमें डाल दिया। पहला ख़याल था संकोचका। मेरे-जैसे अर्द्ध-शिक्षित आदमीको माननीय श्रीनिवास शास्त्री-जैसे महापुरुषसे मिलना भी चाहिए या नहीं? किसी भिखमंगेकी जो हालत लखपती आदमीसे मिलनेके समय होती है बस, वैसी ही दशा मेरी भी थी। इसके सिवा एक कठिनाई और भी थी। अंग्रेज़ी तथा हिन्दी-पत्रोंमें शास्त्रीजीके विषयमें लेख पढ़कर अपने मस्तिष्कमें उनकी जिस मूर्तिकी मैंने कल्पनाकी थी, वह बिल्कुल आकर्षक न थी।

शास्त्रीजी शिमला जा रहे थे और आगरा कैण्टसे मथुरा तक उनके साथ यात्रा करनेका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। थोड़ी देरकी बातचीतके बाद ही बड़ा आश्चर्य हुआ। मनमें सोचा—"जिस 'अहंकारी', 'सरकारके ख़ुशामदी' तथा 'हृदयहीन' व्यक्तिकी निन्दा नित्यप्रति समाचार-पत्रोंमें पढ़नेको मिला करती है, उससे तो ये बिल्कुल भिन्न आदमी मालूम होते हैं!" अपनी मूर्खतापर बड़ा पश्चात्ताप हुआ और तब यह बात मेरी समझमें आई कि अखबारोंके भरोसे किसी मनुष्यके चरित्रके विषयमें फैसला कर बैठना महज हिमाक़त है। १० सितम्बर सन् १९२२ के 'स्वराज्य' में मि० एन० एस० वी०ने शास्त्रीजीका स्केच लिखते हुए लिखा था—"जब समाचारपत्रोंमें अग्रलेख लिखनेवाले सोचते थे कि गम्भीर आर्थिक तथा सामाजिक प्रश्नोंपर लिखे गये हमारे लेखोंसे

पाठक अब ऊब चुके हैं और कोई खास बात हमारे पास लिखनेके लिए है भी नहीं, तो फ़ौरन उनकी निगाह मि० शास्त्रीपर पड़ती और वे कहते—'बस, मिल गया एक विषय ! शास्त्रीजीका मज़ाक़ उड़ाये जाओ ! उपहास तथा व्यंगके लिए ये अच्छी सामग्री हैं।' मेरे एक मित्र जब एक समाचारपत्रके सम्पादक हुए तो उन्होंने अपना पहला लेख मि० शास्त्रीके विषयमें लिखा, क्योंकि शास्त्रीजीपर लेख लिखना आसान भी था और यह प्रारम्भ भी अच्छा था !

इसका परिणाम यह हुआ है कि शास्त्रीजीके विषयमें एक अत्यन्त भ्रमात्मक धारणा साधारण जनताके मनमें बैठ गई है। पिछले चौदह वर्षोंमें इन पंक्तियोंके लेखकको शास्त्रीजीसे मिलने और वार्तालाप करनेका सौभाग्य कितनी ही बार प्राप्त हुआ है, पत्र-व्यवहार भी बहुत दफ़े हुआ है, दो-तीन दिन साथ ठहरनेका मौक़ा भी मिला है और इसलिए शास्त्रीजीके स्वभावको निकटसे अध्ययन करनेके अनेक अवसर उसे मिल चुके हैं, और अपने निजी अनुभवके आधारपर वह कह सकता है कि महात्मा गांधीको छोड़कर शास्त्रीजी-जैसा सहृदय और सुसंस्कृत व्यक्ति भारतवर्षमें शायद ही कोई दूसरा निकले।

सबसे बड़ी खूबी शास्त्रीजीके चरित्रमें यह है कि वे अपनी ग़रीबीके दिनोंको अबतक नहीं भूले। शास्त्रीजीको अपने वे दिन अब भी याद हैं, जबकि उन्हें विद्यार्थी-जीवनमें छात्रवृत्ति मिलती थी और उसमेंसे फ़ीस देनेके बाद उनके पास महीने-भर गुज़र करनेके लिए सिर्फ़ तीन रुपये बच जाते थे ! सुना है कि एक बार शास्त्रीजीकी पूज्य माको किसी पड़ोसिनने कच्चे आम भेंटमें भेजे थे। शास्त्रीजीकी मा उनका अचार डालना चाहती थीं; पर उनके पास पैसा भी न था कि वे नमक खरीद सकें ! नमक-करकी निष्ठुरताका वर्णन करते हुए शास्त्रीजीने यह करुणाजनक कहानी व्यवस्थापक सभाकी एक स्पीचमें कह सुनाई थी। इससे उनकी निर्धन अवस्थापर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। शास्त्रीजी अपनी ग़रीबीको

नहीं भूले और आज भी वे ग़रीब ही हैं ।

माननीय मि० नटेसनकी साठवीं वर्षगाँठके अवसरपर जो पत्र मि० शास्त्रीने उनके लड़केके पास भेजा था, उसमें उन्होंने अपनी पूज्य माताजीका ज़िक्र बड़े मधुर शब्दोंमें किया था--

"प्रत्येक आदमी अपनी माताके विषयमें लिखते हुए यह अवश्य कहता है कि मेरी-जैसी माता न किसीके थी, न है और न हो ही सकती है । यदि आपके पूज्य पिता मि० नटेसन इस तरहका दावा अपनी माताजीके विषयमें पेश करें तो मैं उनसे झगड़ा नहीं करूँगा । हाँ, सिर्फ़ इतना ज़रूर कहूँगा कि मेरी पूज्य माता भी ऐसी ही थीं । इन दोनों माताओंको --नटेसनकी माताको और मेरी माताको--अपने लड़कोंकी वजहसे जितने कष्ट उठाने पड़े, उतने कष्ट उनकी स्थितिकी स्त्रियोंको प्रायः कम ही उठाने पड़ते हैं । ग़रीबीकी वजहसे उनकी कठिनाइयों तथा अभावोंमें और भी वृद्धि हो गई थी । इन दोनों माताओंने हम लोगोंको कभी भी पूरा-पूरा हाल उन तकलीफ़ोंका नहीं बतलाया, जो बचपनमें हम लोगोंको कुछ आरामसे रखने तथा पढ़ाने-लिखानेके लिए उन्हें उठानी पड़ी थीं । तुम्हारे पिता ने और मैंने साथ-साथ बैठकर कितनी बार उन अज्ञात कष्टोंकी कल्पना की है, जो हम दोनोंकी माताओंको सहने पड़े थे और ऐसा करते हुए हम दोनों सिसकी भरने लगे हैं । क्या सचमुच हम दोनों वैसे ही कृतघ्न थे, जैसे कि दीख पड़ते हैं ? पर बात तो दरअसल यह है कि यदि हमको बारह जीवन भी मिलते तब भी हम अपनी माताओंके प्रति उतनी कृतज्ञता प्रकट नहीं कर पाते, जितनीकी कि वे अधिकारिणी हैं । ईश्वरको धन्यवाद है कि ये दोनों माताएँ अधिक दिन जीवित रहीं और उन्होंने हम दोनोंको पहलेकी अपेक्षा अधिक सम्पन्न दशामें देखा । क्या उन दोनों बुढ़ियाओंने अपने पिछले दिनोंमें आपसमें बातचीत करते हुए निजी तौरपर यह न कहा होगा--'हमारे लड़के आखिर उतने बुरे तो न निकले, जितने हमने सोचे थे ?' क्या ही

अच्छा होता, यदि उन्होंने आपसमें ऐसी बात कही होती ।"

यदि शास्त्रीजी चाहते तो उच्च-से-उच्च सरकारी पद प्राप्त करना उनके लिए कोई मुश्किल बात न होती; पर देशहितके सामने उन्होंने स्वार्थका सदा ही बलिदान किया है । शास्त्रीजीको भारत-सेवक-समितिके लिए जितना परिश्रम करना पड़ा था, उसके विषयमें 'जन्मभूमि' के सम्पादक डाक्टर पट्टाभि सीतारमैय्याने लिखा था——

"हम जानते हैं कि शास्त्रीजीने अपने ऊपर जान-बूझकर लिये गये दारिद्रय-व्रतको किस प्रकार निबाहा । कभी वे दिन भी थे, जब भारत-सेवक-समितिके लिए एक-एक रुपया इकट्ठा करनेमें उन्हें अपने रक्तकी एक-एक बूँद ख़र्च करनी पड़ती थी । सौभाग्यसे अब वे दिन बीत गये और लौटनेवाले नहीं ।"

शास्त्रीजीको भारत-सरकारके प्रतिनिधि बनकर विदेशोंमें जाते हुए देखकर साधारण जनता यह अनुमान करने लगती है कि शास्त्रीजी सदासे ही सरकारके कृपापात्र रहे हैं । यह बात बिल्कुल ग़लत है । शास्त्रीजीको खुफिया पुलिसवालोंने बहुत काफ़ी तंग किया है । इस विषयके अपने अनुभव सुनाते हुए उन्होंने कहा था——

"जब मैं सन् १९०८ में डिस्ट्रिक्ट कांग्रेस कमेटियोंका संगठन करनेके लिए भिन्न-भिन्न ज़िलोंमें घूमता था, उन दिनों भारतके राजनैतिक वायुमंडलपर ऐसा तुषार पड़ा हुआ था, खुफिया पुलिस इतनी अधिक व्यग्र थी और सरकारकी दमन-नीति इतने ज़ोरोंपर थी कि कितनी ही जगहोंपर तो पबलिक मीटिंगके लिए आदमी इकट्ठा करना मुश्किल हो जाता था । 'अरे ! अभी नहीं, अभी नहीं'——लोग यही कहते हुए सुनाई देते थे । एक घटना मुझे याद पड़ती है । एक उच्च पदाधिकारी थे, जो नौकरी छोड़-कर शीघ्र ही पेंशन लेनेवाले थे । वे एक बार रातको बारह बजे आकर मुझसे मिले । जब मुझे इस बातसे बड़ा आश्चर्य हुआ तब उन्होंने कहा——'भाई साहब, मैं तीन-चार दिनसे तुमसे मिलना चाहता था; पर इस जगह

तो झुण्ड-के-झुण्ड खुफिया पुलिसवाले मौजूद हैं और मुख़बिरोंकी भी भरमार है। आता तो कैसे आता ? अब मेरे पेंशनके दिन नज़दीक हैं, साथ ही मेरे बहुतसे बाल-बच्चे भी हैं। मैं यह नहीं चाहता कि भारत-सेवक-समितिके किसी मेम्बरकी वजहसे मैं भी धर घसीटा जाऊँ।"

सन् १९१८ में शास्त्रीजीने कौंसिलमें भाषण देते हुए कहा था—

"श्रीमान् इस बातपर मुश्किलसे विश्वास करेंगे; पर है यह बिलकुल सत्य कि दो-तीन वर्ष तक तो यह हालत रही कि खुफिया पुलिसवाले जबतक मैं घरमें रहता, तबतक मेरे घरके द्वारपर बैठे रहते और ज्यों-ही घरसे बाहर निकलता त्योंही पीछा करने लगते थे ! अगर मैं इक्का किराये करता तो वे भी दूसरा इक्का लेकर मेरा पीछा करते। पूछ-ताछ करके वे पता लगा लेते थे कि मैं कहाँ जा रहा हूँ और जहाँ मैं जाता, वहीं वे भी जा पहुँचते थे। आश्चर्यकी बात यह थी कि यदि उनको कोई तेज़ इक्का न मिलता तो वे मेरे इक्केवालेको किसी तरह समझा देते थे कि वह अपने इक्केको तेज़ न हाँके !

"एक वार कोयम्बटूरमें इन अत्याचारी खुफिया पुलिसवालोंने प्रत्येक इक्केवाले और गाड़ीवालेसे कह दिया कि वे मुझे न विठलावें ! मुझे एक ज़रूरी कामके लिए जाना था और खुफिया पुलिसवाले अपने दोपहरीके आराममें ख़लल नहीं डालना चाहते थे ! नतीजा यह हुआ कि मैं अपने स्थानपर न पहुँच सका।...माई लार्ड, कभी-कभी तो ये खुफिया पुलिसवाले कुछ दूसरे ही उपायोंका अवलम्बन करते हैं, जिससे हम लोगोंको पता लगता है कि अपने ही देशमें हमें किस प्रकार शंकाकी दृष्टिसे देखा जाता है। और सो भी किस अपराधके लिए ? स्वदेशसे प्रेम करनेके कारण ! एक बारकी मुझे याद है कि रेलवे पुलिसने मुझे मामूली पुलिसके सुपुर्द कर दिया। हम लोग ग़ुलामोंकी तरह सुपुर्द किये जाते हैं। एक मर्तबा बड़ी दिल्लगी रही। एक आदमी आया, उसने मुझे दिखाकर मामूली पुलिसके हवाले कर दिया। दुर्भाग्यवश

मैं उस वक्त भीड़-भाड़में उन आदमियोंके बीच, जो मुझसे कम अपराधी थे, गुम हो गया। पुलिसवालोंने मुझे तो न पहचान पाया और ग़लतीसे मेरे एक मित्रको मेरी जगह समझ लिया! नतीजा यह हुआ कि जो दो आदमी मेरे पीछे लगे फिरने चाहिए थे, वे उनके पीछे लग गये! मैंने समझा कि चलो, मुझे छुटकारा मिला। पर पीछे मेरे मित्रने मुझे बतलाया कि उन्होंने पुलिस-विभागके अध्यक्षसे शिकायत कर दी है। परिणाम यह हुआ कि पुलिसवालोंने अपना पुराना शिकार फिर पहचान लिया!"

सन् १९१८ तक यह हालत थी कि शास्त्रीजीके यहाँ कोई आदमी आता था तो उसका नाम पुलिसवाले लिख लेते थे और उसे भी तंग करते थे। अब शायद यह स्थिति नहीं होगी, क्योंकि शास्त्रीजी वृद्ध हो गये हैं और भागकर कहीं जा भी नहीं सकते। सरकार इस बातको अच्छी तरह जानती है कि शास्त्रीजी उन आदमियोंमें से नहीं हैं, जो ख़रीदे जा सकते हैं। समय-समय पर उन्होंने सरकारको कड़ी-से-कड़ी बातें सुनाई हैं। उनकी रौलट बिल वाली स्पीच अब भी लोगोंके कानोंमें गूँज रही है।

"You may enlarge your councils, you may devise wide electorates, but the men that will then fill your councils will be toadies, timid men, and the bureaucracy armed with these repressive powers will reign unchecked under the appearance of a democratic government."

शास्त्रीजीके ये शब्द चिरस्मरणीय हैं। उनकी बंगलोरवाली स्पीच भी बड़ी भावपूर्ण थी। इसके बाद भी जब-जब अवसर आया है, शास्त्रीजीने सरकारको खरीखोटी सुनानेमें कसर नहीं छोड़ी।

लिबरल पार्टीमें यदि कोई नेता ऐसा है, जिसकी सहानुभूति उग्र और प्रगतिशील दलवालोंसे है तो वे मि० शास्त्री ही हैं। कितने ही

लोगोंको इस बातकी आशंका रही है कि मि० शास्त्री भीतर-ही-भीतर स्वयं गरम दलके पक्षपाती हैं ! अपने एक भाषणमें, जो सन् १९२३ में पूनामें दिया था, उन्होंने कहा था--

"मि० गोखलेको अन्त तक यह आशंका बनी ही रही--पूर्णरूपसे इसे उन्होंने कभी भी नहीं छोड़ा--कि राजनीतिमें मेरा झुकाव गरम दलवालोंकी ओर है और मैं छिपा हुआ गरम दलवाला हूँ ।"

लखनऊ-कांग्रेसके अवसरपर गरम दल और नरम दलका मेल करानेमें शास्त्रीजीका ज़बरदस्त हाथ था और अब भी कोई-कोई लिबरल कार्यकर्ता शास्त्रीजीपर व्यंग किया करते हैं कि यह तुम्हारी ही करतूत थी, अब तुम्हीं उसका फल भोगो !

बात दरअसल यह है कि शास्त्रीजीके जीवनमें नरमी और गरमीके ज्वार-भाटे आया करते हैं । अपने ६-७-३२ के एक पत्रमें उन्होंने मुझे लिखा था--

"मैं अपनी नरमीके लिए बिल्कुल शर्मिन्दा नहीं हूँ; लेकिन कभी-कभी ऐसे अवसर आ जाते हैं, जब कि मैं यह सोचने लगता हूँ कि मुझे अपनी नरमीके इस गुणको भूल जाना चाहिए, और वर्तमान मौक़ा ऐसा ही है । इंग्लैण्डके अनुदार दलवालोंने हम लोगोंको बेतरह धता बताई है । मेरा हृदय तो कहता है--'छोड़ो इस झंझटको,' लेकिन मेरा मस्तिष्क मुझे सावधान करता हुआ कहता है--'भाई ! असहयोग तो तुम्हारी नीतिके विरुद्ध है ! लोकप्रियताकी कुछ भी परवा न करो और इस कठिन परिस्थितिमेंसे जो कुछ निकल सके, उतना ही हित स्वदेशके लिए कर लो ।' पर मेरी सहज बुद्धि मुझसे कानमें कहती है--'क्यों ज़्यादा फिक्र करते हो ? तुम्हें पूछता ही कौन है ? तुम क्या करते हो अथवा क्या नहीं करते, इसकी सुईके नोकके बराबर भी परवा कौन करता है ?"

इस पत्रसे शास्त्रीजीकी विनम्रतापर भी काफ़ी प्रकाश पड़ता है ।

शास्त्रीजी जैसा महापुरुष तो अपने मनको समझाता है, 'तुम हो किस खेतकी मूली ? तुम्हें पूछता ही कौन है ?' और हम लोगोंका, जिनमें उनकी योग्यता तथा सेवाका सहस्रांश भी नहीं है, दिमाग़ आसमानपर ही बना रहता है !

यह बात ध्यान देने योग्य है कि भाषण-शक्तिके ख़यालसे शास्त्रीजीकी गणना संसारके इने-गिने व्याख्यानदाताओंमें की जाती है। अंगरेज़ीमें ऐसे धाराप्रवाह भाषण देनेवाले व्यक्ति संसारमें पाँच-छः भी मुश्किलसे मिलेंगे। संसारकी किसी भी सुसंस्कृत-से-सुसंस्कृत मंडलीको शास्त्रीजी अपनी भाषण-शक्तिसे प्रभावित कर सकते हैं। लीग आव नेशन्समें जिस वर्ष आप सम्मिलित हुए थे, उस वर्ष विशेषज्ञोंने आपके भाषणको सर्वोत्तम बतलाया था। एक प्रसिद्ध लेखकने अपनी पुस्तक "दी सैकिंड ईयर आव दी लीग", में लिखा था—

"भाषण-शक्तिके ख़यालसे विजय भारतवर्षके द्वितीय प्रतिनिधि अर्थात् मि० शास्त्रीको ही मिली।"

'डेलीन्यूज़' ने शास्त्रीजीके भाषणके विषयमें लिखा था—

"The highest example of finished oratory it has listened to since it opened a week ago."

आस्ट्रेलियाके प्रधान-मन्त्री मि० ह्यूजेज़ने यहाँ तक कहा था—"मि० शास्त्री हमें शुद्ध अंगरेज़ी बोलना सिखा सकते हैं।" और वाशिंगटन-परिषदमें आपके व्याख्यानोंकी ऐसी धाक जमी कि अनेक पत्रोंके संवाद-दाताओंको यह बात स्वीकार करनी पड़ी कि अंगरेज़ तथा अमेरिकन प्रतिनिधियोंमें इतनी अच्छी अंगरेज़ी कोई नहीं बोल सकता !

शास्त्रीजीसे बातचीत करनेमें बड़ा आनन्द आता है। महामना मालवीयजी जब बात करते हैं तो उसमें उपदेशोंकी भरमार रहती है—उनका निष्कलंक पवित्र जीवन स्वयं सबसे बड़ा उपदेश है। मि० चिन्तामणिसे बातचीत करना ख़तरेसे ख़ाली नहीं। जैसे कि कोई चतुर शिकारी

मौक़ा देखकर खरगोशपर शिकारी कुत्ते छोड़ देता है, वैसे ही चिन्तामणिजी तथ्यों और संख्याओंका बवंडर छोड़कर बातचीत करनेवालेको चकित कर देते हैं। महात्मा गांधीसे बातचीत करते हुए उनका महत्त्व कभी नहीं भुलाया जा सकता, यद्यपि वे अपनी हास्य-प्रवृतिसे दर्शकको निश्चिन्त करनेमें कोई कसर नहीं उठा रखते। पर शास्त्रीजीकी बातचीत इन सबसे निराली है। उसका वायुमंडल सर्वथा घरेलू होता है। उसके माधुर्यके स्वादको वे ही लोग जानते हैं, जिन्होंने उसकी कभी अनुभूति की है।

एक बार मुझे मज़ाक़ सूझा। मैंने धृष्टतापूर्वक शास्त्रीजीसे कहा--"शास्त्रीजी, अब मैंने विदेश-यात्राके लिए सारा साज़ो-सामान इकट्ठा कर लिया है।" शास्त्रीजीने पूछा--"क्या-क्या ?" मैंने उत्तर दिया--"एक तो अबकी बार सेफ्टीरेज़र ख़रीद लिया है।" शास्त्रीजीने कहा--"तुमने मेरा क़िस्सा सुना है। मैंने पहले-पहल सेफ्टीरेज़र कब और कैसे ख़रीदा था ?" मैंने कहा--"कृपया सुनाइये।" शास्त्रीजीने कहा--'भारत-सेवक-समिति'में प्रवेश करनेके पहले और उसके कुछ दिनों बाद तक भी मैं दाढ़ी बनानेके मामलेमें बिल्कुल लापरवाह रहा करता था। लोगोंसे मिलनेमें भी संकोच करता था। यही ख़याल करता था--'हूँ, कौन रोज़-रोज़ दाढ़ी छीलता फिरे !' एक बार जब मैं पूनामें था, मि० गोखलेने मुझे बुला भेजा। सेवामें हाज़िर हुआ। मि० गोखलेने कहा--'एक बड़ा ज़रूरी काम है, वह यह कि आप बाज़ार जाकर एक सेफ्टीरेज़र ख़रीद लाइये।' मैंने पूछा--'क्या अभी ज़रूरत है ? तो अभी लाता हूँ।' मि० गोखलेने कहा--'अबकी बारके लिए तो मैंने इन्तज़ाम कर लिया है, यानी आपकी हजामत बनानेके लिए नाई बुला भेजा है ! बात यह है कि आज बम्बईके गवर्नर पूना आनेवाले हैं, उनसे आपका परिचय कराना है और आप तो बाल बनानेसे रहे ! इस-लिए मैंने अबकी बार तो नाईको बुला लिया है। इसके बाद

आप अपने लिए सेफ्टीरेज़र ख़रीद लीजिए।' " इस क़िस्सेको सुनाते हुए शास्त्रीजीकी मधुर मुस्कराहट दर्शनीय थी। फिर आप बोले––"मि० गोखले कभी-कभी कहते थे––शास्त्री आदमी तो अच्छा है; पर नियमानुसार वह अपने बाल नहीं बनाता !"

गप लड़ानेका शास्त्रीजीको शौक़ है। अपनी बातें बड़े मज़ेमें सुनाते हैं और दूसरोंको बड़े धैर्यके साथ सुनते हैं। क्या मजाल कि एक भी अपशब्द अपने विरोधियोंके विषयमें उनके मुखसे निकले ! शास्त्रीजी छोटे-से-छोटे कार्यकर्ताके व्यक्तित्वका सम्मान करते हैं, अपना मज़ाक़ ख़ुद उड़ानेमें संकोच नहीं करते और उनकी किसी भी बातमे दम्भ या बड़प्पनकी बू नहीं आती। इन्हीं कारणोंसे शास्त्रीजीका सम्भाषण इतना आकर्षक बन गया है।

सम्भाषण तथा पत्र-लेखन दोनों कलाएँ एक-दूसरे से मिलती-जुलती हैं और दोनोंके लिए ही समान गुणोंकी आवश्यकता है, क्योंकि पत्र-लेखन भी तो आखिर दूर बैठे हुए आदमीसे काग़ज़-क़लम द्वारा बातचीत ही है। हमारे पास शास्त्रीजीकी क़रीब चालीस चिट्ठियाँ सुरक्षित हैं। प्रत्येक पत्र सुसंस्कृति, सद्भाव तथा प्रेमपूर्ण व्यवहारका नमूना है। क्या ही अच्छा हो, यदि हमारे कुछ हिन्दीके-लेखक-बन्धु शास्त्रीजीसे पत्र-लेखन-कलाकी शिक्षा प्राप्त करें ! हमारे यहाँ कितने ही पत्र-लेखक ऐसे हैं, जिनकी चिट्ठियाँ वज्रपातसे कम भयंकर नहीं होतीं ! लिफाफेपर उनके हस्ताक्षर देखकर रूह काँपने लगती है और यद्यपि ईश्वर-प्रार्थनामें हमारा विश्वास नहीं है, तथापि उस समय बरबस ये शब्द मुँहसे निकल ही जाते हैं––"या ख़ुदा ! इस आफ़तसे बचा।" पर शास्त्रीजीके पत्रोंका क्या कहना !

एक बार शास्त्रीजी शिक्षकोंकी एक मीटिंगमें सभापति हुए। मैंने लिख भेजा कि मैं भी शिक्षक रह चुका हूँ। यह मेरा पुश्तैनी पेशा है, क्योंकि मेरे पूज्य पिताजीने ५५ वर्ष तक ग्राम-स्कूलोंमें अध्यापकका कार्य किया

है, पर मैंने तो तंग आकर इस पेशेको छोड़ दिया। शास्त्रीजीने पत्रोत्तरमें लिखा––

"किसी शिक्षकको शर्मिन्दा होनेकी ज़रूरत नहीं। हाँ, यदि वह अपना पेशा ईमानदारीके साथ न कर सका हो, तब तो बात ही दूसरी है। यहाँ मेरे अब्राह्मण अमित्र मुझपर व्यंग करते हुए हमेशा कहा करते हैं–– 'अरे! शास्त्री तो भूतपूर्व स्कूल-मास्टर है!' और इस प्रकार वे शिक्षक-वृत्तिके प्रति अपनी घृणा प्रकट करते हैं; पर मुझे सदा ऐसा प्रतीत होता है कि इस वाक्यमें लज्जाजनक शब्द 'भूतपूर्व' है। मैंने शिक्षाका उच्च कार्य छोड़ा ही क्यों? और मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि क्या शिक्षकका कार्य छोड़नेके बाद मैंने उससे कोई अच्छा काम भी किया है?"

अपने घोर विरोधियोंको 'अमित्र' कहनेमें शास्त्रीजीने अपनी स्वभावगत कोमलताका ही परिचय दिया है।

एक बार बहुत दिनों तक मैं उनकी सेवामें पत्र नहीं भेज सका। शास्त्रीजीने उसका उलाहना बड़े मधुर ढंगसे दिया था––

"मुझे अब भी आशा है कि आपका पत्र आता होगा। शायद आप मेरे लिए परामर्शोंसे युक्त एक लम्बी चिट्ठी तैयार कर रहे हैं, इसलिए उस पत्रका मैं दूना स्वागत करूँगा।"

यह पत्र शास्त्रीजीने अफ़्रीकामें भारतीय एजेण्ट बनकर जानेके पहले लिखा था। स्थानाभावके कारण हम शास्त्रीजीके पत्रोंके अंश यहाँ उद्धृत नहीं कर सकते। हमारे जैसे साधारण कार्यकर्ताके प्रति भी इन पत्रोंमें जो सौहार्द तथा प्रेम प्रकट किया गया है, उससे शास्त्रीजीका महत्त्व ही सिद्ध होता है।

सार्वजनिक जीवन एक ख़तरनाक चीज़ है। कितने ही मौक़े ऐसे आते हैं, जब अपने विरोधीपर कसकर दो हाथ जमानेकी इच्छा अत्यन्त प्रबल हो जाती है, जब व्यंग करनेमें आनन्द आता है; पर इन तीस वर्षोंके सार्वजनिक जीवनमें शास्त्रीजीने अपनी सुसंस्कृतिको कभी हाथसे

नहीं जाने दिया। विरोधियोंको नीचा दिखानेकी प्रवृत्ति उन्होंने अपने पास भी नहीं फटकने दी। नरम दलवालोंपर प्रायः यह आक्षेप किया जाता है कि वे अपनी आर्थिक उन्नति या पद-लोलुपताके कारण सरकारके साथ सहयोग करते हैं; पर शास्त्रीजी इन प्रलोभनोंसे सदा ही दूर रहे हैं। अफ्रीका भी वे सरकारी एजेण्ट बनकर महात्माजीकी प्रेरणासे ही गये थे।

शास्त्रीजीने लोकप्रियताकी कभी परवा नहीं की। यदि उनकी अन्तरात्माने कभी समझा कि देश ग़लत रास्तेपर जा रहा है तो उसका उन्होंने स्पष्टतया विरोध ही किया है। इतने लम्बे सार्वजनिक जीवनमें अपने व्यक्तित्वकी रक्षा इतने माधुर्यके साथ करनेमें बहुत कम लोग समर्थ हुए होंगे। पर अब ज़माना बदल चुका है। देशको इस समय न तो अंगरेज़ी भाषण-शक्तिकी ज़रूरत है और न सुसंस्कृतिमय सहनशीलताकी। देशके नवयुवक अपने नेताओंमें क्रान्तिकारी मनोवृत्ति चाहते हैं और शास्त्रीजी उससे कोसों दूर हैं। नवयुवक समझते हैं कि देशके स्वाधीन हो जानेपर शास्त्रीजी जैसे सुसंस्कृत नेताओंका उपयोग हो सकता है, पर वर्त्तमान संग्रामके लिए वे अनुपयुक्त हैं। कुछ भी क्यों न हो, शास्त्रीजीने अपना कर्तव्य ईमानदारीके साथ निभाया है। जब स्वाधीनता-संग्राम सफलतापूर्वक समाप्त हो जायगा, आजकलकी राजनैतिक दलबन्दियाँ ख़त्म हो जायेंगी और लोग अपने-अपने राजनैतिक विरोधियोंके चरित्रपर न्याय तथा उदारतापूर्वक विचार करने बैठेंगे, उस समय उन्हें शास्त्रीजीकी देशभक्ति उज्ज्वल एवं असंदिग्ध प्रतीत होगी। शास्त्रीजी इससे ज़्यादा कुछ चाहते भी नहीं।

अप्रैल १९३६]

प्रिन्सिपल सुशीलकुमार रुद्र

भारतवर्षमें हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई इत्यादि अनेक धर्मों तथा जातियोंके मनुष्य रहते हैं। जो लोग इसे देशका दुर्भाग्य समझते हैं, वे भूल करते हैं, क्योंकि यदि यहाँ केवल एक ही जाति अथवा धर्मके मनुष्य रहते तो उसे वह अमूल्य गौरव प्राप्त न होता, जो भविष्यमें उसे मिलनेवाला है---यानी सब धर्मोंके अनुयायियोंमें एकता स्थापित करनेका सौभाग्य। जो लोग यह समझते हैं कि हिन्दुस्तानमें साम्प्रदायिक झगड़े अनन्त काल तक जारी रहेंगे, हिन्दू-मुसलमान आपसमें योंही लड़ते-झगड़ते रहेंगे, वे न तो परमात्मामें विश्वास रखते हैं और न इस देशके उज्ज्वल भविष्यमें ही। ये सब झगड़े क्षणस्थायी हैं और अज्ञानताके दूर होते ही इनका लोप हो जायगा। आवश्यकता इस बातकी है कि हम लोग एक-दूसरेको समझनेकी कोशिश करें। जो महानुभाव सारे जगत्को एक धर्मके झंडेके नीचे लानेका स्वप्न देख रहे हैं---चाहे वे मुसलमान हों या आर्यसमाजी---एक ऐसे संसारमें रह रहे हैं, जो अव्यावहारिक और काल्पनिक है। भारतका उद्धार सबको एक धार्मिक चक्कीके नीचे पीस डालनेसे नहीं होगा। इस तरहकी एकता बिल्कुल निर्जीव होगी। ज़रूरत इस बातकी है कि हम एक-दूसरेके गुणोंकी ओर ध्यान दें, एक-दूसरेकी-विशेषताओंको पहचानें और साथ ही इतनी सहिष्णुता रखें कि अपनेसे भिन्न विचार और मत रखनेवालोंको झूठा और बेईमान न समझें। भिन्नता इस संसारमें सदासे रहती आई है और सदा रहेगी। इस भिन्नतामें एकता स्थापित करना ही एक महत्त्वपूर्ण कार्य है और इस एकताको स्थापित करनेका श्रेय अधिकांशमें हमारी मातृभूमिको ही प्राप्त होगा।

अभी तक हम हिन्दू लोग हिन्दुस्तानी ईसाइयोंको तुच्छ दृष्टिसे

देखते आये हैं और वे लोग भी अपनेको साहब समझकर हमसे घृणा करते रहे हैं। यह प्रवृत्ति दोनों समाजोंके लिए हानिकारक प्रमाणित हुई है, और इसके दूर करनेका प्रयत्न होना चाहिए। इसका सर्वोत्तम उपाय यह है कि सुशिक्षित हिन्दू और सुशिक्षित ईसाई एक-दूसरेसे सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करें और फिर अपने समाजके साधारण मनुष्योंके हृदयमें जो ग़लत भावनाएँ उत्पन्न हो गई हैं, उन्हें दूर करें। दोनों समाज एक दूसरे सम्प्रदायोंके महापुरुषोंको पहचानें और उनका सम्मान करें। इस प्रकार शिक्षित जनताकी प्रवृत्ति बदलनेपर साधारण जनसमुदायके भी भाव बदल जायँगे। इसी उद्देश्यसे ईसाई-समाजके ही नहीं, भारतवर्षके—एक महापुरुष प्रिन्सिपल सुशीलकुमार रुद्रके जीवन-चरितकी दो-चार बातें यहाँ लिखी जाती हैं।

सुशीलकुमार रुद्रका जन्म सन् १८६१में एक बंगाली मिशनरीके घरमें हुआ था। २५ वर्षकी उम्रमें सन् १८८६में आप दिल्लीके सेंट स्टीफन्स कालेजमें प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए और ३७ वर्ष तक बड़ी योग्यतासे आपने इस कार्यको निभाया। आज दिल्ली और पंजाब प्रान्तमें सैकड़ों ही ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति मिलेंगे, जिन्हें प्रिन्सिपल रुद्रके शिष्य होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। रुद्र महोदय उन शान्त कार्यकर्ताओंमेंसे थे, जो विज्ञापनसे दूर भागते हैं और जो जनताकी वाहवाहीकी अपेक्षा अपने पवित्र अन्तःकरणकी स्वीकृतिको ही अधिक महत्त्व देते हैं। प्रिन्सिपल रुद्रका जीवन स्वार्थ-त्याग, तप और प्रेमका जीवन था। उनकी स्त्रीका उसी समय, जब उनकी उम्र अधिक नहीं थी, देहान्त हो गया था। वे तीन बच्चे छोड़कर मरी थीं, दो लड़के और एक लड़की, और उनका पालन-पोषण करना भी कठिन था; पर प्रिन्सिपल रुद्रने फिर विवाह नहीं किया।

जिस समय दीनबन्धु ऐंड्रूज़ भारतमें आये (२० मार्च, १९०४), उस समय श्री० रुद्र सेण्ट स्टीफन्स कालेजमें प्रोफ़ेसर थे। मि० ऐण्ड्रूज़ भी उसी कालेजमें आकर अध्यापक नियुक्त हुए। आज मि० ऐण्ड्रूज़ इतनी

सफलताके साथ जो भारतीय प्रश्नोंपर भारतीय दृष्टिसे विचार कर सकते हैं, इसका मुख्य श्रेय प्रिन्सिपल रुद्रको ही मिलना चाहिए। वे एक जगह लिखते हैं--

"श्रीयुत रुद्र महाशयकी मित्रताके बिना मैं इतनी जल्दी यह बात कदापि न समझ सकता कि पराधीन जातिके होनेके कारण हिन्दुस्तानियों-को अपने जीवनमें कितनी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। बाल्यावस्थामें मेरे पिताजीने मुझे यही बतलाया था कि इंगलैण्डने भारतके साथ महान् उपकार किये हैं। मुझे यही शिक्षा दी गई थी कि हिन्दुस्तान इंगलैण्डका अत्यन्त ऋणी है, लेकिन श्री० रुद्रके साथ रहनेपर मुझे पता लगा कि मैंने इतिहासका अध्ययन बिलकुल असत्य मार्गसे किया है। अब मैं समझने लगा कि इंगलैण्डने घोर स्वार्थके साथ हिन्दुस्तानका धन चूसा है, और पराधीन भारतको हर तरहके असंख्य अपमान सहनेके लिए मजबूर किया है। जब मैं विलायतसे आया ही था, मैंने कालेजकी डिबेटिंग सोसाइटीमें अत्यन्त उत्साह-पूर्वक उन उपकारोंका वर्णन किया था, जो इंगलैण्डने हिन्दुस्तानपर किये हैं। एक बार इस डिबेटिंग सोसाइटीमें 'भारतीय निर्धनता' विषयपर बहस हुई थी। लड़के कहते थे कि अंग्रेज़ोंके राज्यमें हिन्दुस्तान बराबर निर्धन होता जाता है। मैंने बड़े ज़ोरदार शब्दोंमें उन लड़कोंके इस सिद्धान्तका विरोध किया था। आज मैं स्वप्नमें भी इस प्रकारकी भूल कदापि नहीं कर सकता, लेकिन उस वक़्त मेरे ख़्यालात ही दूसरे थे। उस समय मैं समझता था कि मेरे विचार बिल्कुल ठीक हैं। मालूम नहीं कि उस समय श्रोताओंपर मेरी इन बातोंका क्या प्रभाव पड़ा होगा। अवश्य ही उन्होंने मुझे बड़ा अहंकारी समझा होगा। ईश्वर-कृपासे श्री० रुद्र मुझे सर्वोत्तम मित्र मिल गये थे। जब वे समझ जाते कि मैंने कोई भूल की है तो फ़ौरन् ही मेरी भूल मुझे बतला देते थे। वे मेरे साथ घंटों तक बहस किया करते थे, और जब तक वे मेरे भ्रमात्मक विचारोंको दूर नहीं कर देते थे, तबतक उन्हें चैन नहीं

पड़ता था। मेरे विचार उन दिनों बिल्कुल साम्राज्यवादियोंकी तरहके थे। आज जब मैं उन पुरानी बातोंको याद करता हूँ तो मुझे श्री० रुद्रकी अमूल्य मित्रताका पता लगता है। उन दिनों मेरे साम्राज्यवादी होनेपर भी भारतीयोंने मुझपर सन्देह नहीं किया, इसका मुख्य कारण श्री० रुद्रकी मित्रता ही थी। वे हर तरहसे मेरी अपेक्षा अधिक योग्य थे। वे मेरे मित्र ही नहीं, बल्कि मेरे शिक्षक भी थे। उनके चरणोंके निकट बैठकर मैंने उनसे बहुत-सी बातें सीखी थीं। यदि श्री० रुद्र मेरे शिक्षक न होते तो मेरे अहंकार-पूर्ण भाव शायद ही छूटते। संसारमें सुशील-कुमार रुद्रकी तरहके मित्र दुर्लभ ही हैं।"

महात्मा गान्धीजीने श्री० रुद्रके स्वर्गवासपर 'यंग इण्डिया'में लिखा था—"बहुतसे आदमी यह बात नहीं जानते कि प्रिन्सिपल रुद्रने ही हमें सी० एफ़० ऐण्ड्रूज़को दिया। ये दोनों जुड़वाँ भाइयोंकी तरह थे, और दोनोंका सम्बन्ध एक आदर्श मित्रताका नमूना था।"

जब सेण्ट स्टीफन्स-कालेजके प्रिन्सिपलका पद ख़ाली हुआ, तो लाहौरके लार्ड बिशपने मि० ऐण्ड्रूज़से प्रिन्सिपल बननेके लिए अनुरोध किया। उन्होंने जवाब दिया—"श्री० रुद्र मुझसे बहुत पुराने हैं। उन्हें प्रिन्सिपल बनाइये। यदि आप उनके अधिकारको छीनकर किसी दूसरेको प्रिन्सिपल बनावेंगे, तो मैं इस्तीफ़ा दे दूंगा।" इस प्रकार श्री० रुद्र प्रिन्सिपल बने।

मि० ऐण्ड्रूज़ने अपने संस्मरणोंमें प्रिन्सिपल रुद्रसे सम्बन्ध रखनेवाली एक घटना बतलाई थी। भारत आनेके कुछ ही समय बाद गरमियोंके दिनोंमें मि० ऐण्ड्रूज़ शिमलाके निकट सनावरके फ़ौजी विद्यालयके प्रिन्सिपल बनकर चले गये थे। वे लिखते हैं—

"जिन दिनों मैं सनावरमें उस फ़ौजी विद्यालयके प्रिन्सिपलका काम करता था, उन्हीं दिनों वहाँके एक लड़कियोंके स्कूलमें एक लेडी सुप्रिण्टेण्डेण्ट नियुक्त हुई थी। जिस घरमें मैं रहता था, उसी घरमें रहनेके लिए उसे भी जगह दी गई थी; लेकिन जबतक मैं प्रिन्सिपल था, वह घर वास्तवमें

मेरा ही था। मैंने श्री० रुद्रको, जो उस समय दिल्लीमें थे, लिख दिया था—'आप गरमीके दिनोंमें यहाँ आकर मेरा आतिथ्य स्वीकार कीजिये।' मुझे इस बातका स्वप्नमें भी ख़याल नहीं था कि वह लेडी इस बातपर आपत्ति करेगी। जब उस लेडीने सुना कि मेरे एक हिन्दुस्तानी मित्र आनेवाले हैं तो उसने मुझसे कहा—'मैं किसी हिन्दुस्तानीके साथ एक मेज़पर बैठकर खाना हर्गिज़ नहीं खा सकती।' मैंने उससे कहा—'आपकी यह बात क्रिश्चियन धर्मके बिलकुल प्रतिकूल है। आपको इतना अनुदार नहीं होना चाहिए।' जैसे-तैसे समझा-बुझाकर मैंने उसे राज़ी किया, लेकिन जब यह लेडी सनावरसे शिमला गई तो वहाँके ऐंग्लो इण्डियन लोगोंने उसे बहका दिया। इन लोगोंने उस लेडीसे कह दिया था—'इस मामलेमें हर्गिज़ मत दबना।' मैं बड़ी आफ़तमें था। वह लेडी मेरी अतिथि थी, और सुप्रिण्टेण्डेण्ट होनेकी वजहसे उस घरमें रहनेका उसका कुछ अधिकार भी था। मैं दिलमें सोचता था, 'जब श्रीयुत रुद्र इस लेडीकी इस बातको सुनेंगे तो वे क्या ख़याल करेंगे?' मैंने फिर भी उस लेडीको समझाया, लेकिन वह भला क्यों मानने लगी! बड़ी मुश्किलमें जान थी। इधर मैं अपनी नौकरीसे इस्तीफ़ा नहीं दे सकता था, क्योंकि मैं बिशप साहबसे काम करनेके लिए प्रतिज्ञा कर चुका था और उधर मैं अपने प्रिय मित्र श्रीयुत रुद्रके साथ यह विश्वासघात भी नहीं कर सकता था। आख़िरकार मैंने यह सब मामला श्रीयुत रुद्रको लिख भेजा और साथ ही यह भी निवेदन कर दिया—'अगर आप उचित समझें तो मैं अपनी जगहसे इस्तीफ़ा देनेके लिए तैयार हूँ।' श्रीयुत रुद्रने बड़ी उदारता-पूर्वक मुझे लिखा—'आप हर्गिज़ ऐसा न कीजिए। मैं कदापि किसी लेडीको कष्ट नहीं देना चाहता।' परिणाम यह हुआ कि श्री० रुद्र गरमियोंके दिनोंमें सनावर नहीं आये। इस घटनासे मुझे अत्यन्त खेद हुआ। सबसे ज़्यादा दुःख मुझे इस बातका था कि इस मामलेमें मुझे दब जाना पड़ा। यद्यपि यह कार्य मैंने श्री रुद्रकी पूर्ण

अनुमतिसे किया था, लेकिन इस घटनाने मेरी आँखें खोल दीं। इस घटनाने मुझे सिखला दिया कि पराधीनताके कारण हिन्दुस्तानियोंको कितने अपमान सहने पड़ते हैं। भारतवर्षकी पराधीनताकी बात मेरी आत्मामें जमकर बैठ गई और मैं अच्छी तरह समझ गया कि हिंदुस्तानियों और अंग्रेज़ोंमें इस प्रकारका भेद करना ईसाई धर्मके बिल्कुल प्रतिकूल है। मेरी आत्मा मुझे अपराधी ठहराती थी, लेकिन उस अवसरपर मैं कुछ कर नहीं सकता था। यदि महात्मा गान्धीजी-जैसी प्रबल आत्मा मुझमें होती तो मैं अन्त तक लड़ता-झगड़ता, लेकिन आखिरकार दिन-रात सोचनेके बाद श्री० रुद्रकी अनुमतिसे मैंने दब जाना ही ठीक समझा।"

प्रेम और सहानुभूति श्री० रुद्रके विशेष गुण थे। विद्यार्थियोंपर उनका जितना प्रभाव था और विद्यार्थी जितना उन्हें प्रेम करते थे, उतना किसी दूसरे अध्यापकको नहीं। सेण्ट स्टीफेन्स कालेजके अध्यापक मि० सी० बी० यंगने 'बम्बई क्रानीकल'में लिखा था—"हम लोगोंको जो प्रिन्सिपल रुद्रके साथ पढ़ाते थे, यह देखकर सचमुच ईर्ष्या होती थी कि लड़के उन्हें इतना अधिक प्रेम कैसे करते हैं! हम लोगोंके बड़े-बड़े लेक्चर और कठोर-से-कठोर दण्डोंसे जो असर लड़कोंपर नहीं पड़ता था, वह उनके एक शब्द या छोटेसे इशारेसे पड़ जाता था। छात्रोंपर उनका रौब भी काफ़ी था और वे उनसे प्रेम भी करते थे।"

हिन्दुस्तानी ईसाइयोंपर यह अपराध लगाया जाता है कि उनमें देश-प्रेमकी मात्रा बहुत कम होती है। यद्यपि यह स्थिति अब बहुत-कुछ बदल चुकी है, पर प्रिन्सिपल रुद्र प्रारम्भसे ही बड़े देशभक्त थे और इसमें सन्देह नहीं कि उनके व्यक्तित्वने हिन्दुस्तानी ईसाइयोंकी मनोवृत्तिको स्वदेश-प्रेमकी ओर प्रेरित करनेमें बड़ी भारी मदद दी है। प्रिन्सिपल रुद्रका देश-प्रेम दिखावटी नहीं था। प्रोफ़ेसर एन० के० सेनने उनके विषयमें लिखा था—

"प्रिन्सिपल रुद्र राजनीतिमें साम्प्रदायिक मताधिकारके बिल्कुल विरुद्ध थे और बड़े साहस-पूर्वक उन्होंने हिन्दुस्तानी ईसाइयोंके अपने लिए अलग राजनैतिक अस्तित्व माँगने और साम्प्रदायिक चुनाव चाहनेका घोर विरोध किया था। वे कहते थे कि ऐसा करना हिन्दुस्तानी ईसाई-समाजके लिए सत्यानाशका कारण होगा।"

महात्मा गान्धीजीने 'यंग इंडिया'में लिखा था--

"प्रिन्सिपल रुद्र राजनीतिका अध्ययन बड़ी उत्सुकता और सावधानीके साथ करते थे। गरम-दलवालोंमें उनके बहुतसे मित्र थे। यद्यपि वे इस मित्रताका प्रदर्शन नहीं करते थे, पर साथ ही वे उसे छिपाते भी नहीं थे। सन् १९१५से, जबसे मैं अफ्रीकासे हिन्दुस्तानको लौटा, जब कभी मैं दिल्ली जाता तो प्रिन्सिपल रुद्रके मकानपर ही ठहरता था। जबतक मैंने सत्याग्रहकी घोषणा नहीं की थी, तबतक तो कोई बात नहीं थी, पर रौलट-ऐक्टके मामलेमें सत्याग्रहकी घोषणा करनेके बाद मैंने प्रिन्सिपल रुद्रसे कहा--'मेरे आपके घरपर ठहरनेसे आपकी पोज़ीशनमें फ़र्क़ आ सकता है और आपके मित्रोंकी स्थिति भी ख़राब हो सकती है, इसलिए आप मुझे दूसरी जगह ठहरने दीजिये।' बहुतसे अंग्रेज़ उनके मित्र थे, ऊँचे अफ़सरोंसे भी उनकी मित्रता थी, उनका सम्बन्ध एक शुद्ध विलायती मिशनसे था और अपने कालेजमें वे प्रथम ही हिन्दुस्तानी थे, जो प्रिन्सिपलके पदपर नियुक्त हुए थे। इन सब बातोंका ख़याल करके ही मैंने उनसे यह प्रार्थना की थी कि मुझे दूसरी जगह ठहर जाने दीजिये। इसका जो जवाब प्रिन्सिपल रुद्रने दिया, वह उन्हीके उपयुक्त था।

"मेरा धर्म उससे कहीं अधिक गम्भीर है, जितना कि बहुत-से आदमी ख़याल करते हैं। मेरे कुछ विचार तो ऐसे हैं, जिन्हें मैं अपने जीवनका आधार कह सकता हूँ। इन विचारोंको मैंने गम्भीर और दीर्घकालीन प्रार्थनाओंके बाद स्थिर किया है। मेरे अंग्रेज मित्र मेरे इन विचारोंको

भलीभाँति जानते हैं। आपको अपने यहाँ एक सम्मानित मित्र और अतिथिके तौरपर ठहरानेमें कोई ग़लतफ़हमी नहीं हो सकती और अगर कभी ऐसा मौक़ा आवे भी कि मुझे दो चीज़ोंमेंसे एक चुननी पड़े, यानी एक ओर तो अंग्रेज़ोंपर मेरा जो प्रभाव है वह, और दूसरी ओर आप, तो मैं क्या चीज़ चुनूँगा, उसे मैं ख़ूब जानता हूँ। तुम मुझे छोड़कर जा नहीं सकते।" तब मैंने कहा—"मुझसे मिलनेके लिए तो बीसियों तरहके आदमी आया करते हैं और अगर मैं दिल्लीमें आपके यहाँ ठहरा तो आपका घर तो एक तरहकी सराय हो जायगा!" प्रिन्सिपल रुद्रने जवाब दिया—"सच बात तो यह है कि मुझे इन आदमियोंका आना-जाना बहुत अच्छा लगता है। आपके मित्र भी, जो आपसे मिलनेके लिए आते हैं, मेरे लिए प्रिय हैं। मुझे इस बातसे प्रसन्नता होती है कि आपको अपने घर ठहराकर मैं अपने देशकी थोड़ी-सी सेवा कर रहा हूँ।"

महात्माजी आगे चलकर लिखते हैं—

"पाठक शायद इस बातको न जानते होंगे कि वायसरायको जो खुली-चिट्ठी मैंने ख़िलाफ़तके विषयमें लिखी थी, वह प्रिन्सिपल रुद्रके ही घर बैठकर लिखी थी। प्रिन्सिपल रुद्र और चार्ली ऐण्ड्रूज़ने उस चिट्ठीका संशोधन किया था। प्रिन्सिपल रुद्रके आतिथ्य-पूर्ण घरपर ही मैंने असहयोगकी कल्पना की थी और उसका विचार दृढ़ किया था।"

जब 'मैनचेस्टर-गार्डियन'का विशेष संवाददाता प्रिन्सिपल रुद्रसे आकर मिला था तो प्रिन्सिपल रुद्रने उससे कहा था—

"आज शिक्षित भारतीयोंकी नस-नसमें राष्ट्रियताकी शक्ति व्याप्त हो रही है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात जो मुझे जँचती है, वह है हिन्दुस्तानी ईसाइयोंकी मनोवृत्तिका परिवर्तन। बीस वर्ष पहले सिरसे लेकर पैरतक हिन्दुस्तानी ईसाई राष्ट्रियताके विरोधी थे, पर आज हिन्दुस्तानी ईसाई-समाजमें ऐसे-ऐसे नवयुवक पाये जाते हैं, जो राष्ट्रिय हिन्दुओंसे भी अधिक गरम विचारोंके हैं और हम ईसाइयोंमें जो सर्वश्रेष्ठ

हैं, वे ही राष्ट्रियताकी ओर अधिक आकर्षित हुए हैं। दत्त और पॉल[1] को ही लीजिये।...अनेक नवयुवक तो ऐसे हैं, जिन्हें अंग्रेज़ोंकी शकल ही नहीं सुहाती। यह देखकर मुझे बुरा लगता है, क्योंकि जब मैं बालक था, हमारे हृदयमें अंग्रेज़ोंके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। महात्मा गान्धीजीको भी यह देखकर बुरा मालूम होता है। महात्मा गान्धीसे बढ़कर अंग्रेज़ोंका दूसरा कोई प्रशंसक और मित्र नहीं है, पर वे भी नवयुवकोंके विचारोंको बदलनेमें असमर्थ हैं। अब भी समय है, यदि सरकार चाहे तो नवयुवकोंकी श्रद्धा अंग्रेज़ों तथा उनके न्यायमें क़ायम रख सकती है। पर अगर अब भी अंग्रेज़ जाति कठोरहृदय बनी रहे तो पुरानी मित्रताका स्थान ख़ून-ख़राबी और अराजकता ले लेगी।"

जब प्रिन्सिपल रुद्र सोलनमें अपनी मृत्युशय्यापर पड़े हुए थे, उस समय मि० ऐण्ड्रूज़ उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगे थे। एक दिन मि० ऐण्ड्रूज़ लार्ड लिटनके यहाँ, जो उन दिनों स्थानापन्न वायसराय थे, भोजन करने गये। उस समय प्रिन्सिपल रुद्रने उनसे कहा कि मेरा एक सन्देश लार्ड लिटनसे कह देना--

"आप सच्चे ईसाई सज्जन बन जाइये और ग़रीबोंपर रहम कीजिये। यदि आप इतना करेंगे, तो मेरे देशवासी आपका अनुगमन करेंगे।" इन्हीं दिनों महात्माजीको भी, जो कई बार प्रिन्सिपल रुद्रके स्वास्थ्यके विषयमें चिट्ठी और तार द्वारा पूछ चुके थे, उन्होंने लिखवा भेजा था-- "अभी बहुत दिनों तक ब्रिटिश जाति और ब्रिटिश नौकरोंकी हमें ज़रूरत पड़ेगी। हमारा कर्तव्य है कि हम अधिकाधिक ग़रीबोंके विषयमें चिन्तन करें और उनकी सुधि लें।"

लाला लाजपतरायजीने अपने पत्र 'पीपुल'के पाँचवीं जुलाईके अंकमें लिखा था--

---

[1] डाक्टर एस० के० दत्त और मि० के० टी० पाल।

"यद्यपि मि० रुद्र ईसाई थे और दूसरी पीढ़ीके ईसाई थे, पर उनमें हिन्दुओंके कई गुण अच्छी मात्रामें पाये जाते थे--यानी नम्रता, मिलनसारी और अटूट अतिथि-सत्कार। ईसाई-समाजमें वही पहले आदमी थे, जिन्होंने ईसाइयोंके पृथक् निर्वाचन और पृथक् अधिकारोके ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ बुलन्द की। वे चाहते थे कि उनका ईसाई समाज राष्ट्रके जीवनके साथ सम्मिलित हो। दिल्लीमें यद्यपि वे शान्ति-पूर्वक अपना धार्मिक जीवन व्यतीत करते थे, पर हिन्दू-मुसलमानोंमें झगड़ा होनेपर उनका काम दोनों दलोंमें मेल करानेका ही होता था। अपने मिशन-कालेजमें, जिसके कि वे प्रिन्सिपल थे, उन्होंने एक हिन्दूको वायस-प्रिन्सिपल बना दिया था। इसके बाद उन्होंने कोषाध्यक्षके पदपर एक हिन्दूको ही नियुक्त किया था। कालेजकी प्रबन्धकारिणी समितिमें भी हिन्दू और मुसलमान चुने जाते थे। यद्यपि कट्टर ईसाई लोग इन सुधारोंका विरोध करते थे, पर उन्होंने इस बातकी कभी परवाह नही की। उन्होंने यह निश्चित कर लिया था कि सेण्ट स्टीफेन्स-कालेजमें किसी तरहका साम्प्रदायिक भेदभाव नहीं रह सकता। यह उनकी संस्थाकी अनिवार्य विशेषता थी और इस विशेषताको क़ायम रखनेके प्रश्नपर वे बिल्कुल दबते नहीं थे। सबको समान दृष्टिसे देखना और जातीय तथा साम्प्रदायिक भेदभावसे दूर रहना, उनके ईसाई-धर्मका एक सिद्धान्त था और अपने धार्मिक सिद्धान्तको वे भला कैसे छोड़ सकते थे? यही कारण था कि उनके ज़मानेमें सेण्ट स्टीफेन्स कालेज क़रीब-क़रीब राष्ट्रिय-कालेज ही बन गया था और सब सम्प्रदायोंकी एकता तथा सम्मिलित शक्तिके सच्चे सिद्धान्तोंके अनुसार उसका संचालन होता था।"

कालेजमें इतने लोकप्रिय होनेके कारण उनके दो गुण थे: एक तो उनकी निस्वार्थता और दूसरे उनका सच्चा ईसाईपन। आठ यूरोपियन--आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिजके ग्रेजुएट--उनके नीचे काम करते थे और इस बातमें अपना गौरव मानते थे कि उन्हें प्रिन्सिपल रुद्र जैसे महानुभावकी

अध्यक्षतामें काम करनेका अवसर मिलता है। जब शाही कमीशन भारतमें आया था और श्री० ऐण्ड्रूज़ने उसके सामने गवाही दी थी तो मि० गोखलेने मि० ऐण्ड्रूज़से जिरह करते हुए यह बात खास तौरसे पूछी थी कि यूरोपियन लोग प्रिन्सिपल रुद्रके अधीन काम करनेमें किसी तरहकी आना-कानी तो नहीं करते। उस समय मि० ऐड्रूज़ने यही उत्तर दिया था कि हम लोगोंको इतनी अधिक प्रसन्नता किसी और चीज़से नहीं होती, जितनी प्रिन्सिपल रुद्रके अधीन काम करनेसे होती है। ब्रिटेनके वर्तमान प्रधान मन्त्री रैमज़े मैकडानेल्ड भी उस समय इसी शाही कमीशनके सदस्य थे और उन्होंने भी मि० ऐण्ड्रूज़से यही सवाल किये थे। लार्ड आइलिंगटन पर इस बातका बड़ा प्रभाव पड़ा था।

प्रिन्सिपल रुद्रका एक बड़ा गुण उनकी असाधारण नम्रता थी। महात्माजीने 'एक शान्त सेवक' शीर्षक लेखमें उनके इस गुणका वर्णन करते हुए लिखा था——

"भारतकी खास बीमारी उसकी राजनैतिक पराधीनता है और इसी कारणसे भारतभूमि केवल उन्हींको जानती-पहचानती और उन्हींका सम्मान करती है, जो खुले आम नौकरशाहीके साथ संग्राम करते हैं——उस नौकरशाहीके साथ जो फ़ौज और जहाज़ी बेड़ा, रुपया पैसा और कूटनीतिकी खाइयोंसे अपनेको सुरक्षित करके हमारे साथ लड़ रही है। भारतभूमि इसी कारणसे स्वभावतः अपने उन पुत्रोंको, जो चुपचाप निःस्वार्थभावसे और अपने आपको मिटाते हुए राजनैतिक क्षेत्रके अतिरिक्त अन्य क्षेत्रोंमें कार्य कर रहे हैं, कम पहचानती है। सेण्ट स्टीफेन्स कालेजके प्रिन्सिपल रुद्र इसी तरहके मातृभूमिके नम्र सेवकोंमेंसे थे।"

प्रिन्सिपल रुद्र सच्चे ईसाई थे, पर उनका ईसाई-धर्म उदार था। जब कभी उनपर कोई संकट आ पड़ता, तो वे अपने अन्तःकरणसे केवल एक प्रश्न करते——"प्रभु ईसामसीह इस स्थितिमें क्या करते ?" उनका अन्तःकरण जो उत्तर देता, बस उसीके अनुसार कार्य करते, चाहे

उनके अफ़सर उसे पसन्द करें या नहीं, उससे जनता नाराज़ हो या खुश। महायुद्धके समयमें उनके तीनों बच्चे--दोनों लड़के और लड़की--विलायतमें थे। लड़की इंग्लैण्डमें थी और दोनों लड़के फ़ान्समें और छोटा लड़का तो युद्धमें लड़ रहा था। उन दिनों लड़ाईके भयंकर समाचार आ रहे थे और हताहतोंकी सूचियाँ पत्रोंमें निकल रही थीं, पर प्रिन्सिपल रुद्र कभी विचलित नहीं हुए। हमेशा प्रसन्नचित्त ही दीख पड़ते थे। महात्माजीने ठीक ही लिखा था--"उनके सब कार्योंका आधार धर्म था।"

११ जून सन् १९२५को श्री० रुद्र सोलनमें बीमार हुए। उनके सुपुत्र प्रोफ़ेसर सुधीरकुमार रुद्र तथा उनकी पुत्रवधू उस समय उनके निकट थे। जो कुछ इलाज हो सका, किया गया; पर उनकी हालत सुधरी नहीं। अकस्मात् उसी दिन, जिस दिन मि० रुद्र बीमार हुए थे, श्री० ऐण्ड्रूज़ वहाँ जा पहुँचे और बराबर उनकी सेवा-शुश्रूषा करते रहे। प्रातःकाल और सायंकालके समय वे प्रिन्सिपल रुद्रकी खाटके निकट बैठकर ईश्वर-प्रार्थना करते थे। एक दिन बीमारीके समयमें दिल्लीके सुप्रसिद्ध नागरिक श्री रघुवीरसिंह वहाँ पहुँचे। वे प्रिन्सिपल रुद्रके पुराने शिष्य थे। अपने शिष्यको देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए। यद्यपि उस दिन उन्हें अत्यन्त कष्ट था और मुँहसे आवाज़ भी नहीं निकलती थी, पर उनका हृदय उमड़ आया और वे बोले--"रघुवीर, मेरे प्यारे लड़के, तुम खूब आये! मुझे बड़ी खुशी है। मैं बहुत प्रसन्न हूँ, तुम्हारे आनेसे मुझे बड़ा हर्ष है। तुम क्या आये, मेरे लिए तो मानो दिल्ली नगर ही आ गया। तुममें मैं दिल्ली नगर देखता हूँ, सम्पूर्ण दिल्ली नगर! तुममें मैं दिल्ली नगरका भविष्य देखता हूँ, दिल्लीके नवयुवकोंको देखता हूँ। दिल्लीके लिए कार्य करो, दिल्लीमें शिक्षाका प्रचार करो, दिल्लीको धार्मिक बनाओ। ईश्वर तुम्हें खुश रखे और तुम फूलो-फलो।"

जिस शिक्षकने अपने जीवनके ३७ वर्ष दिल्लीमें शिक्षा-प्रचार करनेमें

लगा दिये, उसके हृदयमें अपने नगरके प्रति प्रेम होना स्वाभाविक ही था एक दूसरे सज्जनसे उन्होंने कहा—"इस संसारसे जानेके लिए मैं बिल्कुल तैयार हूं, जाते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता भी है। मुझे बिल्कुल दुःख नहीं है, थोड़ा-सा भी खेद नहीं, रंजका नामोनिशान नहीं। जबसे मैं अपनी माताके पेटमें आया, तबसे आजतक परमात्मा मुझपर प्रसन्न ही रहा है। मुझपर उसकी सदा कृपा ही रही है। मुझे किसी तरहका दुःख नहीं। मैं खूब प्रसन्न हूँ।" ये शब्द उन्होंने तब कहे थे, जब उन्हें साँस लेनेमें भी कठिनाई होती थी! अपने अन्तिम शब्द उन्होंने डाक्टरसे कहे थे—

"डाक्टर, अन्तिम नमस्कार, जो कुछ तुमने मेरे लिए किया, उसका बदला देनेके लिए मैं जीवित नहीं रहूँगा। नमस्कार! ईश्वरकी लीला अद्भत है, अद्भुत है!"

२९ जूनके प्रातःकाल उनका स्वर्गवास हो गया। दिल्लीवालोंके कितने ही तार आये कि उनका शव दिल्ली लाया जाय, पर मि० एण्ड्रूज़-की यही सलाह थी कि शान्तिपूर्वक बिना भीड़भाड़ और दिखावेके उनको दफ़नाना ठीक होगा। उनके सुपुत्र प्रोफ़ेसर रुद्र लिखते है—"हम लोग उन्हें समाधिस्थलको ले चले। यद्यपि आदमियोंकी संख्या थोड़ी ही थी, पर हम जानते थे कि हमारे साथ कितने ही आदमियोंका हृदय है। उस थोड़ेसे समुदायमें भी तरह-तरहके आदमी थे। कुछ अंग्रेज थे। कुछ तो मित्र थे और अनेक बिलकुल अपरिचित, कुछ स्कूलोंके लड़के थे, बाजारके आदमी थे, पोस्टमैन थे और कितने ही नौकर-चाकर ग़रीब थे! ये सभी लोग हमारे साथ प्रार्थनामें सम्मिलित हुए।"

ग़रीब लोगोंको वे ज़िन्दगी-भर नहीं भूले। भला, ग़रीब उन्हें आखिरी वक़्तपर क्यों भूलते?

प्रिन्सिपल रुद्र एक हज़ार रुपये सेण्ट स्टीफ़ेन्स कालेजके प्रिन्सिपलको

इसलिए दे गये कि उसके व्याजसे हर साल कालेज और छात्रालयके छोटे-छोटे नौकरोंको भोज दिया जाय !

परमात्मा करे कि भारतीय ईसाई-समाजमें प्रिन्सिपल रुद्र जैसे देश-भक्त, छात्र-हितैषी, दीन-सहायक और सच्चे सेवक उत्पन्न हों, जो उसका मुख उज्ज्वल करें तथा मातृभूमिका गौरव बढ़ावें।

सितम्बर १९२९]

दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़

सर्वज्ञ परमात्मा भी कभी-कभी भौगोलिक भूल कर बैठता है। सुप्रसिद्ध अमेरिकन दार्शनिक एमर्सनके विषयमें अंग्रेज़ी विश्वकोषमें लिखा है, "एमर्सन एक बुद्धिवादी ब्राह्मण थे।" एक दूसरे लेखक Percival Chubb ने एमर्सनके निबन्धोंकी भूमिकामें लिखा है—

"एमर्सनके बाज़-बाज़ विचार इतने ऊँचे उठते हैं कि हम उन्हें 'ब्राह्मण' कह सकते हैं।" उन्हें पढ़कर एक शिक्षित हिन्दू कह सकता है—'एमर्सन एक भौगोलिक भूल थे। उनका जन्म तो भारतवर्षमें होना चाहिए था।" यही बात विलायतके सुप्रसिद्ध लेखक स्वर्गीय एडवर्ड कार्पेण्टरके विषयमें कही जा सकती है, पर दूर जानेकी ज़रूरत क्या है? भारतमें ही आपको परमात्माकी दो चलती-फिरती भौगोलिक भूल दीख सकती हैं: एक तो भारत-भक्त ऐण्ड्रूज़ और दूसरी श्रीमती सरोजिनी नायडू। पहलेका जन्म कहीं काशी या प्रयागमें होना चाहिए था, दूसरेका पेरिस या न्यूयार्कमें। दोनोंका अन्तर प्राच्य और पाश्चात्य मनोवृत्तिका अन्तर है। यहाँ दोनोंकी तुलना करके किसीको छोटा-बड़ा कहना हमारा उद्देश्य नहीं है। पहलेके हम भक्त हैं, दूसरेके प्रशंसक। यदि कोई हमसे पूछे कि प्राच्य और पाश्चात्यमें कितना अन्तर है तो हम यही उत्तर देंगे कि जितना शान्तिनिकेतन स्थित वेणुकुंजकी पर्णकुटी और अशान्त बम्बईके ताजमहल होटलके २०) रोज़वाले किरायेके कमरेमें! भौगोलिक भूलके कारण दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़का जन्म भारतके बजाय इंग्लैण्डके उत्तरी भागमें न्यू कैसिल आौन टाइन नामक नगरमें १२ फरवरी सन् १८७१ में हुआ था। आपके पितामह जान ऐण्ड्रूज़ एक सुप्रसिद्ध शिक्षक थे। वे इतने सीधे थे कि अपने विद्यार्थियोंको कभी नहीं पीटते थे। कहा जाता है कि एक बार उनके बहुत-से विद्यार्थियोंने

उनके पास जाकर निवेदन किया था––"आप हमपर हद-से-ज़्यादा कृपा करते हैं। अब आप इस बेंतसे हमारी ख़बर लिया कीजिए।"

मि० ऐण्ड्रूज़के पिताका नाम जान एडविन ऐण्ड्रूज़ और माताका नाम मेरी शारलोट था। इस दम्पत्तिके चौदह सन्तान हुई, पाँच लड़के और नौ लड़कियाँ। इनमें तीन लड़कियोंका देहान्त हो गया, शेष ग्यारह अब भी जीवित हैं। मि० ऐण्ड्रूज़ अपने माता-पिताकी चतुर्थ सन्तान हैं। इतने बड़े कुटुम्बके पालन-पोषणमें उनके माता-पिताको बहुत कठिनाई उठानी पड़ी।

मि० ऐण्ड्रूज़की माताके नाम कुछ धन-सम्पत्ति थी। उसका जो मुख्य ट्रस्टी था, वह उनके पिताजीका बड़ा मित्र था। वह ट्रस्टी बड़ा बेईमान निकला और इसने सट्टा खेलकर सारी सम्पत्ति नष्ट कर दी! उस समय मि० ऐण्ड्रूज़ नौ वर्षके थे। उस समयकी दुर्घटनाका ज़िक्र करते हुए उन्होंने कहा था––

"पिताजीने बैंकके मैनेजरके नाम तार देकर पूछा कि मेरी माताके नाम बैंकमें कितना रुपया बाक़ी है? वहाँसे जवाब आया कि कुछ भी नहीं। इस समाचारको पाकर पिताजीके हृदयको जो धक्का लगा, उसकी याद मैं ज़िन्दगी-भर नहीं भूल सकता। पिताजीको इसलिए और भी अधिक दुःख था कि वह रुपया मेरी माताका था। इसके सिवा एक ऐसे मित्रने, जिसको वे सबसे अधिक प्रेम करते थे, उनके साथ इस प्रकार विश्वासघात किया था। पिताजी दुःखके कारण बिल्कुल चुप रहे। मेरी माँने ही यह सम्पूर्ण बात मुझे सुनाई। माँको उतना दुःख अपनी सम्पत्तिके नष्ट होनेका नहीं था, जितनी उन्हें पिताजीके लिए चिन्ता थी। जब सन्ध्या हुई तो हम सबने मिलकर नित्यके नियमानुसार प्रार्थना की। पिताजीने बाइबिलका वह वाक्य पढ़ा––'यदि मेरा कोई शत्रु इस प्रकार विश्वासघात करता तो मैं उसे सहन कर सकता था, लेकिन यह कार्य तूने––मेरे परिचित मित्र ने––किया, जिसपर मेरा इतना अधिक विश्वास था।' इस वाक्यको पढ़नेके

बाद पिताजी बिल्कुल चुप हो गये। उस समय मैंने देखा कि वे अपने आँसुओंको रोकनेकी चेष्टा कर रहे हैं। उसके बाद हम सबने घुटने टेक-कर प्रार्थना की। पिताजीकी उस दिनकी सम्पूर्ण प्रार्थनाका तात्पर्य यही था—'हे परमात्मा, मेरे मित्रने जो अपराध किया है, तदर्थ उसे क्षमा कीजिए। उसके हृदयमें ऐसी प्रेरणा कीजिए कि वह अपनी भूलको समझ-कर पश्चात्ताप करे और उत्तमंतर रीतिसे अपना जीवन व्यतीत करे।' अपने पिताजीकी यह प्रार्थना मुझे जीवन-भर याद रहेगी। वे हम सबको समझाया करते थे—'देखो, तुम लोग अपने हृदयमें मेरे मित्रके प्रति द्वेष-भाव मत रखना। मैं मानता हूँ कि उसने घोर अपराध किया है, लेकिन मुझे आशा है कि वह आगे चलकर अपने अपराधको स्वीकार कर लेगा।' लोगोंने उनसे कहा भी कि आप इसपर मुक़दमा चलाइए, पर पिताजीने उन लोगोंको डाँट बता दी।"

माताजीके इस रुपयेके ब्याजसे कुटुम्बके पालन-पोषणमें बड़ी मदद मिलती थी और उसके अभावसे सबको बड़ी तकलीफ़ होने लगी। निर्धन आदमियोंकी बस्तीमें एक मकान लेकर सबको रहना पड़ा। मि० ऐण्ड्रूज़ और उनके भाई-बहनोंको खानेके लिए सूखी रोटी छोड़कर और कुछ नहीं मिलता था, पर इस दुर्घटनासे सारे कुटुम्बका प्रेम-बन्धन और भी दृढ़ हो गया। मि० ऐण्ड्रूज़ कहते हैं—"यह हम लोगोंके लिए सर्वश्रेष्ठ दैवी आशीर्वाद था कि हम अत्यन्त निर्धन हो गये।" इसमें सन्देह नहीं कि आज मि० ऐण्ड्रूज़ सैकड़ों ग़रीब आदमियोंके दुःखोंके समझने तथा दूर करनेमें जो समर्थ हो सके हैं, उसका मुख्य कारण यही है कि वे ग़रीबीके तमाम दुःखोंको भोग चुके हैं और अब भी ग़रीब ही हैं।

नौ वर्षकी उम्र तक मि० ऐण्ड्रूज़को उनके माता-पिताने घरपर ही पढ़ाया और फिर बर्मिंघमके किंग एडवर्ड हाई स्कूलमें दाख़िल करा दिया। क्लासमें सबसे छोटे बालक होनेके कारण स्कूलके बड़े लड़के उन्हें अक्सर तंग किया करते थे। मि० ऐण्ड्रूज़ अपनी कक्षाके सर्वश्रेष्ठ विद्या-

र्थियोंमेंसे थे । स्कूलमें दाख़िल होनेके बाद ही उनकी फ़ीस माफ़ हो गई और एक पौण्ड प्रतिमासकी छात्रवृत्ति भी मिलने लगी । जब स्कूल छोड़कर वे कालेजमें गये तो पचास पौण्डकी वार्षिक छात्रवृत्ति उन्हें मिली। विश्वविद्यालयमें चार वर्ष पढ़नेके बाद उन्हें अस्सी पौण्डकी वार्षिक वृत्ति मिली थी । मि० ऐण्ड्रूज़के माता-पिताको उनकी शिक्षाके लिए कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ा था । इन वज़ीफ़ोंसे वे अपना सब ख़र्च चला लेते थे और अपने भाई-बहनोंकी भी कुछ मदद किया करते थे ! मि० ऐण्ड्रूज़को लैटिन और ग्रीक भाषाकी कविता करनेका बड़ा शौक़ था । गणितमे उनका मन कभी नहीं लगता था, उससे वे घृणा करते थे । साहित्यसे उन्हें अत्यन्त प्रेम था और वे पुस्तकालयमें बहुत-सा समय बिताया करते थे । लड़कोंनें उनकी पढ़नेकी प्रवृत्तिको देखकर उन्हें 'प्रोफ़ेसर' की उपाधि दे रक्खी थी । बहुत पढ़नेके कारण वे कुछ झुककर चलते थे--कमर बिलकुल सीधी करके नही, इसलिए लड़के उन्हें चिढ़ाया करते थे--"लो, ये आये प्रोफ़ेसर साहब !" जब उन्होंने कैम्ब्रिज विश्व-विद्यायलकी सर्वोच्च परीक्षा दी तो वे उसमें बड़ी योग्यतापूर्वक उत्तीर्ण हुए । उनके परीक्षकोंने उनसे कहा था--"पिछले दस वर्षमें केवल एक विद्यार्थीके नम्बर आपसे अधिक आये थे ।"

मि० ऐण्ड्रूज़ केम्ब्रिज-यूनिवर्सिटीके पैम्ब्रोक-कालेजके फैलो बना लिये गये और थियोलाजी विभागके वायसप्रिंसीपल भी वन गये । यदि वे उसी कालेजमें बने रहते तो केम्ब्रिज-यूनिवर्सिटीमें उच्च-से-उच्च पदतक पहुँच सकते थे, पर उन्हें वह जीवन पसन्द नहीं आया और उसके बजाय उन्होंने लन्दनके गन्दे मुहल्लोंके ग़रीब भाई-बहनोंकी सेवाका कार्य उत्तमतर समझा । उनके जीवनके चार वर्ष बालवर्थ (दक्षिण-पूर्व लन्दन) और सण्दरलैण्डके मज़दूरोंके बीचमें कार्य करते हुए बीते । उन दिनों विलायतमें मज़दूरोंको प्रति सप्ताह पच्चीस शिलिंग वेतन मिलता था । मि० ऐण्ड्रूज़ने दस शिलिंग प्रति सप्ताहपर अपनी गुज़र करना शुरू किया, क्योंकि वे

अविवाहित थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि दस शिलिंग सप्ताहके पहले ही ख़त्म हो जाते थे और उन्हें भूखे रहना पड़ता था। ग़रीबोंको पेट भरनेमें जो कठिनाई होती है, उसका उन्होंने अच्छी तरह अनुभव किया। चार वर्षतक इस प्रकारका जीवन व्यतीत करनेके बाद उनका स्वास्थ्य ख़राब हो गया और डाक्टरोंकी सलाहसे आपको यह कार्य छोड़ देना पड़ा।

भारतके प्रति मि० ऐण्ड्रूज़का प्रेम बाल्यावस्थासे ही था। कहीं किसी किताबमें उन्होंने पढ़ा था कि हिन्दुस्तानके आदमी भात बहुत खाते हैं, इसलिए आप भी अपनी मासे ज़िद करके भात बनवाते थे, और कहते थे, "मैं हिन्दुस्तानको जाऊँगा।" मा बहुत हँसती और कहती—"चार्ली, तुम किसी-न-किसी दिन हिन्दुस्तान ज़रूर जाओगे।" माताकी यह भविष्यवाणी आगे चलकर सत्य सिद्ध हुई और मि० ऐण्ड्रूज़ २० मार्च १९०४ को भारत आ पहुँचे। २० मार्चको वे अपना द्वितीय जन्मदिवस मानते हैं। इस प्रकार वे 'द्विज' हैं! लन्दनसे विदा होते समय वे उस बस्तीमें, जहाँ उन्होंने ग़रीबोंके बीच साढ़े तीन वर्ष तक काम किया था, गये। वहाँकी एक प्रेमी भोली-भाली बुढ़िया उनसे बोली—"ऐण्ड्रूज़! मैंने सुना है कि हिन्दुस्तानके आदमी नरमांस-भक्षी हैं, आदमियोंको खा जाते हैं! मैं दिन-रात तुम्हारे लिए ईश्वरसे प्रार्थना करती रहूँगी कि वे कहीं तुम्हें खा न जावें!"

मि० ऐण्ड्रूज़ केम्ब्रिज-मिशनके मिशनरी बनकर भारत आये थे और आते ही सेण्ट स्टीफेन्स-कालेजमें अध्यापक हो गये। यह कालेज मिशनरियोंका है। साल भर बाद अधिकारियोंका विचार हुआ कि मि० ऐण्ड्रूज़को प्रिन्सिपल बना दिया जाय। पंजाबके लार्ड विशपने मि० ऐण्ड्रूज़से कहा—"किसी अंग्रेज़को ही प्रिन्सिपल बनना चाहिए, क्योंकि हिन्दुस्तानी माता-पिता अंग्रेज़ प्रिन्सिपल पर ही विश्वास करेंगे। हिन्दुस्तानी प्रिन्सिपल कालेजमें अनुशासन भी न रख सकेगा और संकटके समय वह

विद्यार्थियोसे दब जायगा, इसलिए आप प्रिन्सिपल बनना स्वीकार कर लीजिए।" मि० ऐण्ड्रूजने जवाब दिया--

"श्रीयुत सुशीलकुमार रुद्र इस कालेजमे बीस वर्षसे प्रोफेसर है और वे इस पदके सर्वथा योग्य है। उन्हीको प्रिन्सिपल बनाइये। अगर वर्ण-भेदके कारण वे प्रिन्सिपल नही बनाये गये और कोई अग्रेज प्रिन्सिपल बनाया गया तो मै इस कालेजसे त्याग-पत्र दे दूंगा। मै वर्ण-भेदकी नीतिको कदापि सहन नही कर सकता।" परिणाम यह हुआ कि मि० रुद्र ही प्रिन्सिपल बनाये गये। यह घटना जहाँ मि० ऐण्ड्रूजकी न्यायप्रियता और स्वार्थत्यागको प्रकट करती है, वहाँ उससे उनके स्वभावकी कुजी भी मिल जाती है। वे कहा करते है कि यदि कोई अग्रेज भारतकी कुछ भलाई करना चाहे तो उसे धन, पद और नेतृत्वके प्रलोभनोसे बचना चाहिए, उसे सेवक बनना चाहिए, लीडर या शासक नही। मि० ऐण्ड्रूज-को अपने कार्यमे पिछले छब्बीस वर्षमे जो सफलता मिली है, उसका मूल कारण यही है कि उन्होने धन, पद और नेतृत्वके प्रलोभनोसे अपनेको सदा ही बचाया है।

मि० ऐण्ड्रूजके भारतमे आते ही ऐग्लो इण्डियन लोगोने उन्हे उपदेश देना शुरू किया था--"कभी किसी हालतमे किसी 'नेटिव' से मत दबना और किसी नेटिवके दिलमे यह खयाल भी न पैदा होने देना कि वह तुमसे ऊँचा है। हिन्दुस्तानी लोग नीच जातिके है और हम लोग अपनी तलवारके बलपर हिन्दुस्तानमे राज्य करते है। आप हिन्दुस्तानियोके साथ मेहरबानीका बर्ताव भले ही करे, लेकिन हमेशा सावधान रहे और अग्रेजपनके गौरवको आप कभी न छोडे।"

पर मि० ऐण्ड्रूजने इन सदुपदेशोकी ओर बिलकुल ध्यान नही दिया, और उन्होने वर्ण-विद्वेषको दूरसे ही नमस्कार कर दिया। मि० ऐण्ड्रूजका झुकाव राष्ट्रिय आन्दोलनकी ओर होने लगा। सन् १९०६ की कलकत्तेकी काग्रेसमे वे दर्शककी भाँति आकर सम्मिलित हुए। मि० गोखलेसे आपका

परिचय इसी कांग्रेससे प्रारम्भ हुआ था। जब सन् १९०६ में लाला लाजपतरायको देश-निकालेका दण्ड दिया गया तो मि० ऐण्ड्रूज़ने अपने एक व्याख्यानमें सरकारके इस कार्यकी निन्दा की। सेण्ट स्टीफ़ेन्स कालेजकी डिबेटिंग सोसायटीमें भी आपके सभापतित्वमें इस आशयका निन्दात्मक प्रस्ताव पास हुआ। मिशनरी लोग घबराये, क्योंकि कालेज मिशनवालोंका था और उसे सरकारसे मदद मिलती थी। जब लालाजी छूटकर आये तो कालेजके लड़कोंने प्रिन्सिपल रुद्रकी अनुपस्थितिमें मि० ऐण्ड्रूज़से कहा—"हमारे पूज्य नेता लाला लाजपतरायजी छूट आये हैं, इसलिए कालेजमें हम रोशनी करना चाहते हैं। आपकी क्या सम्मति है?" मिस्टर ऐण्ड्रूज़ने जवाब दिया—"ज़रूर, आप लोग पूरी-पूरी दिवाली मनाइये।" दिवाली मनाई गई। इस कारण ऐंग्लो-इण्डियन लोग मि० ऐण्ड्रूज़से और भी ज़्यादा चिढ़ गये। मि० ऐण्ड्रूज़ इस बातको अच्छी तरह समझ गये कि मिशनरी कालेजकी नौकरी करते हुए वे राष्ट्रिय आन्दोलनमें भाग नहीं ले सकते। इसलिए सन् १९१४ में आपने यह नौकरी छोड़ दी।

जब सन् १९१३ में दक्षिण अफ़्रीकामें महात्मा गान्धीजीका सत्याग्रह-संग्राम चल रहा था, उस समय राजर्षि गोखलेने उसकी सहायताके लिए भारतमें बहुत-कुछ आन्दोलन और चन्दा किया था। मि० ऐण्ड्रूज़ने उस समय गोखलेकी बड़ी सहायता की और अपनी ज़िन्दगीभरकी कमाईके जो चार हज़ार रुपये उनके पास थे, वे सब उन्होंने गोखलेको चन्देमें दे दिये। इसके बाद वे गोखलेके आदेशानुसार दक्षिण अफ़्रीकाको भी गये थे। वहाँ जाकर उन्होंने जनरल स्मट्सके साथ समझौता करानेमें महात्माजीको बड़ी सहायता दी थी। स्वयं महात्माजीने अपने एक भाषणमें कहा था—"मुझसे केप-टाउनमें लोगोंने कहा और मुझे निःसन्देह इस बातपर विश्वास है कि जिन-जिन राजनीतिज्ञों और प्रधान मनुष्योंसे ऐण्ड्रूज़ मिले, उन सबके हृदय ऐण्ड्रूज़के विचारोंसे प्रभावित हो गये थे।"

दक्षिण अफ़्रिकासे मि० ऐण्ड्रूज़ विलायत गये और वहाँसे लौटकर सन् १९१४ में दिल्ली आ पहुँचे। जून १९१४ में आप शान्तिनिकेतन आ गये और तबसे शान्तिनिकेतन ही आपका घर है। उस समय मि० ऐण्ड्रूज़के स्वागतमें कविवर श्री रवीन्द्रनाथने जो कविता बनाई थी वह यहाँ दी जाती है——

'प्रतीचीर तीर्थ होते प्राण-रसधार,
हे बन्धु, एनेछो तुमि, कोरि नमस्कार !
प्राची दिल कंठे तव बर माल्य तार,
हे बन्धु, ग्रहण करो, कोरि नमस्कार !
खुलेछे तोमार प्रेमे आमादेर द्वार,
हे बन्धु, प्रवेश करो, कोरि नमस्कार !
तोमारे पेयेछि मोरा दान रूपे जाँर,
हे बन्धु, चरणे ताँर कोरि नमस्कार !"

मि० ऐण्ड्रूज़ने मातृभूमि भारतकी सेवाके लिए जो-जो कार्य पिछले छब्बीस वर्षमें किये हैं, समाचारपत्रोंके पाठक उनसे कुछ-न-कुछ परिचित ही हैं। इन सब कार्योंमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शर्तबंदीकी कुली-प्रथाका बन्द कराना है। यह प्रथा सन् १८३५-३६ से जारी थी और उसके कारण सहस्रों भारतीय स्त्रियोंके सतीत्वका नाश और भारतीय पुरुषोंका नैतिक पतन हुआ था। दासत्व प्रथाके इन नवीन संस्करणको बंद कराना आसान काम नहीं था, क्योंकि सर्व-शक्तिशाली गोरे प्लाण्टर और पूँजीपति इसके समर्थक थे; पर मि० ऐण्ड्रूज़के निरंतर उद्योग और आन्दोलनसे यह प्रथा उठ गई। यद्यपि उन्हें इसमें भारतीय नेताओंसे काफ़ी सहायता मिली, तथापि मुख्य कार्य उन्हींका था। इसके लिए दो बार उन्हें फ़िजीकी यात्रा करनी पड़ी थी।

प्रवासी भारतीयोंके तो आप पूरे-पूरे सहायक हैं और उनकी दशा सुधारनेके लिए आपने संसारके प्रायः सभी भागोंमें जहाँ भारतीय बसे

हुए हैं, यात्रा की है। फ़िजी, आस्ट्रेलिया, कनाडा, न्यूज़ीलैण्ड, पूर्व अफ्रीका दक्षिण अफ्रीका, ट्रिनीडाड, ब्रिटिश-गायना, सुरीनाम, मलाया, सीलोन इत्यादि उपनिवेशोंके पच्चीस लाख निवासी जितने अंशोंमें आपके ऋणी हैं, उतने किसी दूसरेके नहीं। शान्तिनिकेतन और राष्ट्रिय शिक्षाके लिए जो कार्य आपने किया है, वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। मज़दूर-आन्दोलनमें भी आपका ज़बरदस्त हाथ रहा है। पंजाबके मार्शल-लाके बाद आपने वहाँ पहुँचकर बड़ा काम किया था।

अकाल, बाढ़, हड़ताल आदिके समय आपने दीन-दुःखियोंकी जो सेवा की है, उससे समाचारपत्रोंके पाठक परिचित ही हैं। आपकी सेवाओंका विस्तृत वर्णन स्थानाभावके कारण यहाँ नहीं किया जा सकता।

मि० एेण्ड्रूज़के व्यक्तित्वमें एक अद्भुत आकर्षण है। सहृदयता, सच्चाई, सहिष्णुता और सरलताका ऐसा सुन्दर सम्मिश्रण केवल एक ही स्थानमें पाया जा सकता है, यानी भारतीय माताओंमें। अनेक भारतीय नेताओंने मि० ऐण्ड्रूज़की प्रशंसा की है। महात्माजीने लिखा है —"सी० एफ० ऐण्ड्रूज़से बढ़कर ज़्यादा सच्चा, उनसे बढ़कर विनीत और उनसे अधिक भारत-भक्त इस भूमिमें कोई दूसरा देश-सेवक विद्यमान नहीं।"श्रीविजयराघवाचारीने नागपुर-कांग्रेसके सभापतिके पदसे कहा था—"रेवरेण्ड ऐण्ड्रूज़में हावर्ड और काउपर दोनोंकी मानव-जाति-सेवाका भाव सम्मिलित है।" लालाजीने कलकत्तेकी स्पेशल कांग्रेसमें कहा था—"केवल एक अंग्रेज़ ऐसा है, जिसका नाम हमें कृतज्ञतापूर्वक लेना चाहिए, वह है मि० ऐण्ड्रूज़ और वह हमारे घरके ही हैं।" पर इन प्रशंसाओंसे मि० ऐण्ड्रूज़के व्यक्तित्वकी असलियतपर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। महात्माजीने एक बार बातचीतमें कहा था—"ऐण्ड्रूज़ तो पुरुष-वेशमें स्त्री हैं। उसका हृदय स्त्रियोंके हृदयकी तरह कोमल है।" यह एक वाक्य मि० ऐण्ड्रूज़के व्यक्तित्वको प्रकट करनेके लिए पर्याप्त है। उनके हृदयकी कोमलता—उनकी सहृदयता ही उनके जीवनकी सफलताका

मूल कारण है। यह सहृदयता ही उन्हें भारतीयोंके दुःख दूर करनेके लिए संसार-भरमें घुमाती है और यही उनसे अधिक-से-अधिक परिश्रम कराती है। मि० ऐण्ड्रूज़को अपनी मातृभूमि इंग्लैण्डसे भी अत्यन्त प्रेम है; पर उनका यह स्वदेश प्रेम उच्च कोटिका है। स्वदेश-प्रेमी होना आसान है, लेकिन जिस समय अपना देश ग़लत रास्तेपर जा रहा हो, उस समय स्वदेश-विरोधी होना कठिन है।

बाइबिलमें एक जगह लिखा है—"परमात्माका राज्य बच्चोंके लिए है," अर्थात् भोले-भाले आदमी ही उसके अधिकारी हैं। मि० ऐण्ड्रूज़में यह भोलापन काफ़ी अधिक मात्रामें पाया जाता है और उनको धोखा देना आसान है, इस कारण वे राजनैतिक नेता होनेके सर्वथा अयोग्य हैं। उनका मुख्य कार्य सुलह कराना है—पूर्व और पश्चिममें, मज़दूरों और पूँजी-पतियोंमें, प्रजा और सरकारमें, महात्मा गान्धी और कविवर रवीन्द्रनाथमें। मि० ऐण्ड्रूज़के हृदयकी कोमलता उनके व्यक्तित्वकी प्रबलताके मार्गमें बाधक है। वे सदा महात्माजी या कविवरका आश्रय ढूँढ़ते हैं और पहलेके शिष्य और दूसरेके दूत बननेकी निरन्तर लालसाने उनके व्यक्तित्वकी स्वाधीनताको कुछ धक्का अवश्य पहुँचाया है।

मि० ऐण्ड्रूज़की परिश्रमशीलता अद्भुत और आश्चर्यजनक है। उन्होंने विवाह नही किया और सच्चरित्र होनेके कारण उनकी सारी शक्तियाँ संचित रही हैं; पर इस बातका उन्हें खेद अवश्य है कि वे विवाह नहीं कर सके। एक बार मैंने उनसे धृष्टता-पूर्वक यह प्रश्न किया कि आपने विवाह क्यों नहीं किया? उसके उत्तरमें उन्होंने कहा था—

"विवाहित जीवनको मैं सदा ही स्त्री-पुरुषोंके लिए प्राकृतिक और स्वाभाविक जीवन समझता रहा हूं। गृहस्थ-जीवन ही सर्वोत्कृष्ट जीवन है। अविवाहित रहनेसे मेरे जीवनका विकास रुक गया और एकांगी बन गया। पुरुष जीवनका एक महत्त्वपूर्ण अंग 'पितृत्व' है और मैं जीवनभर इस पितृत्वके पवित्र गौरवको नहीं समझ सकूँगा। मैं राष्ट्रिय आन्दोलनमें

भाग लेनेका निश्चय कर चुका था, इस कारण मिशनकी नौकरीका कुछ ठिकाना नहीं था। रुपये-पैसे पास नहीं थे, घर-गृहस्थी कैसे चलती? इसलिए आर्थिक कारणोंसे मैं विवाह नहीं कर सका।"

'पितृत्व' के गौरवको वे भले ही न जानें, पर 'मातृत्व' के सर्वोच्च गुण कोमल स्नेहको वे खूब समझते हैं। यह प्रेम उन्होंने अपनी दयालु मातासे पाया है। मि० ऐण्ड्रूज़की माता जब विलायतमें मृत्यु-शय्यापर पड़ी थी, तब उन्होंने मि० ऐण्ड्रूज़को भारतसे अपने पास बुलाया था। मि० ऐण्ड्रूज़ उन दिनों राजर्षि गोखलेके साथ कार्य कर रहे थे। उन्होंने लिखा—"दक्षिण अफ्रीकामें भारतीय स्त्री-पुरुष बड़े संकटमें हैं। आज्ञा हो तो उनकी सेवामें जाऊँ, नहीं तो आपकी सेवामें आऊँ।" उन्होंने जब भारतीय स्त्री-पुरुषोंके कष्टका वृत्तान्त पढ़ा तो उनका हृदय द्रवित हो गया और अपनी कुछ चिन्ता न कर उन्होंने मि० ऐण्ड्रूज़को लिख भेजा था—

"दक्षिण अफ्रीका जाकर भारतीयोंकी सहायता करो, और जबतक तुम्हारा कार्य समाप्त न हो, मत लौटो।" मि० ऐण्ड्रूज़ने माताजीकी आज्ञाका पालन किया। इधर वे दक्षिण अफ्रीका गये, उधर माताका स्वर्गवास हो गया! तबसे स्नेही माताका यह सहृदय पुत्र 'भारत-माता' को ही अपनी माता समझकर उसकी सेवामें निरन्तर लगा हुआ है। जब अनेक अंग्रेज़ गवर्नरों, वायसरायों और साम्राज्यवादियोंके नाम साम्राज्यके साथ विस्मृतिके गर्भमें विलीन हो जायेंगे, उस समय भी इस एक अंग्रेज़का नाम भावी भारतसन्तानके कृतज्ञता-पूर्ण हृत्पटलपर अमिट रूपसे लिखा रहेगा।

नवम्बर १९३०]

श्री सी० वाई० चिन्तामणि

"चिन्तामणिजीसे नही मिलोगे ?"——ये शब्द एक दिन श्री कृष्णराम मेहताने, जब मै उनके निकट ठहरा हुआ था, मुझसे कहे। बात सन् १९१९ या १९२०की है। 'लीडर' उन दिनों साउथ रोडसे निकलता था। कोरमकोर हिन्दीवालोंमे जो एक अवाञ्छनीय दुर्गुण, अपनेको छोटा समझनेकी प्रवृत्ति, पाया जाता है, वह मुझमें भी था, इसलिए सिटपिटा गया। इसके सिवा अँग्रेजी बोलनेका अभ्यास भी बहुत कम था। राजकुमार-कालेज (इन्दौर)के प्रिन्सिपल द्वारा पूछे जानेपर——when did you come Mr Benarsi Das ?——मेरे मुँहसे निकल गया था—'I came tomorrow. पर जब तुरन्त ही खयाल आया कि tomorrow के मानी तो आनेवाले कलके है, तो मैने हड़बड़ाकर कहा——'Yesterday, Yesterday, Yesterday.' इसलिए मुझे डर था, यदि कही ऐसी ही भूलें मि० चिन्तामणिके सामने हो गई तो सारा बना-बनाया खेल बिगड़ जायगा, 'लीडर'में मेरे लेख छपने बन्द हो जायेंगे! यह सोचकर मैने मेहताजीसे यही कहा——"मुझे तो श्रद्धेय चिन्तामणिजीसे मिलनेमें संकोच होता है। उनका समय क़ीमती है, और फिर मै बात भी क्या करूँगा? अभी रहने दीजिए। फिर कभी देखा जायगा।" पर मेहताजी न माने और चिन्तामणिजीके कमरेमें ले ही गये।

पाँच मिनटके अन्दर ही मुझे पता लग गया कि मै एक अत्यन्त सहृदय व्यक्तिके सम्मुख उपस्थित हूँ। क़रीब आध घंटे बातचीत हुई। उस दिनको मै अपने जीवनका एक स्मरणीय दिवस मानता हूँ।

श्री विश्वनाथप्रसादजीने (जो उन दिनों 'लीडर'के सहायक सम्पादक थे,) मेरी पुस्तक 'प्रवासी भारतवासी'का उसी समय ज़िक्र कर दिया और ऐसे शब्दोंमें किया, जिससे प्रकट होता था कि अलंकार-शास्त्रसे अनभिज्ञ होते हुए भी उन्होंने अत्युक्ति अलंकार अवश्य सीख लिया है। चिन्तामणिजीने उसी समय कहा--"प्रवासी भारतवासीके बारे में हम अग्रलेख[1] लिखेंगे।"

मेरी क्षुद्र पुस्तकके विषयमें 'लीडर'में अग्रलेख निकलेगा, इस विचारसे मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ। इसके सिवा चिन्तामणिजीने कहा--"बराबर 'लीडर'के लिए लिखते रहिये।" उनके उत्साहप्रद शब्दोंने मुझे आश्चर्यमें डाल दिया। महान् पुरुषोंके व्यक्तित्वके कितने ही पहलू हुआ करते हैं और उनमें परस्पर विरोध भी हो सकता है। पत्रकार-शिरोमणि चिन्तामणि और राजनैतिक नेता चिन्तामणिमें अन्तर हो सकता है और सम्भवतः उनके पालिटिकल विरोधियोंको उनका जो रूप दीख पड़ता है, वह बहुत मनोहर नहीं है; पर हमें इस अवसरपर उनके सम्पादकीय गुणोंपर ही एक दृष्टि डालनी है।

पिछले वर्षोंमें इन पक्तियोंके लेखकको न-जाने कितनी बार चिन्ता-मणिजीसे बातचीत करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है और 'लीडर'के एक क्षुद्र लेखककी हैसियतसे तथा अपने व्यक्तिगत मामलोंमें भी उनसे कितनी ही बार काम पड़ा है पर प्रत्येक अवसरपर चिन्तामणिजीने सहायता ही दी है। उनके अहसानका मधुर बोझ भारी ही होता गया है और प्रथम-मिलनके अवसरपर उनकी सहृदयताकी जो छाप मेरे हृदयपर पड़ी थी, उसमें निरन्तर गम्भीरता ही आती गई है।

साधारणतः पत्रकारोंके जीवनमें--और खास तौरपर हमारे जैसे

---

[1]**ढाई कालमका यह अग्रलेख कुछ दिनों बाद 'लीडर'में छपा भी था।**

मामूली हिन्दी-लेखकके जीवनमें---ऐसे संकटमय दिनोंका आना स्वाभाविक ही है, जब सहानुभूतिकी अत्यन्त आवश्यकता होती है और जब एक पैसेका मूल्य एक रुपयेसे भी अधिक हो जाता है। इन पंक्तियोंका लेखक उन दिनोंकी याद कदापि नहीं भूल सकता, जब 'लीडर' और उसके सम्पादक मि० चिन्तामणिकी कृपासे दो-ढाई वर्ष तक अनेक प्राणियोंका, जिनमें कई अब इस संसारमें नहीं हैं, भरण-पोषण हुआ था।

स्वयं अधिक-से-अधिक कष्टमें होते हुए भी वे अपने तुच्छातितुच्छ सहयोगियोंको नहीं भूलते। कुछ वर्ष पहलेकी बात है। चिन्तामणिजी बहुत बीमार थे। दो बार पैरका आपरेशन कराना पड़ा था। अत्यन्त निर्बल हो गये थे। चलना-फिरना तो असम्भव था ही, लिखना-पढ़ना भी बिल्कुल बन्द था। जब उन्होंने मेरी एक गार्हस्थिक दुर्घटना और आर्थिक संकटका वृत्तान्त अपने सुपुत्र श्री बालकृष्णरावसे सुना तो तुरन्त पत्र भिजवाया। श्री बालकृष्णरावने उन्हींके शब्द मुझे लिख भेजे---

"Write to Pandit Benarsi Das that the columns of the 'Leader' are open to him as ever and that any contributions he may send will very gladly be published....and I shall thus be able to do my bit for one whom...." इसके आगे जो शब्द चिन्तामणिजीने लिखाये थे, उनको यहाँ उद्धृत करनेकी धृष्टता मैं नहीं करूँगा। सिर्फ़ इतना ही कहूँगा कि २८ अप्रैल १९३०के 'भारत'में श्रीयुत 'वामन'ने, जो राजनैतिक पुरुषोंके स्केच लिखनेमें हिन्दी-जगत्में अद्वितीय हैं, चिन्तामणिजीकी उदारताके विषयमें जो कुछ लिखा था, वह अक्षरशः सत्य है। वामनजीके शब्द ये हैं---"अपने छोटोंको आगे बढ़ानेके तथा प्रोत्साहित करनेके लिए श्री चिन्तामणिजी जितने उत्सुक रहते हैं, उतना मैंने और किसी दूसरे नेताको नहीं देखा।"

चिन्तामणिजी भारतीय पत्रकारोंमें अग्रगण्य हैं। यदि हमारे देशके

छः सर्वोत्तम पत्रकारोंकी सूची बनाई जाय तो उसमें भी चिन्तामणिजीका नाम काफ़ी ऊँचा रहेगा। दैनिक पत्र-सम्पादन वे जिस योग्यतासे कर सकते हैं, उस योग्यतासे शायद ही कोई भारतीय पत्रकार कर सके; फिर भी किसी छोटे-से-छोटे पत्रकार या लेखकसे मिलते समय वे कभी अपना बड़प्पन नहीं दिखाते। एक दिन कलकत्तेमें, जब वे मद्रासके लिबरल फेडरेशनसे लौटे थे, उन्होंने एक ऐन्ट्रेंस तक पढ़े हुए विद्यार्थीसे कहा—"लेख लिखनेका अभ्यास क्यों नहीं करते? डरो मत। कोई मुश्किल बात नहीं। मेरे पास लिखकर भेज दिया करो। एडीटरके नाम भेजोगे तो मुझे नहीं मिलेगा। मेरे घरके पतेपर भेजना। मैं संशोधन कर दूँगा।" चिन्तामणिजीके ये शब्द सुनकर पहले तो मुझे आश्चर्य हुआ, फिर मुझे ख़याल आया कि स्वयं चिन्तामणिजीको भी विश्वविद्यालयोंकी उच्च शिक्षा प्राप्त करनेका सौभाग्य (या दुर्भाग्य?) प्राप्त नहीं हुआ था। चिन्तामणिजी अपनी ग़रीबीको नहीं भूले। वे समझते हैं कि समयपर प्रोत्साहन देनेसे कितने ही साधनहीन युवक लेखक बनाये जा सकते हैं। अजनबी पत्रकारोंसे भी वे जिस तरह दिल खोलकर मिलते हैं उसे देखकर आश्चर्य होता है। कुछ वर्ष पहले जब चिन्तामणिजी लोथियन-कमेटीके सिलसिलेमें कलकत्ते आये थे, अपने एक पत्रकार बन्धुको लेकर मैं उनकी सेवामें उपस्थित हुआ। बातचीतके सिलसिलेमें हम लोगोंने चिन्तामणिजीसे प्रार्थना की कि आप अपने संस्मरण लिखकर छपाइये। चिन्तामणिजीने विनम्रतापूर्वक कहा—"मनमें उत्साह नहीं होता। ऋणग्रस्त होनेके कारण इस प्रकारका कार्य और भी कठिन हो जाता है। इसके सिवा अवकाश भी नहीं मिलता।" उस समय मेरे मुँहसे निकल गया—"क़र्ज़दार तो मैं भी हूँ।" मेरे पत्रकार बन्धु बोल उठे—"और मैं भी।" चिन्तामणिजीने तुरन्त कहा—"Then let us form a debtor's association!"—'तो आओ, हम लोग मिलकर एक क़र्ज़दार-समिति ही क्यों न बनावें?' इस मजाक़पर ख़ूब हँसी हुई।

चिन्तामणिजीने अपने बहुमूल्य समयका घंटा-सवा-घंटा हमें दिया। यद्यपि वे रातको बारह बजे तक कमेटीका काम करते रहे थे और दोपहरके भोजनके बाद विश्रामकी आवश्यकता भी थी; पर उन्होंने सवा घंटेकी बातचीतमें ज़रा भी शिथिलता ज़ाहिर न होने दी और अपनी वाक्‌पटुतासे हमें चकित कर दिया। कहना न होगा कि हमारे पत्रकार बन्धुपर चिन्तामणिजीकी सहृदयताका बड़ा प्रभाव पड़ा।

इस सिलसिलेमें यह कहना भी आवश्यक है कि श्रीयुत चिन्तामणिजीने अपने सिद्धान्तोंके सामने धन, वैभव तथा पद-गौरवकी कभी चिन्ता नहीं की। इस विषयमें वे 'मैनचेस्टर गार्जियन'के सम्पादक सी० पी० स्कॉटसे बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। महात्मा गांधीसे लगाकर भारतके छोटे-बड़े सभी नेता चिन्तामणिकी योग्यताके क़ायल रहे हैं। मौलाना मुहम्मदअलीने तो उन्हें 'भारतीय राजनीतिका चलता-फिरता विश्वकोष' कहा था। भारतीयोंके लिए भारतमें जो ओहदे खुले हुए हैं, उनमें शायद ही कोई ऐसा हो, जिसपर बैठकर चिन्तामणि उसका गौरव न बढ़ा सकें; पर उन्होंने अपने राजनैतिक सिद्धान्तोंके सामने इन सबको तुच्छ ही समझा। साधारण जनताको और कितने ही राजनैतिक नेताओंको भी चिन्तामणिजीका असहयोग-विरोधी रूप अत्यन्त अप्रिय लगा था; पर हमें तो उनके उस रूपमें पत्रकारोंके लिए भी एक सुन्दर उपदेश निहित दीख पड़ता है। दुनियामें भेड़ोंकी संख्या ही अधिक है और ऐसे आदमी बहुत कम हैं, जो अपनी अन्तरात्माकी ध्वनिके अनुसार अपने सिद्धान्तोंपर अटल रहें और जो उसके सामने अपनी लोकप्रियताको सर्वथा नगण्य समझें। भेड़ियाधसान प्रवृत्तिका विरोधी एक पत्रकार उन सहस्रों पत्र-कारोंसे कहीं अधिक आदरणीय है, जो 'जैसी चले बयार, पीठ तब तैसी दीजे'के सिद्धान्तका अनुकरण करते हैं। रोमाँ रोलाँने एक जगह लिखा है—

"A man's first duty is to be himself, to remain himself, at the cost of self-sacrifice."

अर्थात्——'प्रत्येक मनुष्यका यह प्रथम कर्तव्य है कि वह अपनापन न खोवे, अपना व्यक्तित्व क़ायम रखे, चाहे कितना ही बड़ा आत्म-त्याग उसे क्यों न करना पड़े।' चिन्तामणिजीने चिन्तामणिपन कभी नहीं खोया, चाहे सरकार रुष्ट हो, या जनता क्रुद्ध हो। सच तो यह है कि लिबरल-दलमें तो उन्हींका दम ग़नीमत है, उन्हींका व्यक्तित्व सजीव है, और चाहे चिन्तामणिजी इस बातसे नाराज़ हों, उनके जीवनके साथ लिबरल-दलका भी खातमा हो जायगा, क्योंकि भारतीय राजनैतिक आत्माके लिए लिबरल-चोला बहुत पुराना पड़ गया है और चिन्तामणिजी प्रेतात्माओंको भले ही बुला सकें,[1] भारतीय राजनीतिकी आत्माको लिबरल-चोला कभी न पहना सकेंगे। राजनैतिक ज्ञान और अध्ययनमें लिबरल-दल बहुत ठोस होनेपर भी उसमें साहस, त्याग और सर्वसाधारणके निकट पहुँचनेकी क्षमता नहीं है। हाँ, 'भारत-सेवक-समिति' अवश्य ही कुछ सीमा तक इसका अपवाद है।

पर हमें यहाँ चिन्तामणिजीके राजनैतिक विचारोंकी आलोचना नहीं करनी, हमें तो उनके व्यापक व्यक्तित्वके एक पहलूपर, बल्कि यों कहना चाहिए कि उस पहलूके केवल एक अंशपर ही, कुछ प्रकाश डालना है। दैनिक पत्र-सम्पादनके लिए कितनी योग्यता चाहिए, इसका हमें कुछ अन्दाज़ नहीं। हाँ, दैनिक 'अभ्युदय'में अपने २१ दिनके अनुभवसे हम कह सकते हैं कि यह काम बहुत ही बेतुका और वाहियात है। दैनिक 'अभ्युदय'में 'प्रवासी भारतवासी', 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' और 'साहित्य-सेवियोंकी कीर्ति-रक्षा'——इन तीन विषयोंपर अग्रलेख लिख चुकनेके बाद हमारा दिमाग़ बिल्कुल ख़ाली हो गया और कुछ समझमें

---

[1] चिन्तामणिजीका विश्वास Spiritualism में रहा है।——लेखक

ही न आया कि अब क्या लिखा जाय ! अब हमारी अक़्लमें आया कि यह काम अपने बूतेका नहीं । अब हम समझे कि चिन्तामणिजी 'लीडर'का काम करते-करते क्यों तपेदिक़के मरीज़ बन गये थे और कृष्णरामजी मेहता क्यों कम उम्रमें ही बूढ़े हो गये हैं ! इसलिए यद्यपि हम चिन्तामणिजीके प्रशंसक हैं, तथापि हमारी नित्यनैमित्तिक दैनिक प्रार्थना यही रहती है कि चाहे हमें कुम्भीपाक या रौरव भले ही मिले; पर दैनिक पत्रमें काम न करना पड़े ।

हमारे बहुतसे पाठकोंको यह न मालूम होगा कि चिन्तामणिजीको क्षयरोग किस प्रकार हुआ था । 'लीडर'का कार्य नक़द पाँच हज़ार रुपये और पचास हज़ारके वादेसे प्रारम्भ हुआ था । मि० चिन्तामणि और मि० एन० गुप्त 'लीडर'के संयुक्त-सम्पादक बनाये गये । मिस्टर गुप्त तो थोड़े दिन बाद न-जाने क्यों छोड़कर चले गये, सारा बोझा आ पड़ा चिन्तामणिजीके सिर । प्रबन्ध करना, सम्पादन करना और पूँजी भी जुटाना ! उस समय चिन्तामणिजीको २४ घंटेमें अठारह-अठारह घंटे काम करना पड़ता था । सप्ताह-के-सप्ताह इसी तरह काम करते बीत जाते थे । प्रायः उन्हें ही प्रूफ़ देखने पड़ते, पत्रके लिए रिपोर्टरका काम करना पड़ता, सहायक-सम्पादक और मैनेजरका काम उन्हींके सुपुर्द था और अग्रलेख तो वे लिखते ही थे ! अक्सर ऐसा मौक़ा आया करता था कि चिन्तामणिजीको कम्पोज़ीटरोंके विभागमें फ़ोरमैनीका काम भी करना पड़ता था ! आर्थिक कठिनाइयोंका बोझा सिरपर था ही । नतीजा यह हुआ कि चिन्तामणिजीका स्वास्थ्य बिल्कुल ख़राब हो गया और डाक्टरोंने यह क़रार दे दिया कि उन्हें क्षयरोग हो गया है । जब चिन्तामणिजीने छुट्टी माँगी और पूज्य पंडित मालवीयजीको उनकी भयंकर बीमारीका पता लगा तो उनकी आँखोंमें आँसू भर आये, और उन्होंने कहा—
"The choice lies between killing Chintamani in the Leader and killing the Leader without Chintamani."

—"अब दो ही मार्ग हैं; या तो 'लीडर'का काम कराते-कराते चिन्तामणिको मार डालना अथवा उन्हें छुट्टी देकर 'लीडर'की ही अकाल मृत्यु करना।"

चिन्तामणिजीको छुट्टी दे दी गई और वे विजगापट्टम चले गये। देशका यह सौभाग्य था कि चिन्तामणिजीको विजगापट्टममें आराम हो गया और फिर वे अपने कामपर लौट आये। उस समय 'लीडर'की ग्राहक-संख्या बहुत कम थी और आर्थिक स्थिति अत्यन्त ही ख़राब। बस, 'लीडर'के दिन गिने जा रहे थे। एक बार तो यहाँ तक निश्चित हो गया कि पन्द्रह-बीस दिन बाद अमुक तारीख़को 'लीडर' बन्द कर दिया जायगा और उसका कारबार लखनऊके बाबू गंगाप्रसाद वर्माको सौंप दिया जायगा, और वे 'लीडर'का नाम अपने पत्र 'ऐडवोकेट'में सम्मिलित कर लेंगे। सौभाग्यसे 'लीडर'को यह दिन देखनेका मौक़ा ही नहीं आया।

'लीडर'ने संयुक्त-प्रान्तके राजनैतिक जीवनके लिए जो कार्य किया है, उसकी प्रशंसा उसके राजनैतिक विरोधियोंको भी करनी पड़ती है। उसके तीक्ष्ण कटाक्षोंसे तंग आकर युक्तप्रान्तीय सरकारने अपनी सन् १९२७की वार्षिक रिपोर्टमें लिखा था—

"लीडर प्रान्तीय सरकारके विरुद्ध निरन्तर प्रचार किया करता है। गवर्नमेन्टके पास कोई साधन नहीं है, जिससे वह इस पत्रके आक्षेपोंका उत्तर दे सके।"

जो लोग चिन्तामणिजीकी लिबरल राजनीतिकी कटु आलोचना करते हैं, वे उपर्युक्त बातको भूल जाते हैं। जो महानुभाव चिन्तामणिजीसे और उनके महान् कार्यसे कुछ भी परिचित नहीं हैं, वे जब उनकी कठोर निन्दा करने लगते हैं, तो चित्तको बड़ी ग्लानि होती है। कोई कहता है—'अजी, वे तो यू० पी०के—हिन्दुस्तानी—हैं भी नहीं!' कोई कहता है—'वे हिन्दी-विरोधी हैं।' कोई कहता है—'वे देशद्रोही हैं।' ऐसे सज्जनोंको हमारा उत्तर यही है कि यदि चिन्तामणिजी 'हिन्दुस्तानी' नहीं, तो संयुक्त-प्रान्तके पाँच करोड़ आदमियोंमें कोई भी हिन्दुस्तानी नहीं, और यदि वे

देशभक्त नहीं तो 'देशभक्ति'की परिभाषा ही बदल देनी पड़ेगी। रही उनके हिन्दी-विरोधकी बात, सो उसके विषयमें यही कहना पर्याप्त होगा कि उन्होंने अपने लड़कोंको हिन्दी ही पढ़ाई है।

ज़रा नीचे लिखी कविताके प्रवाह और प्रसादगुणपर ध्यान दीजिए—

"मुझे ले चल वायुके वेग वहाँ,
जहाँ प्रीति बुरी कही जाती नहीं;
जहाँ प्रेमीकी पागलसे समता,
कवियोंकी कला दिखलाती नहीं।
खिलती हुई प्रेम-कली जहाँ स्नेहके,
मेंह बिना मुरझाती नहीं;
वहीं ले चल प्रेमीकी आँखें जहाँ,
कल पातीं सदा कलपाती नहीं।
सुमनावलि-धारा सुधाकी जहाँ,
बरसाती सदा, तरसाती नहीं;
कमनीय कलाधर कौमुदीमें
है सरोजनी मंजु लजाती नहीं।
जहाँ सुन्दर ज्योति दिवाकरकी,
कुमुदोंके कलाप सुलाती नहीं;
जहाँ पंखड़ियोंकी सुकोमलता,
सुमनोंकी कड़ाई छिपाती नहीं।
जहाँ प्रीति प्रतीतिके पंथ पुनीतमें,
भीति है काँटे बिछाती नहीं;
कलिका जहाँ आशाकी फूलनेके
पहले कभी तोड़ ली जाती नहीं।"

ये सुन्दर पद्य चिन्तामणिजीके सुपुत्र श्री . बालकृष्णरावके हैं। हमारे

प्रान्तके नवयुवक कवियोंमें कितने ऐसे हैं, जो इतनी सफलताके साथ कविता कर सकें ? श्री बालकृष्ण राव चिन्तामणिजीके हिन्दी-प्रेमके सजीव रूप हैं और प्रत्यक्ष प्रमाण भी ।

हमें वह दिन अच्छी तरह याद है, जब श्रीयुत पद्मसिंहजी शर्मा श्रीचिन्तामणिजीकी बीमारीमें उनसे मिलनेके लिए गये थे । चिन्तामणिजीने तुरन्त ही श्री बालकृष्णरावको, जो उस समय घरमें थे, बुलाया और कहा—"इनसे परिचय कर लो । ये हिन्दीके धुरन्धर लेखक पं० पद्मसिंह शर्मा हैं ।"

चिन्तामणिजीकी स्मरणशक्ति अद्‌भुत है । उनके स्मृति-पटलपर जो बातें अंकित हो जाती हैं, वे आसानीसे नहीं मिट सकतीं । हमने सुना था कि जब पं० पद्मसिंहजी शर्माके स्वर्गवासपर 'लीडर'-कार्यालयसे निकलनेवाले 'भारत'ने कुछ अनुचित ढंगसे लिखा था, उस समय चिन्तामणि-जी बहुत नाराज़ हुए थे । दाद देनेमें विशेषज्ञ इन दोनों महारथियोंका पारस्परिक परिचय करानेका सौभाग्य भी इन पंक्तियोंके लेखकको ही प्राप्त हुआ था ।

चिन्तामणिजीका सबसे सुन्दर रूप वह है, जब वे अपनी मित्र-मंडलीमें बैठे हुए गप लड़ाते हैं । सम्भाषण-शक्तिमें उनके मुक़ाबलेमें हिन्दुस्तानमें शायद ही कोई निकले, यद्यपि उनकी बातचीतमें वह माधुर्य नहीं, जो माननीय श्रीनिवास शास्त्रीजीकी बातचीत में है । चिन्तामणि-जीकी बातचीतको सुनकर हमें नील नदीके रिपन फाल (जलप्रपात)की याद आ जाती है । सन् १९२४ में हमने जिंजा (युगाण्डा) में इस जलप्रपात-को निकटसे देखा था और आश्चर्यके साथ मन्त्रमुग्धसे खड़े रह गये थे । चिन्तामणिजीकी बातोंमें तथ्य और संख्याएँ इतनी जल्दी एकके बाद एक आती रहती हैं कि आदमी रौबमें आ जाता है । इस विषयमें वे माननीय शास्त्रीजीसे भिन्न हैं । शास्त्रीजीके साथ बात करते हुए आदमी उनके अत्यन्त निकट पहुँच जाता है । सम्भवतः इसका कारण

यह है कि शास्त्रीजी मनुष्यत्वको प्रथम स्थान देते हैं और चिन्तामणिजी राजनीतिको ।

चिन्तामणिजीकी बातचीतके कितने ही फिकरे ऐसे होते हैं, जिनकी याद बहुत दिनों तक बनी रहती है । कानपुरके हिन्दी साहित्य सम्मेलनके बाद पं० पद्मसिंह शर्माके साथ मैं उनकी सेवामें लखनऊमें उपस्थित हुआ था । उन दिनों वे मंत्री थे । बातचीत करते हुए मेरे मुँहसे एक बात निकल गई । "गवर्नमेण्टके प्रति आपका क्या रुख है ?"

चिन्तामणिजीने तुरन्त ही जवाब दिया "सरकारके प्रति मेरा जो रुख है उसका सार तीन शब्दोंमें आ सकता है, 'जहुन्नममें जाय सरकार ।'"

एक बार हम अपने एक सजातीय मित्रके साथ जो चिन्तामणिजीसे अच्छी तरह से परिचित हैं, रेलकी यात्रा कर रहे थे । उस समय हमारे साथ श्री के० ईश्वरदत्तकी लिखी 'स्पार्क्स एण्ड फ्यूम्स' नामक पुस्तक थी, जिसमें चिन्तामणिजीका एक स्केच छपा था । स्केचमें एक वाक्य था——

"From an obscure reporter on Rs. 35/- he rose by dint of sheer merit to the editorship of a daily, the ministership of a province and the leadership of a party."

अर्थात्——"केवल अपनी योग्यताके कारण चिन्तामणिजी, जो पहले ३५ रुपये महीनेपर एक अज्ञात रिपोर्टर थे, एक दैनिक पत्रके सम्पादक, एक प्रान्तके मन्त्री और एक पार्टीके लीडर बन गये ।"

चिन्तामणिजीका स्केच हम पढ़ ही चुके थे कि छिउकीका स्टेशन आ गया । देखते क्या हैं कि चिन्तामणिजी वहाँ विद्यमान हैं ! वे बम्बई जा रहे थे । हमारे मित्रने चिन्तामणिजीसे कहा कि हम लोग आप ही का वृत्तान्त पढ़ रहे थे । उन्होंने पूछा, "आपने क्या पढ़ा ?" हमारे मित्रने कहा कि आपने पहले-पहल ३५) रुपयेकी नौकरी की थी । चिन्तामणिजी तुरन्त बोले, "लेखक महाशयने भूल की है । पैंतीस नहीं, तीस !"

स्वर्गीय गोखलेकी पुण्य तिथिके दिन एक बार वे कलकत्तेमें उपस्थित थे। महाराष्ट्र क्लबमें उनका भाषण हुआ। उस मीटिंगमें डब्ल्यू० सी० बनर्जीके भतीजे भी मौजूद थे। भाषण देते समय भतीजे साहबके मुँहसे यह निकल गया कि उनके चाचा साहब कांग्रेसके अधिवेशनके पहले तथा सातवें अधिवेशनके सभापति हुए थे। चिन्तामणिजीने तुरन्त ही बड़े धीरेसे कहा, "सातवें नहीं, आठवें!"

उनकी भाषणशक्ति और तर्कशैलीका क्या कहना है! कौन्सिलके निर्जीव शरीरमें उनके भाषण एक प्रकारका जीवन-सा डाल देते हैं। यदि वे एसेम्बलीमें मेम्बर होते तो उनकी तेजस्वी वक्तृत्व शक्तिका मुकाबला वहाँ शायद ही कोई कर पाता। बाज़-बाज़ अक्लमन्द लोग इस बातकी निन्दा करते हैं कि कांग्रेसवाले उन्हें एसेम्बलीमें क्यों नहीं जाने देते। इसका जवाब यह है कि पहले तो सिद्धान्तका सवाल है और फिर कौन समझदार आदमी अपने दलके ९८ फीसदी वक्ताओंके तेजको तिरोहित करानेकी ज़बरदस्त भूल करेगा?

चिन्तामणिजीकी आँखोंमें लिहाज़ है और इस लिहाज़के कारण उन्हें कभी-कभी ऐसे काम करने पड़ते हैं, जिन्हें वे हृदयसे नापसन्द करते हैं। एक बार उन्होंने कहा—"सरकारी नौकरीके लिए सिफ़ारिश करना मुझे सख्त नापसन्द है; पर महीनेमें तीस आदमियोंकी सिफ़ारिश मुझे करनी पड़ती है।"

एक बार इन पंक्तियोंके लेखकके क्षुद्र जीवनमें भी ऐसा अवसर आया कि एक नीम सरकारी जगहके लिए अर्ज़ी भेजनी पड़ी। चिन्तामणिजी एक आदमीकी सिफ़ारिश, उसी नौकरीके लिए, पहले कर चुके थे, पर मेरी चिट्ठी पहुँचते ही उन्होंने इतने ज़ोरदार शब्दोंमें सिफ़ारिशकी चिट्ठी लिखी कि उस चिट्ठीसे मुझे जितना सन्तोष हुआ, उतना नौकरी मिलनेपर भी न होता!

लिबरल दलमें प्रवासी भारतीयोंके लिए कमेटी बनवानेके प्रस्ताव

आचार्य गिड्वानी

मैदान-निवासियोंके लिए कभी-कभी पर्वत-यात्रा करना अत्यन्त आवश्यक है। जो लोग नीची सतहपर रहते हैं, उन्हें यदा-कदा उच्च भूमिपर जाकर प्राकृतिक सौन्दर्यका निरीक्षण करना चाहिए। भौतिक संसारकी यह बात विचारोंके जगत्के लिए भी कही जा सकती है। साधारण आदमियोंको ––जो विचारोंकी नीची सतहपर रहते हैं––उच्च विचारवाले सज्जनोंका सत्संग उतना ही आवश्यक है, जितना मैदान-निवासियोंके लिए पर्वत-यात्रा।

जब-जब आचार्य गिड्वानीजीसे मिलनेका सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है, तब-तब उपर्युक्त कथनकी सत्यता हमारी समझमें आ गई है। उनके वार्तालापमें वही आनन्द आता है, जो शीतल-मन्द समीरके सेवनमें। उनकी विचार-धारा और वाग्धारा निर्मल निर्झरके कल-कल निनादकी याद दिलाती है। उनका मस्तिष्क दलबन्दीके कोलाहलसे उतना ही ऊँचा उठा रहता है, जितना पर्वतशृंग आसपासकी भूमिसे। उनका सत्संग एक प्रकारका सैनिटोरियम है, जहाँका सांस्कृतिक वायुमंडल क्षुद्र विचारों-के कीटाणुओंके लिए घातक है, इसीलिए हमारे हृदयमें दो आकांक्षाएँ बराबर बनी रहती हैं—एक तो यह कि आतपकालमें कहीं पर्वत-यात्रा की जाय, और दूसरी आपतकालमें गिड्वानी जैसे सुसंस्कृत व्यक्तिका सत्संग।

महात्मा गांधी और माननीय श्रीनिवास शास्त्री—जैसे महापुरुषोंकी बात हम नहीं कहते, पर भारत के नवयुवक नेताओंमें गिड्वानीजीसे अधिक सुसंस्कृत व्यक्ति शायद ही कोई दूसरा हो। उनका रहन-सहन, शब्दयोजना, बातचीत और विचारशैली सभी उच्चकोटिके हैं, और इन

सबके ऊपर उनका त्याग भी प्रथम श्रेणीका है। इस प्रकार उनके व्यक्तित्वमें एक अजीब आकर्षण है। आज जब वे कराँची सेण्ट्रल जेलमें तप कर रहे हैं, उनके विषयमें दो-चार बातें पाठकोंको सुनाना अप्रासंगिक न होगा।

असूदमल टेकचन्द गिड्वानीका जन्म ११ सितम्बर सन् १८९० ई० को हैदराबाद (सिन्ध) में हुआ था। शिक्षा और संस्कृतिकी दृष्टिसे हैदराबाद सिन्धके सभी नगरोंसे आगे बढ़ा हुआ है। वहाँके सांस्कृतिक वातावरणमें सिन्धी लोगोंके लिए एक विशेष आकर्षण है। गिड्वानीजीने अपने एक पत्रमें लिखा था—"I love Hyderabad as I love only one other place and that is Oxford. There is a wonderful repose about both." अर्थात्—मुझे दो स्थानोंसे विशेष प्रेम है, एक तो हैदराबादसे और दूसरे आक्सफोर्डसे। दोनोंमें ही एक विचित्र प्रकारका शान्तिमय वायुमंडल है।

गिड्वानीजीके बाबा सिन्धी-भाषाके एक कवि थे और सिन्धके मीर लोगोंके आश्रयमें रहा करते थे। गिड्वानीजीके पिता भी बड़े साहित्य-प्रेमी थे, पर उन्हें अपनी साहित्यिक प्रवृत्तिके विकासके लिए उपयुक्त अवसर नहीं मिला। उनके जीवनके पैंतीस वर्ष एन० डब्ल्यू० रेलवेके छोटे-छोटे स्टेशनोंपर स्टेशन-मास्टरी करते व्यतीत हुए। कहानी कहनेका उन्हें बड़ा शौक़ था। उनकी कल्पनाशक्ति इतनी प्रबल थी कि उनकी कहानियाँ बड़ी आश्चर्यजनक और प्रभावशाली होती थीं।

बाल्यावस्थामें गिड्वानीजी रेलके इंजिनोंपर या माल-गाड़ियोंमें अथवा ट्रालीपर बैठकर आसपासके स्टेशनोंपर इधर-से-उधर घूमा करते थे। प्रकृति-निरीक्षणकी रुचि उनके हृदयमें सम्भवतः तभीसे उत्पन्न हुई। पैंतीस वर्ष रेलकी नौकरी करनेके बाद गिड्वानीजीके पिताजीको पेंशन मिली, और वह कुल जमा २७ रु० महीनेकी ! यह पहला

ही मौक़ा था, जब ब्रिटिश न्याय-प्रियताका यह अनोखा आदर्श गिड्वानी-जीके हृदयमें खटका।

गिड्वानीजीकी माता आमिल-वंशकी लड़की थीं। उनके पिता और पितामह तहसीलदार थे, और हैदराबादमें उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। यह बात ध्यान देने योग्य है कि पिछली एक शताब्दीमें आमिल-वंशी सिन्धी लोगोंकी प्रान्त-भरमें बड़ी धाक रही है। जब गिड्वानीजी कुल तीन वर्षके ही थे कि उनकी माताका देहान्त हो गया, और उन्हें उनके नानी और मामाने पाला-पोसा। अपने जीवनकी शिक्षा तथा सफलता-के लिए वे अपनी ननसालके ऋणी हैं।

गिड्वानीजीकी प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा नवलराय हीरा-चन्द एकैडमी नामक स्कूलमें हुई, और सन् १८९५ से १९०६ तक वे वहीं पढ़ते रहे। उनके इस कालके विद्यार्थी-जीवनमें कोई उल्लेख योग्य बात नहीं हुई। हाँ, एक महत्त्वपूर्ण घटना ज़रूर घटी। सन् १९०३ में उनकी मित्रता श्री बधूमल ज्ञानचन्द चैनानी नामक एक प्रतिभाशाली नवयुवकसे हो गई। बधूमलके जीवन-कार्यका प्रारम्भ दस वर्षकी अवस्थामें हुआ और अन्त बीस वर्षकी अवस्थामें! पर इस अल्पकालमें ही वे अपने व्यक्तित्वकी छाप अपने साथियोंपर डाल गये। बधूमल और उनके साथियोंने अपनी समितिका नाम 'हिन्दू-कुमार-मण्डली' रख छोड़ा था और बधूमल कभी-कभी उसे 'Children's Theosophical Society' भी कहा करते थे। लिखने-पढ़नेके बाद जो कुछ समय इन बालकोंके पास बचता था, उसे वे उस मंडलीमें ही बिताते थे। सिन्धका यह सर्वप्रथम युवक-संघ था, और निःसन्देह सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुआ। इस संघके जितने सदस्य थे, उन्होंने अपने प्रान्तके जीवनके लिए कुछ-न-कुछ उद्योग अवश्य किया। इन्हीं दिनोंमें थियासोफीके सिद्धान्तोंका गिड्वानीजीपर बड़ा प्रभाव पड़ा और अब भी उनके विचार कुछ-कुछ उधरकी ओर झुके हुए हैं, यद्यपि प्रमुख थियासोफिस्टोंके राजनैतिक विचारों और गिड्वानीजीके राज-

नैतिक विचारोंमें काफ़ी अन्तर रहा है। एक बार गिड्वानीजी महात्मा-जीसे बातचीत कर रहे थे। गुजरात-विद्यापीठमें धार्मिक शिक्षा किस प्रकारकी होनी चाहिए, यह विषय उपस्थित था। गिड्वानीजीने अपने विचार महात्माजीके सम्मुख रखे। उन्हें सुनकर महात्माजीने आश्चर्यके साथ कहा--"But this is a kind of Theosophy !" "आप तो लड़कोंको थियासोफी पढ़ावेंगे !" गिड्वानीजीको इस प्रश्नसे प्रसन्नता हुई, क्योंकि गिड्वानीजीकी शिक्षाका आदर्श सुप्रसिद्ध थियासोफिस्ट मि० एरण्डेल और डाक्टर कज़िन्सके आदर्शोंसे मिलता-जुलता है।

सन् १९०७ से १९११ तक गिड्वानीजीने कालेजकी शिक्षा प्राप्त की। १९१० में आपने बी० ए० पास किया और १९११ में एम० ए०। इन पाँच वर्षोंमें उनका प्रथम वर्ष बम्बईके एलफिन्सटन-कालेजमें बीता, जहाँ सैयद अब्दुल्ला ब्रैल्वी (सम्पादक 'बाम्बे क्रानिकल') और महादेवभाई देसाई उनके संग पढ़ते थे। ये दोनों सहपाठी एक दूसरेको बिलकुल भूल गये थे कि दस वर्ष बाद अकस्मात् दिल्ली स्टेशनपर उनकी मुलाक़ात हो गई। महादेवभाई देसाई महात्माजीके साथ यात्रा कर रहे थे। गिड्वानीजी महात्माजीसे मिलने स्टेशनपर आये, थे महादेवभाईका चेहरा पहचान कर बोले--"तुम तो महादेव देसाई हो ?" महादेवभाई भी पहचानकर तुरन्त बोले--"और तुम असूदमल टेकचन्द गिड्वानी ?" सिन्ध-कालेज कराँचीमें गिड्वानीजीकी गणना अच्छे विद्यार्थियोंमें की जाती थी, और उन्हें प्रायः पुरस्कार और छात्रवृत्तियाँ मिलती रहती थीं। कालेजकी पत्रिकाका सम्पादन भी वे ही करते थे। यह सब होते हुए भी कालेजकी पढ़ाईमें उनका हृदय नहीं था। एम० ए० पास करनेके बाद गिड्वानी-जीका विवाह हुआ। जो लोग गंगा बहनको जानते हैं, वे कह सकते हैं कि अपने शान्तिमय गृह-जीवनके लिए वे किसके ऋणी हैं। गिड्वानीजी उन इने-गिने आदमियोंमेंसे हैं, जो अपने जीवनको हथेलीपर रखकर उसपर प्रयोग करते हैं। क्रिकेटके किसी बढ़िया खिलाड़ीको गेंद उछालनेमें

जो आनन्द आता है, गिड्वानीजी अपने जीवनको ख़तरेमें डालनेमें वही आनन्द अनुभव करते हैं। ऐसे ख़तरनाक आदमीकी धर्मपत्नी होनेमें किसी साधारण स्त्रीको विशेष आनन्द नहीं मिल सकता, पर गंगा बहनकी असाधारणता इसीमें है कि वे उन सब संकटोंको, जो उनके पतिके जीवन-सम्बन्धी प्रयोगोंके कारण उनपर आये हैं, धैर्य-पूर्वक सहन करती रही हैं। जब गिड्वानीजी नाभा-जेलकी छोटी कोठरीमें अपने कष्टमय दिन व्यतीत कर रहे थे, और बराबर यह समाचार आते थे कि उनकी तौल ८ पौंड, १० पोड, १५ पौड घट गई है--एक बार तो यह घटी तीस पौंड तक पहुँच गई थी--उन दिनों गंगा बहन गुज-रात-विद्यापीठमें थीं। यद्यपि उनके चेहरेपर चिन्तामय गम्भीरता थी, पर फिर भी वे अपना कार्य धैर्य-पूर्वक करती रहती थीं, और हम लोग उन्हें प्रायः विद्यापीठकी लाइब्रेरीमें एक कोनेमें बैठी हुई हिन्दी-पुस्तक पढ़ते देखते थे!

आज भी यदि आप कराँची जायें, तो वहाँ कड़ी धूपमें छै महीनेके बच्चेको गोदमें लिए हुए गंगा बहन किसी शराबकी दुकानपर धरना देती हुई दीख पड़ेंगी!

एम० ए० पास करनेके बाद गिड्वानीजी आई०सी०एस०की परीक्षा देनेके उद्देश्यसे विलायत गये, लेकिन आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयके कुछ देश-भक्त भारतीयोंके संसर्गमें आनेके बाद उन्होंने अपना यह विचार छोड़ दिया। इनमें सबसे मुख्य थे मि० हसन शहीद सुहरावर्दी। ये विद्वान् होनेके साथ-साथ देश-भक्त, कवि और नाटककार भी थे। रूसी राज्यक्रान्तिके दिनोंमें उन्होंने जो कार्य किया अथवा नाटक और कलाके क्षेत्रमें उनकी जो कृति हुई, उससे देशके बहुत कम लोग परिचित हैं। उनके छोटे भाई सुहरावर्दी भी--जो कलकत्ता कारपोरेशनके डिप्टी-मेयर रह चुके हैं--गिड्वानीजीके साथ ही रहते थे और उनके घनिष्ठ मित्र थे। आक्सफोर्डमें गिड्वानीजीको मेज़िनीके ग्रन्थोंके पढ़नेका शौक़

हुआ। चार वर्ष बाद आक्सफोर्डसे एम० ए० परीक्षा पास करके वे भारतवर्षको लौटे, और यहाँ सन् १९१६ में इलाहाबादके म्योर सेण्ट्रल कालेजमें आई० ई० एस० में प्रोफेसर नियुक्त हो गये।

जीवनके प्रयोग

आक्सफोर्डसे गिड्वानीजी यह दृढ़ विचार करके लौटे थे कि यथाशक्ति स्वाधीनता-संग्राममे भाग लेंगे। म्योर सेण्ट्रल कालेजका वायुमंडल इसके लिए उपयुक्त नही था। अनेक जिम्मेदारियोंके कारण वे एक साथ राजनैतिक क्षेत्रमें नहीं आ सकते थे, इसीलिए उन्हें यह सरकारी नौकरी करनी पड़ी, पर उन्होंने अपने विचारोंको छिपाया नहीं। थोड़े दिनों बाद बीकानेरके महाराजके प्राइवेट-सेक्रेटरीका पद ख़ाली हुआ। आपने उसके लिए प्रार्थनापत्र भेज दिया। कालेजके अधिकारियोंने मनमें सोचा कि चलो एक आफ़त टली, एक ख़तरनाक आदमीसे पिंड छूटा। गिड्वानीजीको आशा थी कि एक उन्नतिशील देशी राज्यके अनुभव उन्हें राजनैतिक ज्ञान-प्राप्तिके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगे, पर उनकी यह आशा शीघ्र ही निराशामें परिणत हो गई। चार महीनेमें ही उन्हें देशी राज्योंका खोखलापन प्रकट हो गया और वे वहाँसे छोड़कर चले गये। इसके बाद कुछ सप्ताह वे मेयो-कालेज अजमेरमें अध्यापक रहे और वहाँसे सन् १९१८ में दिल्लीके रामजस-कालेजमें प्रिंसिपल बनकर चले आये।

उन दिनों रामजस-कालेजको एफ० ए० की परीक्षाके लिए भी सरकारसे स्वीकृति नहीं मिली थी। गिड्वानीजीके आते ही उनके प्रयत्नसे उसे दो वर्षके भीतर ही आर्ट और साइन्स दोनोंके लिए बी० ए० तककी स्वीकृति मिल गई। गिड्वानीजीको योग्य व्यक्तियोंकी अच्छी पहचान है, और वे इधर-उधरसे संग्रह करके उन्हें अपनी संस्थामें रखना जानते हैं। यही कारण था रामजस-कालेजकी सफलताका।

सन् १९२० ई० में आपने रामजस-कालेजके प्रिंसिपलके पदसे त्याग-

पत्र दे दिया और महात्माजीके असहयोग-आन्दोलनमें सम्मिलित हो गये। स्वामी श्रद्धानन्दजीकी प्रेरणासे ही उन्होंने ऐसा किया था। दिल्ली छोड़कर आप गुजरात आ गये और गुजरात-विद्यापीठके निर्माणमें आपका ज़बरदस्त हाथ रहा। विद्यापीठमे ही उनके अधीन रहकर कई वर्ष तक कार्य करनेका सौभाग्य इन पंक्तियोंके लेखकको प्राप्त हुआ था, और यह बात बिना किसी संकोचके कही जा सकती है कि विद्यीपीठके वायुमंडलपर गिड्वानीजीके व्यक्तित्वकी गहरी छाप पड़ी थी। शिक्षा, संस्कृति और स्वाधीनताकी दृष्टिसे अहमदाबादका गुजरात-महाविद्यालय गुजरातके किसी भी फर्स्ट क्लास कालेजसे कही बढ़कर था, और वहाँका पुस्तकालय तो अन्य पुस्तकालयोंसे बहुत ऊँचे दर्जेका था।

जब आप गुजरात-विद्यापीठमें थे, उस समय त्यागमूर्ति पं० मोतीलालजीका तार मिला कि जवाहरलालजीके साथ नाभा जाओ। आप वहाँ गये और पकड़ लिये गये तथा नाभाकी जेलमें आपको लगभग साल-भर तक रहना पड़ा। इस बीचमें आपका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया।

महात्माजीने आपको प्रेम-महाविद्यालय वृन्दावनका अध्यक्ष बनाकर भेजा, और यहाँ आप लगभग दो वर्ष रहे। आपके प्रयत्नसे प्रेम-महाविद्यालयमें एक नवीन जीवनका संचार हो गया। उसकी कार्यकारिणी समितिमें कांग्रेसवालोंका प्राधान्य करना आपके ही सदुद्योगका फल था। प्रेम महाविद्यालयसे आप कराँचीके म्युनिसिपल बोर्डके शिक्षाध्यक्ष बनकर अपने प्रान्तको वापस गये। वर्तमान आन्दोलनके प्रारम्भ होनेपर भला आपको बिना कार्य किये कैसे चैन मिल सकता था? अतएव आपने पिकेटिंग करना शुरू किया, और अब आप साल-भरके लिए जेल भेज दिये गये हैं।

गिड्वानीजीका व्यक्तित्व

जैसा कि हम बतला चुके हैं, गिड्वानीजी बड़े विचारशील हैं, और

विचारोंकी जिस सतहपर वे विचरते हैं, वह काफ़ी ऊँची है। अमेरिकन दार्शनिक एमर्सनने महापुरुषकी व्याख्या इन शब्दोंमें की थी—"I count him a great man who inhabits a higher sphere of thought, intó which other man riśe with labour and difficulty." अर्थात्—"मैं उसे महापुरुष कहता हूँ, जो विचारोंकी इतनी उच्च सतहपर रहता हो, जहाँ दूसरे आदमी बड़े परिश्रम और कठिनाईसे ही पहुँच सकें।"

यह बात ध्यान देने योग्य है कि गिड्वानीजी एमर्सनके बड़े भक्त हैं, एमर्सनके कितने ही वाक्य इन्हें कण्ठस्थ हैं और उनके 'Self reliance' (आत्म-निर्भरता) नामक निबंधको वे एक ऐसी अमूल्य चीज़ समझते हैं, जिसे प्रत्येक नवयुवकको पढ़ना चाहिए। हमारे देशके नवयुवक नेताओंमें बहुत कम ऐसे हैं, जो स्वतन्त्र विचार कर सकते हों। गिड्वानीजीका एक बड़ा गुण उनकी स्वतन्त्र विचारशैली है। कहींपर एक अंग्रेज़ शिक्षा-विशेषज्ञका व्याख्यान था। गिड्वानीजी भी सुननेके लिए गये थे। आपसे भी बोलनेके लिए कहा गया। आप बोले और बहुत अच्छा बोले। उस अंग्रेज़ने गिड्वानीजीको बधाई देते हुए कहा—"क्या आपने बर्ट्रेण्ड रसैल की हालमें छपी शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तक पढ़ी है?" गिड्वानीजीने कहा—"नहीं तो।" उस वक्ताको ताज्जुब हुआ, क्योंकि गिड्वानीजीके विचार रसेलके, जो अंग्रेज़ विचारकोंमें शिरोमणि हैं, विचारोंसे बहुत कुछ मिलते-जुलते थे।

गिड्वानीजीकी व्याख्यानशैली उच्चकोटिकी है, स्वर बड़ा कर्णप्रिय है और उनके व्याख्यानोंमें मानसिक भोजनका काफ़ी मसाला रहता है। अमेरिकासे लौटनेके बाद लाला लाजपतरायजी दिल्लीकी स्पेशल कांग्रेसमें सम्मिलित हुए थे। गिड्वानीजीका भी उसमें भाषण हुआ था। लालाजीने अधिवेशनके विषयमें अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा था कि कांग्रेसमें सर्वोत्तम भाषण गिड्वानीजीका ही था।

उनकी भाषणशैली माननीय श्रीनिवास शास्त्रीजीकी शैलीकी अनुगामिनी है, श्रीमती सरोजिनी नायडूकी शैलीकी नहीं ।

गिड्वानीजीके चरित्रकी सबसे बड़ी ख़ूबी उनके मधुर वार्तालाप और मिलनसारीमें दीख पड़ती है । उनका आतिथ्य हृदयग्राही है । इसमें सन्देह नहीं कि अपनी बातचीतसे वे सुसंस्कृत-से-सुसंस्कृत आदमी पर ज़बरदस्त असर डाल सकते हैं । दलबन्दीके प्रति उनके हृदयमें घृणा है । विरोधियोंके प्रति भी कटुवाक्योंका प्रयोग करना वे अनुचित समझते हैं और अपने साथियोंकी कमज़ोरियोंके प्रति उनके हृदयमें अधैर्य न होकर सहानुभूति ही है । यदि जवाहरलालजी अपनी अनुपम कर्तव्यनिष्ठा और कठोर शासनसे साथियोंपर प्रभाव डालते हैं, तो गिड्वानीजी अपने मधुर व्यक्तित्व और उदार-विचारशैलीसे । गिड्वानीजीमें जिस चीज़की कमी है, वह है शारीरिक परिश्रम करने योग्य स्वास्थ्यकी । उन्होंने काफ़ी कष्ट सहे हैं, पर कष्ट सहके वे शरीरसे निर्बल हो गये हैं । यदि उनके आत्मिक बलके साथ उच्च शारीरिक स्वास्थ्य भी होता, तो फिर क्या कहना था !

गिड्वानीजी कष्टोंमें भी प्रसन्न रहना जानते हैं । वृन्दावनमें उनका स्वास्थ्य प्रायः अच्छा नहीं रहता था । वहाँ आसपासका वायुमंडल अनुदार विचारोंके साथ-साथ मलेरियाके कीटाणुओंसे भी परिपूर्ण था । वे कई बार बीमार पड़े । जब उनके मित्रोंने कहा कि आप इस स्थानको छोड़कर चले जाइये, यहाँ आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता । आपने यही जवाब दिया—"Life's work lies where you find yourself and not where you wish to be." अर्थात्—"जहाँ परिस्थितिने तुम्हें ला पटका है, वहीं तुम्हारा कर्तव्य-क्षेत्र है, वह नहीं, जहाँ तुम जाना चाहो ।"

पर वृन्दावनमें अनेक कष्टोंके होते हुए भी उनके लिए एक आकर्षण था, वह वृन्दावनका सन्ध्याकालीन दृश्य और सूर्यास्त । वे अक्सर कहा करते

थे—"मेरे सब कष्टोंके लिए यह दृश्य मानो पुरस्कार है !" जो आदमी इस प्रकार कल्पनाके साम्राज्यमें रहता है, वह भला कैसे दुःखी हो सकता है ? छोटी-छोटी चीजोंसे प्रसन्नता प्राप्त करना ही बड़प्पनकी निशानी है।

गिड्वानीजी स्वभावतः शान्त प्रकृतिके आदमी हैं और उनकी आकाँक्षाएँ भी इसी प्रवृत्तिकी सूचक हैं। आपकी एक आकाँक्षा है कि छोटे-छोटे बच्चोंके लिए एक आश्रम स्थापित किया जाय, और सिंधके प्रसिद्ध सन्त दयाराम गीदूमलके नामपर आपने एक आश्रम स्थापित किया भी था। सिन्धी भाषाके आप अच्छे लेखक हैं, और उन्होंने कई पुस्तकें भी सिन्धी भाषामें लिखी हैं। उनकी एक पुरानी आकाँक्षा यह भी है कि ६ महीनेकी छुट्टी लेकर दो महीने डाक्टर ब्रजेन्द्रनाथ शील, दो महीने टी० एल० वास्वानी और दो महीने मि० ऐण्ड्रूज़की सेवामें रहा जाय।

गिड्वानीजीके मधुर व्यक्तित्वको उनके त्याग और देश-भक्तिने आकर्षक बना दिया है। वह दिन मुझे अभी तक नहीं भूला। दिल्लीके स्टेशनपर गाड़ीका इन्तजार कर रहा था कि अकस्मात् कुछ दूरीपर खादीका कुरता पहने हुए एक दुर्बल-सा आदमी दीख पड़ा। चेहरा कुछ परिचित-सा मालूम होता था। कुछ निकट जाकर देखा, तो मालूम हुआ कि गिड्-वानीजी हैं ! वे तौलमें तीस पौंड घट गये थे और पहचाने भी नहीं जाते थे। कहाँ उनका गुजरात-विद्यापीठका चमकता हुआ चेहरा और कहाँ नाभा-जेलके बादका सूखा हुआ चोला ! पहचानते ही हृदय भर आया और इस बार चरण छूकर मैंने उनका अभिवादन किया, यद्यपि मैं उन्हें पहले नमस्कार ही किया करता था।

एक दूसरा दृश्य भी देखिये। 'सिन्ध हैराल्ड' के २९ जूनके अंकमें सम्पादकने लिखा था :—

"गिड्वानीजी कराँचीमें विदेशी वस्त्रोंकी दूकानपर पिकेटिंग कर रहे थे। कड़ी धूपमें खड़े बहुत देर हो चुकी थी। उनकी धर्मपत्नी

गंगाबहनने आकर कहा––"अब तुम घर जाओ। तुम्हें खड़े-खड़े बहुत देर हो चुकी है। वहाँ बच्चोंकी देख-भाल करना। अब मेरी पारी है। मैं पिकेटिंग करूँगी।"

गिड्वानीजीने कहा––'अच्छा, कोई बात नहीं, पर सुनो तो, हम दोनों ही साथ-साथ क्यों न पिकेटिंग करें।'

एक मित्र वहाँ खड़े हुए थे, बोले––'और बच्चोंकी देख-भाल कौन करेगा ?'

उत्तर मिला––'भारत माता।'

कोई आश्चर्यकी बात नहीं, यदि ब्रिटिश सरकार ऐसे देश-भक्त दम्पतिको साम्राज्यके लिए भयंकर समझे ! यही कारण है कि जो व्यक्ति किसी स्वाधीन देशमें सरकारी विश्वविद्यालयके कुलपति या वैदेशिक राजदूतके पदको सुशोभित करता, वह आज सरकारी जेलमें पड़ा हुआ. रस्सियाँ बट रहा है !

मई १९३०]

श्रद्धेय बाबू राजेन्द्रप्रसादजी

स्वर्गीय आचार्य गिड्वानीजीने एक बार मुझसे कहा था--"मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि मैं तीर्थयात्रा करूँ--एक-एक महीने तक पाँच व्यक्तियोंकी सेवामें रहकर उनके सत्संगका लाभ उठाऊँ।" जब उन व्यक्तियोंके नाम मैंने पूछे तो उन्होंने पाँच नाम गिनाये--आचार्य ब्रजेन्द्रनाथ शील, साधु टी० एल० वास्वानी, माननीय श्रीनिवास शास्त्री, कवीन्द्र श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर और दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़।

इन पाँचों व्यक्तियोंके प्रति आचार्य्य गिड्वानीजीकी अनन्य श्रद्धा थी। मुझे उनका यह विचार बहुत पसन्द आया और जब मैंने इस बारेमें उनसे अधिक पूछताछ की तो उन्होंने कहा--"नाभा-जेलकी काल-कोठरीमें जब मैंने महाभारतका वह सर्ग पढ़ा, जिसमें पाण्डवोंकी आर्य्यावर्त्त-यात्राका वर्णन था, तो मेरे मनमें यह आकांक्षा उत्पन्न हुई कि मैं भी एक क्षुद्र विद्यार्थीकी हैसियतसे (सुधारक या आन्दोलकके रूपमें नहीं!) भारतके भिन्न-भिन्न स्थानोंकी यात्रा करूँ और नवजीवन-संचारक संस्थाओंमें मातृभूमिके सन्देशको सुनूँ--एक-एक महीने देशकी मुख्य-मुख्य विभूतियोंकी सेवामें रहूँ।"

गिड्वानीजी 'एमर्सन'के बड़े भक्त थे और उन्हींने मुझे भी एमर्सनका प्रेमी बना दिया था। एमर्सनने एक जगह लिखा है--"यदि मुझे किसी ऐसे कुतुबनुमेका पता लग जाय, जिसकी सुई ऐसे देशों तथा मकानोंकी ओर इशारा कर सके, जहाँ शक्तिशाली महान् व्यक्तियोंका निवास-स्थान है, तो मैं तुरन्त अपना सब माल-असबाब जमीन-जायदाद बेचकर उस कुतुबनुमेको ख़रीद लूँ और आज ही उन देशोंकी यात्रा प्रारम्भ कर दूँ!"

अत्यन्त दुःखकी बात है कि अकस्मात् हृद्गतिके रुक जानेके कारण

गिड्वानीजीका स्वर्गवास हो गया और वे अपनी आकांक्षाकी पूर्ति न कर सके। पर उनका स्फूर्तिप्रद विचार उनकी विमल कीर्त्तिके साथ विद्यमान है और हम लोग अपने-अपने श्रद्धेय व्यक्तियोंकी सेवामें उपस्थित हो सकते हैं।

सन् १९३७की जनवरीके 'विशाल भारत'में, 'हमारे तीर्थ' नामक लेखमें, हमने अपने जिन तीर्थोंका ज़िक्र किया था, उनमें तीसरे नम्बर पर श्रद्धेय बाबू राजेन्द्रप्रसादजीके ग्रामका नाम भी था। प्रथम दो थे—पूज्य महात्माजीका सेवाग्राम और पूज्य द्विवेदीजीका दौलतपुर। सन् १९४५में अपने पुण्योंके उदयके कारण मैं राजेन्द्रबाबूके उक्त ग्राम (जीरादेई)के ८-१० मील निकट तक पहुँच भी गया; पर उसी समय मुझे पुलिस द्वारा सूचना मिली कि मेरे नाम वारण्ट है और इसलिए अपनी तीर्थ-यात्राके बिना ही मुझे लौटना पड़ा।

श्रद्धेय राजेन्द्रबाबूके प्रथम दर्शनका सौभाग्य मुझे सन् १९२१में प्राप्त हुआ था, जब स्वर्गीय सेठ जमनालालजी बजाजके यहाँ हमलोग साथ-साथ ठहरे हुए थे। उस समयकी एक बात मुझे स्मरण है। उन्होंने कहा था—"मैं चाहता हूँ कि आप मेरा लिखा 'चम्पारनका इतिहास' एक बार देख लें।" उस समय मैंने यही निवेदन किया था—"आपकी लिखी चीज़को आलोचककी दृष्टिसे देखनेकी धृष्टता मैं कैसे कर सकता हूँ?" उनकी उस विनम्रताका मुझपर बड़ा प्रभाव पड़ा। मुझ-जैसे साधारण लेखकको भी वे गौरव देनेके लिए तैयार थे। तत्पश्चात् मुझे कई बार उनके दर्शन करनेका सुअवसर मिला है। कानपुर-कांग्रेसमें, देवघरके साहित्य-सम्मेलनमें, बिड़ला-हाउस (दिल्ली)में, वर्धामें तथा नई दिल्लीकी सरकारी कोठीमें भी, और मेरी श्रद्धा उनके प्रति निरन्तर बढ़ती ही गई है। सम्भवतः इसका कारण यही है कि उन्होंने अपनी राजनीतिसे ऊपर उठकर कहीं ऊँचे धरातलपर अपनी मनुष्यताको बनाये रक्खा है। देशमें कई ऐसे नेता होंगे जो विद्वत्ता, वाक्शक्ति, व्यक्तित्व

तथा प्रभावमें—एक-एक गुणमें अलग-अलग—उनसे बढ़कर सिद्ध हों; पर इस विषयमें हमें शक है कि सरल निरभिमानता और अकृत्रिम सहृदयतामें भारतका अन्य कोई नेता उनके निकट भी पहुँच सके। उनकी सहृदयताका ही यह परिणाम है कि उनके पास जानेमें किसी भी साहित्यिकको कुछ डर नहीं लग सकता। प्रत्येक साहित्यिक यह बात जानता है—अगर कोई न जानता हो तो उसे अब जान लेना चाहिए—कि राजेन्द्रबाबूके यहाँ उसका गौरव सुरक्षित है, उनके द्वारसे वह दुरदुराया न जायगा। आजके युगमें, जब स्वाभिमानी साहित्यिक इस परिणामपर पहुँच चुके हैं कि राजनैतिक नेताओंके सम्पर्कमें आना ख़तरेसे ख़ाली नहीं, राजेन्द्रबाबूका दम ग़नीमत है। वे विद्वान् हैं, हिन्दी-लेखक हैं और सबसे बढ़कर बात यह है कि वे मनुष्य हैं और 'सर्वजन-सुलभ' हैं।

देवघरका वह दृश्य मुझे अब भी स्मरण है, जब वहाँके हिन्दी-समाजने अपनी अविवेकपूर्ण श्रद्धाके कारण उनका जुलूस निकाला था। उनका वह रूप मुझे आज भी याद है। चेहरे और मूछोंपर धूल भर गई थी और मुँहपर हवाइयाँ उड़ रही थीं। कोई भी समझदार व्यक्ति उनकी थकानका आसानीसे अनुमान कर सकता था; पर इतनी अक़्ल श्रद्धालु जनतामें कहाँसे आती! उसी दिन उनको अधिवेशनमें तो भाग लेना ही पड़ा, रातको बारह या एक बजे तक जगकर हिन्दी-कवियोंकी कविताएँ भी सुननी पड़ीं! अपनी थकानके कारण मैं तो उस कवि-सम्मेलनमें जा नहीं सका, पर मैंने कवि-मण्डलीसे सुन अवश्य लिया कि श्रद्धेय बाबूजीने बड़े प्रेम-पूर्वक कविताएँ सुनी थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'वशीकरण' मन्त्र उनके हाथ लग गया है और वह शायद यही है कि उनके हृदयमें छोटे-बड़ेका कोई अन्तर नहीं और प्रत्येकके व्यक्तित्वका वे यथोचित सम्मान करते हैं। बड़े-से-बड़े लगाकर छोटे-से-छोटे तकसे उनका मिलन सरल स्वाभाविकतासे ही होता है। यही कारण है कि विरोधी दलके लोगोंके भी हृदयमें उनके प्रति श्रद्धाकी ही भावना रहती है।

उन्होंने साधारण जनताके उस सम्पर्कको नहीं खोया है, जिसकी कविवर किपलिंगकी 'यदि' (If)नामक कवितामें बड़ी प्रशंसा की गई है।

अपना एक विचित्र अनुभव यहाँ सुना दूँ। हमलोग पत्रोंमें पढ़ चुके थे कि श्रद्धेय बाबूजी कांग्रेसके सभापति होनेवाले हैं और उससे हम सबको महान् हर्ष हुआ था। एक दिन डाकसे एक कार्ड मिला--

२४ सितम्बर १९३४

श्री चतुर्वेदीजी, प्रणाम।

आपको एक कष्ट दिया चाहता हूँ...मेरे ऊपर कांग्रेसके सभापतित्वका भार...। आप कृपया प्रवासी भारतीयोंके सम्बन्धमें छोटा-सा लेख मुझे दें, जिसमें उनकी वास्तविक वर्तमान परिस्थितिका थोड़े-से-थोड़े शब्दोंमें निराकरण रहे। आजकल विशेष जंजीबार, दक्षिण अफ्रीका, मोरीशस-सम्बन्धी चर्चा हो रही है। उनके तथा अन्य प्रदेशोंमें भारतीयों-सम्बन्धी जो जानने-योग्य बातें हों, कृपया थोड़ेमें लिख भेजनेकी दया करें। मैं आज वर्धा जा रहा हूँ। वहाँसे ता० ३०-९ तक वापस आऊँगा। दीनबन्धु एण्ड्रूज़से मैंने अपनी यह इच्छा प्रकट की कि आपको कष्ट दिया चाहता हूँ। उन्होंने बहुत पसन्द किया। वे आज पं० जवाहर-लालसे मिलने प्रयाग गये। वहाँसे वर्धा चले जायेंगे और फिर बम्बई होते हुए इंगलैण्ड।

आपका

राजेन्द्रप्रसाद

इस कार्डको पढ़कर मुझे सचमुच आश्चर्य हुआ। प्रवासी भार-तीयोंकी सेवाके लिए बीस वर्ष तक जो कार्य मुझसे बन पड़ा था, इस कार्डने उसका भरपूर पुरस्कार मुझे दे दिया। कहाँ कांग्रेसके मनोनीत सभापति और कहाँ हिन्दीका एक क्षुद्र लेखक! इसी प्रकारका एक दूसरा पत्र श्रद्धेय राजेन्द्रबाबूने सेलमसे २६-१०-३५को भेजा था--

प्रणाम,

आपको एक कष्ट देना है। कांग्रेसकी ५०वीं जयन्ती मनानेका निश्चय हुआ है। उस दिनके लिए दो गीत चाहिएँ। हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानीमें एक राष्ट्रिय गीत और एक झंडा-अभिवादनके लिए। विचार हुआ है कि हिन्दी और उर्दूके सभी विख्यात कवियोंको कहा जाय कि वह तैयार कर देवें और उनमें जो सबसे उत्तम हों, वही स्वीकृत हों और सभी जगहोंपर उस दिन गाये जायें। भाषा ऐसी होनी चाहिए जो हिन्दू और मुसलमान दोनों ही के लिए सुलभ हो और भाव उत्कृष्ट राष्ट्रिय हों। पहले विचार हुआ कि विज्ञापन द्वारा लोगोंसे निवेदन किया जाय। फिर यह सोचा गया कि अच्छे कवि शायद विज्ञापनसे रुष्ट होकर न लिखें। इसलिए यह निश्चय हुआ कि पत्र लिखकर ही प्रार्थना की जाय। मेरा निवेदन है कि आप इस कामको अपने हाथमें लेवें और सब लोगों से पत्र-व्यवहार करके, और अगर किसी उर्दू जाननेवाले सज्जनकी सहायताकी जरूरत हो तो उनसे भी सहायता लेकर, सुन्दर-से-सुन्दर दो गीत तैयार करावें। जब बहुत लोगोंकी कविताएँ आ जायेंगी तो यह जाँचना भी होगा कि किसकी स्वीकार की जाय और इसके लिए दो-तीन सज्जनोंकी कमेटी बना दी जायगी। आप कृपया इसको हाथमें लें और मुझे सूचित करें कि आप क्या कर रहे हैं और किन लोगोंकी कमेटी बनाई जाय। उत्तर C/o Congress House, Mount Road, Madras के पते पर भेजें।

आपका

राजेन्द्रप्रसाद

एक बार जब मैंने अपना लेख 'हमारा मुख्य कार्य क्या है—साहित्य-रचना या हिन्दी-प्रचार ?' उनकी सेवामें भेजकर उनकी सम्मति चाही थी तो उन्होंने मेरे लेखके विपक्षमें ही सम्मति दी थी। मेरा वह लेख वस्तुतः एकाङ्गी था और उसमें मैं सन्तुलन ही

खो बैठा था। उनका वह पत्र भी उद्धृत करने योग्य है—

सदाक़त आश्रम, पोस्ट दीघाघाट, ज़ि० पटना, १३,४,३८

श्रद्धेय चतुर्वेदीजी, प्रणाम।

आपका लेख और 'प्रताप' के लेखकी प्रतिलिपि मिली। मैं समझता हूँ कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनने अहिन्दी प्रान्तोंमें राष्ट्रभाषा-प्रचारका काम करके कोई भूल नहीं की है। हिन्दी राष्ट्रभाषा है, इसलिए राष्ट्रके नाते हिन्दी-प्रेमियोंका कर्तव्य है कि अहिन्दी प्रान्तोंमें इसका प्रचार करें। प्रचारमें जो कुछ काम किया गया है, उससे न तो हमें शर्मिन्दा होना है और न किसी प्रकारका क्षोभ करना है। जो काम हुआ है उसका फल भी यथेष्ट मिला है और अगर आजतक पूरी सफलता नहीं मिली है तो उसका कारण हमारी राष्ट्रभावनाकी कमी है। मद्रास प्रान्तमें, जहाँकी भाषा हिन्दीसे बिल्कुल भिन्न है, सबसे अधिक उत्साह देखा जाता है; क्योंकि वहाँके शिक्षित वर्गमें बहुत लोगोंने यह समझ लिया है कि राष्ट्रके लिए राष्ट्रभाषा आवश्यक है और वह भाषा हिन्दी ही हो सकती है। आप जानते होंगे कि इधर कई वर्षों से वहाँका सारा ख़र्च वहाँके लोगोंसे ही मिलता है और उत्तर भारतसे पैसे नहीं भेजे जाते हैं। मैं समझता हूँ कि इसी प्रकारसे अन्य अहिन्दी प्रान्तोंमें भी कुछ दिनों काम करनेके बाद हमारा वैसा ही अनुभव होगा और वहाँ भी वहाँके ही लोग सारा भार अपने ऊपर ले लेवेंगे। इसमें अगर कुछ विलम्ब होता है तो हमको न तो निराश होना चाहिए और न घबराकर हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ जाना चाहिए।

मैं यह नहीं मानता हूँ कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके प्रचार-काममें लगे रहनेके कारण वह साहित्य-निर्माणमें सहायता नहीं दे सका है। अगर आज सम्मेलन प्रचार-कामको छोड़ देवे तो भी, जहाँ तक मैं समझता हूँ, साहित्य-निर्माणमें वह अधिक सहायक नहीं हो सकेगा। तो भी अगर सम्मेलनके हितैषियोंका यह विचार हो और वह उसे स्वीकृत हो तो मैं

भी इसे मान लूँगा कि प्रचार-कामको सम्मेलन अपने हाथमें न रखकर दक्षिण-भारत-हिन्दी-प्रचार-समिति और वर्धाकी प्रचार-समिति तथा इस प्रकारकी अन्य संस्थाओंको स्वतंत्र रूपसे सौंप दे और उनपर ही प्रचार-के ख़र्च जमा कर लेने और दूसरे प्रबन्धका भार छोड़ देवे। ऐसा करनेसे उसका बोझ कुछ कम हो जायगा और वह साहित्य-निर्माणके काममें लग सकेगा और ये दूसरी संस्थाएँ प्रचार-कामको ज़ोरोंसे चला सकेंगी।

हिन्दी-प्रचारको मैं भीखकी झोली नहीं मानता और न यह मानता हूँ कि इसके पीछे कोई द्वेष-बुद्धि है। इसका एकमात्र उद्देश्य है और वह है सारे देशके लिए एक राष्ट्रभाषाका प्रचार। किसी भी प्रान्तीय भाषाको मिटाने या कमज़ोर करनेकी इच्छा किसीके दिलमें स्वप्नमें भी नहीं आई और न आयेगी। हम अपना राष्ट्रके प्रति कर्तव्य-मात्र कर रहे हैं और उसे करते रहनेमें ही हमारा और देशका कल्याण है। हाँ, यह दूसरी बात है कि यह कर्तव्य सम्मेलन द्वारा कराया जाय अथवा अन्य संस्थाओं द्वारा।

राजेन्द्रप्रसाद

श्रद्धेय बाबूजीका सबसे महत्त्वपूर्ण पत्र जो मेरे पास है, वह है २ अगस्त सन् १९४५ का और उसमें उन्होंने हिन्दी-उर्दूके विषयमें जो विचार प्रकट किये हैं, उनसे मैं पूर्णतया सहमत हूँ और वे आज वर्षों बाद भी ज्यों-के त्यों ताज़ा और उपयोगी हैं—

बिड़ला-भवन
पिलानी, जयपुर-राज्य, राजपूताना
२–८–१९४५ ई०

श्रद्धेय चतुर्वेदीजी, प्रणाम।

आपका २२–७ का पत्र मुझे यथासमय मिला। उसके साथ ही रजिस्ट्री द्वारा पद्मसिंह-लिखित 'हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी' नामक पुस्तक

भी मिली। बहुत धन्यवाद। मैंने इस पुस्तकको नहीं देखा था। पढ़ रहा हूँ और जो मेरी धारणा रही है, उसकी पुष्टि इसमें मिल रही है। आजकल लोगोंने बिना कारण इतना बड़ा झगड़ा खड़ा कर रखा है। पर मेरा यह विचार है कि हिन्दीवालोंको भी हम इस दोषसे बिल्कुल बरी नहीं कर सकते। अनेकानेक हिन्दी-लेखक भी भाषाकी जटिलतामें ही उसकी सुन्दरता देखते हैं। हम बहुधा भूल जाते हैं कि सादगीमें भी सुन्दरता है और ओज भी है। इसलिए हिन्दीको किसी भाषासे शब्दोंको लेनेमें संकोच नहीं करना चाहिए। यद्यपि हम केवल फारसी-अरबी ही नहीं, अँग्रेज़ी इत्यादि यूरोपीय भाषाओंसे भी शब्द लेते हैं और हमें लेना चाहिए, हम यह नहीं भूल सकते कि जहाँ पारिभाषिक शब्दोंकी ज़रूरत पड़ेगी, हमें अधिकाधिक संस्कृत पर ही भरोसा करना पड़ेगा और यदि उर्दूवाले इसके लिए हमसे कुढ़ते हैं तो हम इससे नहीं डरते; पर हिन्दी-उर्दूका झगड़ा केवल इतना ही नहीं है। मैं उसमें कुछ साम्प्रदायिकता भी देखता हूँ। यह बात दोनों ओरसे हो रही है और इसलिए जटिलता बढ़ती जा रही है। हिन्दीके लिए कोई डर नहीं है; क्योंकि इसकी नींव मज़बूत है। यदि हिन्दीवाले दूरन्देशीसे काम लें तो हिन्दी ही राष्ट्रभाषा बन सकती है, अर्थात् हिन्दीका वह रूप जो मैं चाहता हूँ, जिसमें बहिष्कार-की नीतिसे काम नहीं लिया जाता, जिसमें किसी जाति अथवा भाषाके प्रति द्वेषका भाव नहीं है और जो जनताके लिए सुगम और सहजमें समझमें आनेवाली है। राष्ट्रभाषा बननेके लिए उसे प्रांतीय भाषाओंके निकट जाना होगा और वह तभी हो सकता है, जब उसमें देशी शब्दोंका ही बाहुल्य हो, विदेशी शब्दोंका नहीं। पर आज कुछ लोगोंके विचार ज़रूर संकुचित हो गये हैं। जहाँ एक ओर अहिन्दी-भाषियोंको हिन्दी सिखानेका प्रयत्न हो रहा है, वहाँ उन लोगोंसे जो हिन्दीके रूपान्तर-को अपनी भाषा मानते हैं और जो उसे बोलते हैं और लिखते हैं, हिन्दी जटिल बनाकर छीन ली जा रही है। मैं इसमें बुद्धिमानी नहीं

देखता। पर मुझे विश्वास है कि यह दौर कुछ दिनोंमें ख़त्म हो जायगा। अस्तु।

मैंने 'अमरशहीद फुलेनाप्रसाद श्रीवास्तव' नामक पुस्तिका किसी पत्रमें उद्धृत जेलमें ही देखी थी। मुझे उसीसे पहले-पहल यह रोमांचकारी घटना मालूम हुई; क्योंकि मुझे जेलमें इसकी सूचना नहीं मिली थी। ...मुझसे मृत्युञ्जयने कहा था कि आप जीरादेई जानेवाले थे; पर मैं समझता हूँ कि शायद उस पुस्तिका-संबंधी मुक़द्दमेके खड़े हो जानेके कारण ही आपका उधर जाना नहीं हुआ। जो हो, अब आप एक बार उधर मेरे रहनेके समय पधारें तो बहुत अच्छा हो। उस समय यदि आपके दर्शनोंका ही नहीं, सहवासका भी सुअवसर हो जाय तो सोनेमें सुगन्ध हो जाय। यहाँसे बिहार जानेके बाद कुछ दिनों तक तो मैं व्यस्त रहूँगा, तीन वर्षोंके बाद लोगोंसे मिलनेका अवसर मिलेगा। इसके अतिरिक्त आन्दोलनमें बहुतेरोंके साथ बहुत दुर्व्यवहार और ज़ुल्म किया गया है। उनको कुछ सहायता पहुँचानेका काम है। इसलिए आज यह कहना संभव नहीं है कि मैं कब निश्चिन्त होकर दस-पाँच दिनोंके लिए जीरादेई बैठ सकूँगा। पर जब कभी हो, आप यदि आ सकें तो मैं बड़ा अनुगृहीत होऊँगा।

आपका विचार बहुत सुन्दर है। आन्दोलनका जीवित इतिहास सिपाहियोंकी बहादुरी और जनताके त्यागका ही इतिहास हो सकता है। आप यदि इसे अपने हाथमें लें तो बहुत अच्छा हो, पर इसके लिए मसाला जमा करना कठिन है और समय तथा परिश्रम अपेक्षित है। छपरामें काम करनेवाले हैं और वह हिन्दीकी सेवा कर सकते हैं। उनको मार्ग दिखला दें तो वह सुगमतासे आगे बढ़ सकते हैं। कृपा बनाये रक्खें।

आपका
राजेन्द्रप्रसाद

श्रद्धेय बाबूजीके ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं—"आन्दोलनका जीवित इतिहास सिपाहियोंकी बहादुरी और जनताके त्यागका ही इतिहास हो सकता है।"

एक बात निश्चित है। 'परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं निज-हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः'—इस प्राचीन सूक्तिके अनुसार श्रद्धेय बाबूजी वास्तविक सन्त हैं; क्योंकि दूसरोंके परमाणु-समान गुणोंको पर्वत समझनेकी कला उन्होंने सीख ली है। पर इसमें एक खतरा मौजूद है, वह यह कि बाबूजीके इस सन्तपनसे बिचारे परमाणुओंका दिमाग़ आसमानपर चढ़ सकता है। हम उन मूर्खोंमेंसे नहीं हैं, जो श्रद्धेय बाबूजीके इस विनम्रतापूर्ण व्यवहारसे व्यर्थाभिमानमें भर जायें। जिसे अपनी क्षुद्रताका अनुभव हो चुका हो, वह बाबूजीके प्रशंसात्मक शब्दोंका उचित मूल्याङ्कन आसानीसे कर सकता है। इन पत्रोंको उद्धृत करते हुए हमारे मनमें केवल एक ही भावना है, वह यह कि पाठक देखलें कि हमारे देशमें एक सर्वश्रेष्ठ राजनैतिक नेता ऐसे भी विद्यमान हैं, जो एक क्षुद्र साहित्यसेवीकी भी उपेक्षा नहीं करते।

जैसा हमने प्रारम्भमें ही लिखा है, बाबूजीके गाँवपर ही दो-तीन दिन उनकी सेवामें बितानेकी प्रबल इच्छा बहुत वर्षोंसे रही है; पर वह सौभाग्य अबतक नहीं मिल पाया।

सबसे अधिक करुणोत्पादक दृश्य हमें सरकसमें वही दीख पड़ता है, जिसमें शेरको अग्निमय लौहचक्रके भीतरसे कुदाया जाता है, और बिना किसी संकोचके हम यह कह सकते हैं कि सरकारी पदाधिकारी डॉक्टर राजेन्द्रप्रसादजीके नई दिल्लीवाले रूपमें हमें कोई आकर्षण नहीं प्रतीत हुआ। वहाँ भी हमने एक बार उनके दर्शन किये थे। टेलीफोनकी घंटी बराबर बज रही थी, आने-जानेवालोंका ताँता लगा हुआ था। कितने ही भलेमानस मतलब-बेमतलब उनका वक़्त बरबाद करनेके लिए बैठे हुए थे। श्री मथुराबाबू बीमार थे और

श्रद्धेय बाबूजी उनके लिए बहुत चिन्तित। हमारे जैसे कितने ही व्यक्ति समय निश्चित किये बिना ही पहुँच गये थे। श्री चक्रधरशरणजीकी स्थिति दयनीय थी। वे लोगोंको समझा रहे थे; पर उनकी आँख बचाकर किसी दूसरेके साथ खिसककर बाबूजीके पास पहुँचनेके लिए कई महानुभाव उत्सुक थे। हमने फोन पर समय लेनेका प्रयत्न भी तो किया था और अनिश्चित दशामें अपने भाग्यका सहारा लेकर चल पड़े थे। यदि पूज्य बापू होते तो उनसे एक ही जवाब मिलता—"बिना समय लिये कैसे चले आये? लौट जाओ, फिर वक्त तय करके आना।" पर श्रद्धेय बाबूजीने कृपाकर बीस-पच्चीस मिनट दिये। अवश्य ही किसी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सरकारी कामको छोड़कर उन्होंने वह वक़्त मुझे दिया होगा। उनसे मैंने निवेदन किया था कि वे स्वर्गीय डॉक्टर अंसारीकी कोठीको सरकार द्वारा ख़रीदवाकर साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्योंके लिए सुरक्षित कर दें। उसका उत्तर उन्होंने यही दिया था—"यह काम जनताका है। वर्तमान परिस्थितिमें सरकारसे यह आशा न रखिए।" यह बात पाकिस्तान बननेके पहलेकी है। इस उत्तरसे मुझे निराशा अवश्य हुई थी। डॉक्टर अंसारीका वह ऐतिहासिक भवन नष्ट हो रहा था, उसके वृक्ष कट रहे थे और उसके सुन्दर लॉनको नष्ट कर नींव खोदी जा रही थी—वह भवन, जिसमें अनेक बार महात्माजीने आतिथ्य ग्रहण किया था और जहाँ स्वाधीनता-संग्रामके विषयमें बीसियों बार मंत्रणाएँ हुई थीं!

रास्ते भर मैं यही सोचता रहा कि राजेन्द्रबाबू यदि स्वाधीन होते, तो इस भवनको अवश्य बचा लेते। अब भी मेरा यही विश्वास है। सरकार बनाने और सरकार बननेके मानी हैं—काजलकी कोठरीका निर्माण और उसमें प्रवेश! उसमें उज्ज्वल-से-उज्ज्वल मुख पर एक-न-एक रेख लग ही जाती है।

स्वराज्य प्राप्त होने पर भी जनताके संघर्षोंका ख़ातमा नहीं हो गया।

राजेन्द्रबाबूके उसी रूपको हम प्रणाम करते हैं, जिसमें वे सरकारी अनाचारोंके विपक्षमें हों और जनताके साथ। महाकवि तुलसीदासजीने कहा था—'तुलसी मस्तक तब नवै, जब धनुषबान लेउ हाथ'। जनता अब भी यह आशा लगाये हुए है कि श्रद्धेय बाबूजी महात्माजीकी तरह किसी कुटीका निर्माण कर सर्वोदय-समाजका संचालन करेंगे। बापूके सच्चे उत्तराधिकारी वही हैं, दूसरा कोई नहीं।

१९४८]

श्री जवाहरलाल नेहरू

सम्पादकाचार्य रामानन्द चट्टोपाध्यायने 'माडर्न रिव्यू' में पण्डित जवाहरलाल नेहरूके लाहौर कांग्रेसवाले भाषणका ज़िक्र करते हुए लिखा था--

"हम अपने लिए यह एक गौरवकी बात मानते हैं कि हम जवाहरलाल नेहरूके देशवासी और समकालीन हैं।" कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुरने उनको 'भारतका ऋतुराज' ही बतलाया था। महात्माजी उनको अपना राजनैतिक उत्तराधिकारी मानते थे।

यद्यपि नेहरूजी विश्वमानव हैं और आज उनकी गणना संसारके सर्वश्रेष्ठ राजनीतिज्ञोंमें की जाती है, तथापि हम लोग जो उत्तर प्रदेशके निवासी हैं, इस बातको नहीं भूल सकते कि वे हमारे प्रांतके है और हिन्दी भाषा-भाषी हैं। पर हमारा इतना अभिमान तभी सार्थक हो सकता है, जब हम लोग अपनी मातृभाषामें उनका एक विस्तृत जीवन-चरित ही नहीं, उनके समस्त भाषणोंका एक संग्रह भी छपा दें। स्वयं पण्डितजी-के आत्म-चरितमें, जो एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, उनके जीवनकी मनोहर झाँकियाँ देखनेको मिलती हैं, पर उनसे जिज्ञासु पाठकोंकी तृप्ति नहीं हो सकती। भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंको अपने-अपने दृष्टिकोणसे पण्डितजीके विषयमें लिखना चाहिए।

मालूम नहीं कि हिन्दी लेखकों या पत्रकारोंमें कितने व्यक्तियोंको भारतके प्रधान मन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरूके निकट संपर्कमें आनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। श्रीयुत बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' उनमें अग्रगण्य हैं, इतना हमें अवश्य पता है। उनसे भी पूर्वके परिचितोंमें श्रीमान् श्रीप्रकाशजी तथा पण्डित सुन्दरलालजीके नाम लिये जा सकते हैं। इस

पीढ़ीके युवकोंमें भी प्रयागके श्रीयुत विश्वम्भरनाथजी प्रभृति दो-एक व्यक्ति हो सकते हैं। खेद है कि उनमेंसे किसीने भी पण्डितजीका कोई अच्छा रेखाचित्र प्रकाशित नहीं किया। हाँ, नवीनजी द्वारा वर्णित दो-एक घटनाएँ और श्रीप्रकाशजीके लेखकी कुछ बातें अवश्य महत्त्वपूर्ण थीं। नवीनजीने अपने फैज़ाबाद जेलके संस्मरणोंमें पं० जवाहरलालजीके व्यक्तित्वकी बड़ी मनोहर झलक दिखलाई थी। नवीनजी उन्हें भागनेके लिए आर्डर देते थे और पण्डितजी उनके नियन्त्रणको बड़ी खूबीके साथ मानते थे। श्रीप्रकाशजीका और पण्डितजीका केम्ब्रिज विश्वविद्यालयके दिनोंसे परिचय है, इसलिए उनका चित्रण भी सुपाठ्य बन पड़ा था।

हमें इस बारेमें शक है कि किसी हिन्दी पत्रकारने पत्रकारकी हैसियत से पण्डितजीको निकटसे देखा होगा। उनका रहन-सहन, चाल-ढाल और उनके स्वभाव तथा चरित्रमें जो आभिजात्य है, वह उनके तथा साधारण लेखकके बीचमें एक खाई-सी खोद देता है, जिसे लाँघना ख़तरेसे ख़ाली नहीं!

इन पक्तियोंके लेखकने पण्डितजीको दूरसे ही देखा है। चाहे संकोच कहिए या स्वाभिमान, पण्डितजीकी तरहके महापुरुषोंके निकट जानेका साहस हमें कभी नहीं हुआ और भविष्यमें इसकी कोई सम्भावना भी नहीं। आज तो हमें क्षुद्र-से-क्षुद्र व्यक्ति, साधारण सैनिक और मामूली कार्यकर्त्ता-में महत्त्वका अनुसन्धान करना है, इसलिए अन्तर्राष्ट्रिय कीर्त्ति-प्राप्त महा-पुरुषोंको अल्पसंख्यक नेताओं तथा विदेशी पत्रकारोंके लिए सुरक्षित छोड़ा जा सकता है।

अपने पत्रकार-जीवनमें जिन घटनाओंको हम महत्त्वपूर्ण मानते हैं, उनमें एक तो यह थी कि अलमोड़ा जेलसे पंडित जवाहरलालने अपने चार हिन्दी लेख 'विशाल भारत'के लिए भिजवाये थे और वे इतने बढ़िया थे कि उन्हें हमने एक ही अंकमें छाप दिया था! दूसरी घटना हालकी है। अमर शहीद चन्द्रशेखर 'आज़ाद'की माताजीके विषयमें हमारे एक

लेखको पढ़कर पण्डितजीने ढाई सौ रुपयेका एक चेक श्रद्धेय माताजीके सहायतार्थ हमारे नाम भेज दिया था।

वैसे दो बार पन्द्रह-पन्द्रह मिनटके लिए प्रवासी भारतीयोंके विषयपर उनसे वार्तालाप करनेका सौभाग्य भी हमें प्राप्त हुआ था--एक बार डाक्टर विधानचन्द्ररायके मकान पर कलकत्तेमें और दूसरी बार आल इंडिया कांग्रेस कमिटीके आफिस, प्रयागमें।

कैनिया डेली मेल (मोम्बासा, पूर्व अफ्रीका)को मैंने एक लेख भेजा था, जिसमें मैंने प्रवासी भारतीयोंसे यह निवेदन किया था कि वे भारतकी किसी विशेष राजनैतिक पार्टीसे अपना सम्बन्ध न रखें, क्योंकि उनके लिए कांग्रेस और लिबरल पार्टी दोनों ही समान थीं। दोनों दलों ही में उनके शुभचिंतक पाये जाते थे। जब पण्डितजीने वह लेख पढ़ा तो उद्विग्न होकर कहा--"आप भी अजीब आदमी हैं! किस तरहकी बातें लिख भेजते हैं! प्रवासी भारतीय क्यों न हमारी कांग्रेससे ताल्लुक रखें ?" ऐसा कहते हुए उन्होंने मेज़पर एक घूंसा लगाया। मुझे इससे आश्चर्य हुआ, पर मैंने विनम्रता-पूर्वक इतना ही कहा--"यह तो अपने-अपने विचार हैं।'

प्रयागकी बातचीत अधिक शांत वातावरणमें हुई थी। पंडितजीने मेरे प्रवासी भारतीय-सम्बन्धी ग्रन्थों तथा कांग्रेसमें वैदेशिक विभागकी स्थापनाके लिए मैंने जो आन्दोलन किया था, उसकी मोटी फाइलोंको देखकर सिर्फ़ इतना ही कहा--"कांग्रेसमें वैदेशिक विभाग क़ायम करनेके लिए आपको बहुत मेहनत करनी पड़ी। मैंने तो कलकत्तेमें एक प्रस्ताव-से ही उसे स्थापित करा लिया था।"

इस कथनका केवल एक ही उत्तर हो सकता था--"बड़े-बड़े नेताओंके लिए जो कार्य आसान होते हैं, क्षुद्र कार्यकर्त्ता उन्हें वर्षोंके प्रयत्नके बाद कर पाते हैं।" पर यह उत्तर देनेका साहस मुझमें नहीं था।

आदरणीय पंडितजीके दस-बारह पत्र मेरे पास सुरक्षित हैं। उनमें

कुछ काफ़ी विस्तृत भी हैं, पर वे सब वैदेशिक विभाग-सम्बन्धी ही हैं। कृतज्ञतापूर्वक मुझे यह बात भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि पंडितजीने ही मेरी पूर्व अफ्रीका यात्राके लिए कांग्रेसकी ओरसे दो हज़ार रुपये पूर्व अफ्रीकाको भेजे थे और मुझे दक्षिण अफ़्रिका जानेका आदेश भी दिया था।

एक बार पण्डितजी दो मिनटके लिए साबरमती आश्रमके मेरे कार्यालयमें पधारे थे और एक बार दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़के साथ आनन्दभवनमें कार्यकर्त्ताओंके शिविरमें जानेका सुअवसर मुझे भी मिला था। सन् १९२१ में छिउकी (इलाहाबाद) से बम्बईतक एक ही डिब्बेमें श्री महादेव-भाई तथा पंडितजीके साथ यात्रा करनेका सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हुआ था। पर इन अवसरों पर कुछ बातचीत करनेकी हिम्मत ही नहीं हुई।

यह बात मुझे ईमानदारीके साथ कहनी पड़ेगी कि इस विषयमें सुभाषबाबूके विषयमें मेरा अनुभव बिल्कुल विपरीत ही हुआ। कलकत्ता कांग्रेसके अवसरपर राष्ट्रभाषा कांफ्रेंस हुई थी, जिसकी स्वागतकारिणीके सभापति थे सुभाषबाबू और मंत्री था इन पंक्तियोंका लेखक। उसी प्रसंग-में मुझे उनकी सेवामें कई बार उपस्थित होना पड़ा। सुभाषबाबूने एक बार कहा—"पंडितजी, आप बार-बार क्यों तंग होते हैं? आपको मैं अधिकार देता हूँ कि हिन्दी-सम्बन्धी पत्रोंपर आप स्वयं मेरे हस्ताक्षर कर दें।" उनका यह आदेश सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ और मैंने कहा—"यह कैसे हो सकता है?" इसपर उन्होंने उत्तर दिया—"मैं आप पर विश्वास जो करता हूँ।" इसी प्रकार दो-चार बातें समझाकर अपना स्वागताध्यक्षका भाषण लिखनेका आदेश भी उन्होंने मुझे दे दिया था।

इन दोनों महापुरुषोंके स्वभावोंके वैचित्र्यका दिग्दर्शन करानेके लिए ही मैंने उपर्युक्त घटना लिख दी है। अभी हालमें श्रीयुत ऐच० वी० कामठ ने भी यही बात कही है। उनका कथन है—"नेहरूजीका व्यक्तित्व अत्यन्त शक्तिशाली है, लेकिन उनमें वह सहृदयता, वह निजीपन नहीं है, जो सुभाषबोसमें था।"

यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं कि नेहरूजीकी समस्त शिक्षा-दीक्षा विलायतमें हुई थी और स्वभावतः अंग्रेजोंके बहुतसे गुण और एकाध त्रुटि भी उनमें पाई जा सकती है। पर हमें छिद्रान्वेषणकी दृष्टिसे उस त्रुटिपर विचार नहीं करना चाहिए। क्षुद्र साम्प्रदायिकता, विघातक प्रान्तीयता और संकुचित राष्ट्रियतासे सर्वथा ऊपर उठने वाला व्यक्तित्व यदि किसी भारतीयमें है तो वे श्री जवाहरलालजी ही हैं। फिरक़ेबन्दीकी सत्यानाशी बाढ़को रोकनेमें यदि कोई समर्थ हो सकता है तो वे ही। अल्पसंख्यकोंका जीवन, धन और संस्कृति उनके हाथों में सुरक्षित है। हम लोगोंमें इतना प्रमाद लबड़-धौंधौंपन और शैथिल्य पाया जाता है कि जवाहरलालजीकी तरहके नियंत्रण-प्रेमी व्यक्तियोंकी इस देशको अत्यन्त आवश्यकता है।

हमारे मनमें एक आशंका प्रायः उठती रहती है। वह यह कि क्या श्री जवाहरलाल नेहरू अपनी विलायती शिक्षा-दीक्षा और सर्वोच्च पदके कारण कहीं Common touch——जनताके निकट-सम्पर्क——से कुछ अंशोंमें वंचित तो नहीं हो रहे हैं? यह आशा तो हमने कभी नहीं की कि वे हिन्दी-साहित्यका अध्ययन करेंगे——इतना अवकाश उन्हें मिल ही नहीं सकता——पर क्या वे हिन्दी-पत्र-जगत्‌की गतिविधिसे अपनेको परिचित रखनेका प्रयत्न भी करते हैं? उनके भाषणोंसे तो ऐसा प्रतीत नहीं होता।

किसी लेखकने लिखा था——"केवल इंग्लैण्ड ही एक द्वीप नहीं है, प्रत्येक अंग्रेज एक द्वीप है।"

हिन्दी-साहित्य तथा पत्रजगत्‌में जबतक हम महापुरुषोंपर निर्भर रहनेकी भावनाको पुष्ट करते रहेंगे, हमारा कल्याण कदापि नहीं होगा। अणुबमके इस युगमें हमें क्षुद्र-से-क्षुद्र व्यक्तिको उचित महत्त्व देना होगा। सम्पूर्ण कीर्ति केवल सेनाध्यक्षोंको ही अर्पित कर देने और साधारण सैनिकोंकी बिल्कुल उपेक्षा करनेकी नीतिको तिलांजलि दे-देनेका युग

अब आ गया है। देशकी स्वाधीनताका इतिहास अब सिपाहियोंकी दृष्टिसे लिखा जाना चाहिए। महापुरुषोंका हम अवश्य अभिनन्दन करें, पर इस बातको न भूलें कि जनता-जनार्दनकी सहायता, सहयोग, भक्ति और प्रेरणासे ही उन्हें महत्त्व प्राप्त हुआ।

इस अवसरपर हम सब शक्तियोंके मूल-स्रोत जनता-जनार्दनका ही सर्वप्रथम अभिनन्दन करते हैं, तत्पश्चात् विश्वमानव श्री जवाहर-लालजीका।

अक्तूबर १९४९]

कविवर रत्नाकरजीसे बातचीत

आजकल जब कि लोग बड़े गौरवके साथ भविष्यवाणी कर रहे हैं कि बीस वर्षके अन्दर ब्रजभाषाका लोप हो जायगा और कोई-कोई बड़े अभिमानके साथ कुतुबमीनारसे यह घोषणा करनेके लिए उद्यत हैं कि पचास वर्षकी उम्रके पहले ब्रजभाषाके काव्य हर्गिज़ न पढ़े जाने चाहिए, जब कि ब्रजभाषा भारतकी पराधीनताका एक मुख्य कारण बतलाई जा रही है, वर्तमान कालमें ब्रजभाषाके सर्वश्रेष्ठ कवि रत्नाकरजीकी सेवामें उपस्थित होकर उनसे बातचीत करना एक ऐसा भयंकर अपराध है, जिसके लिए साहित्यिक 'पिनल कोड' में कोई दंड-विधान होना चाहिए। पर जब यह अपराध बन ही पड़ा तो फिर उसका वृत्तान्त पाठकोंको सुना देना ही ठीक होगा, क्योंकि सुना है कि पाप-पुण्य दोनों ही कहनेसे क्षीण होते हैं !

देशभक्ति और भारतोद्धारकी बेतुकी कविता पढ़ते-पढ़ते तबीयत कुछ ऊब सी गई थी, 'अनन्त में लीन' होनेकी सामर्थ्य अपनेमें थी नहीं और न उसके लिए अभी विशेष उत्सुकता ही, 'हृत्तंत्री' और 'विपंची' की कर्णकटु ध्वनिसे कान फटते जा रहे थे कि इतनेमें सुनाई पड़ा कि रत्नाकरजी कलकत्ते आये हुए हैं और दस-पन्द्रह दिन यहाँ ठहरेंगे। उसी समय उस ब्रजकोकिल सत्यनारायणकी याद आ गई, जिसके ये मधुर शब्द आज भी कानोंमें गूँज रहे हैं:—

"वरननको करि सकै भला तिहि भाषा कोटी;
मचलि-मचलि जामैं माँगी हरि माखन रोटी।"

मनमें सोचने लगा कि क्या ही अच्छा होता यदि आज सत्यनारायणजी जीवित होते और उनको साथ लेकर रत्नाकरजीकी सेवामें उपस्थित

होता। ये दोनों एक दूसरेको अपनी कविता सुनाते और मैं बैठा-बैठा सुनता! पर यह होना नहीं था, इसलिए 'हृदय-तरंग' (सत्यनारायणकी कविताओं-का संग्रह) और उनका जीवन चरित लेकर ही रत्नाकरजीकी सेवामें उपस्थित हुआ।

रत्नाकरजी बड़े मिलनसार और रसिक आदमी हैं और उनसे बात-चीत करनेमें आनन्द आता है। दस-बारह दिन उनके सत्संगका सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस बीचमें उनसे प्राचीन कवियोंसे लेकर वर्तमान कवियों तक के विषयमें बातचीत हुई। रत्नाकरजी हम लोगोंसे दो पीढ़ी पहलेके हैं, इसलिए उनकी मनोवृत्तिमें प्राचीनताका पुट होना स्वाभाविक ही है।

रत्नाकरजीसे बातचीत करना मानो अपनेको पद्माकरके समयमें ले जाना है। साहित्याचार्य पं० पद्मसिंह शर्माने कविरत्न श्रीनवनीतलाल चतुर्वेदीका वृत्तान्त लिखते हुए ज़ौकका निम्न-लिखित शेर उद्धृत किया था:—

"रंगी है आज कल के गुले-नौ-बहार से,
अगला जो वर्गे-ज़र्द कोई इस चमनमें है।"

श्री नवनीतजीकी तरह रत्नाकरजी भी व्रजभाषाकी पुरानी फुल-वारीके पीले पत्ते (वर्गे-ज़र्द) हैं। दोनोंमें उम्रका भी विशेष अन्तर नहीं; नवनीतजी ७४ वर्षके हैं और रत्नाकरजी उनसे आठ वर्ष छोटे। रत्नाकर-जीके साथ व्रजभाषाके काव्योपवनकी सैर करनेमें बड़ा आनन्द आया। पुराने कवियोंकी रचनाएँ उनसे सुनीं और उनकी कथाएँ भी। पाठकोंको भी उनमेंसे कुछ सुनाना अनुचित न होगा।

रत्नाकरजीने पद्माकरके पिता मोहन भट्टकी एक कविता सुनाई। मोहन भट्टने यह प्रतिज्ञा करली थी कि जब वर्णन करेंगे तो गोपियोंका ही वर्णन करेंगे, कृष्ण भगवान्‌की प्रशंसा न करेंगे। जयपुरके महाराज प्रतापसिंहको यह खबर लगी। उन्होंने भट्टजीसे कहा कि आप द्रौपदी चीर-हरण पर कोई कवित्त कहें। उन्होंने सोचा था कि इस प्रसंगमें तो

भट्टजीको भगवान् श्रीकृष्णकी प्रशंसा करनी ही पड़ेगी, पर उनकी यह आशा निराशामें परिणत हो गई, जब भट्टजीने निम्नलिखित कवित्त सुनाया--

"कबै आप गये हे बिसाहन बजार बीच
कबै बोलि जुलहा बिनायौ दरपट सों;
नन्द जूकी कामरी न काहू बसुदेवजूकी
तीन हाथ पटुका लपेटे रहे कट सौं।
मोहन भनत यामै रावरी बराई कहा
राखि लीन्हीं आन-बान ऐसे नटखट सौं;
चोरि चोरि लीन्हें तब गोपिन के चीर
अब जोरि जोरि देन लगे द्रोपदीके पट सौं"।

रत्नाकर जी पद्माकरके बड़े प्रशंसक हैं और वास्तवमें उनकी कविता पर नन्ददास और पद्माकरका बड़ा प्रभाव भी पड़ा है। पद्माकरके विषय-में उन्होंने कई किस्से भी सुनाये।

काशीमें पहले श्रावणके महीनेमें शंकु-उद्धार का मेला हुआ करता था। आजकल जहाँ बनारस वाटर-वर्क्स है, उसके पीछे बड़ा भारी तालाब है। वहीं यह मेला जमता था। उसमें गौनहारिनें गाती हुई चलती थीं और गुंडे लोग उनके साथ लट्ठ लिये हुए और उनपर बोली-ठोली छोड़ते हुए चलते थे। एक बार जयपुर के महाराज प्रतापसिंहके साथ पद्माकर श्रावणके महीनेमें काशी पधारे और इस मेलेमें गये। गुंडे लोग बोली छोड़ते हुए कह रहे थे--"रंग है री रंग है!" महाराज प्रतापसिंहजी इसका अर्थ न समझ सके। उन्होंने पद्माकरको इशारा किया कि ये क्या बात है? उन्होंने तुरन्त ही यह कवित्त बनाकर सुना दिया--

"सावन सखीरी मन भावन के संग बालि
क्यों न चलि झूलत हिंडोरैं नव रंग पर;

कहै पद्माकर त्यों जोबन उमंगनि तैं
उमगि उमंगित अनंग अंग-अंग पर।
चारु चूनरी की चारों तरफ तरंग तैसी
तंग अँगिया है तनी उरज उतंगपर,
सौतनिके बदन बिलोकैं बदरंग होत,
रंग है री रंग तेरी मेंहदी सुरंग पर।"

महाराज प्रतापसिंह बड़े प्रसन्न हुए और एक हज़ार मुहर उन्होंने पद्माकरको इनाममें देनेके लिये कहा। पद्माकर संकटमें पड़ गये। वे नम्रता पूर्वक बोले—"महाराज, मैं काशीका दिया हुआ दान नहीं ले सकता।" महाराजने कहा कि अब तो हम संकल्प कर चुके हैं तुम्हें लेना ही होगा। पद्माकरको मजबूर हो कर दान लेना पड़ा, पर उन्होंने तुरन्त ही अपनी ओरसे उसमें एक सौ मुहर मिलाकर उसे काशीके पंडितोंमें बाँट दिया। एक-एक बनात और एक-एक मुहर प्रत्येक पंडितकी सेवामें अर्पित की। काशीके नई बस्ती मुहल्लेके पं० श्यामाचरणजीके पुत्र पंडित अयोध्यानाथ जीके पास जीर्ण शीर्ण अवस्थामें वह बनात रत्नाकरजीने स्वयं देखी थी।

पद्माकर बड़े ठाट-बाटसे रहते थे। यात्रामें उनके साथ हाथी, दो चार ऊँट, बीसियों सवार और अनेक रथ तथा रथोंमें दस पाँच वेश्याएँ भी चलती थीं! एक बार उनको आता देखकर किसी ग्रामके निवासियोंको यह आशंका हो गई कि कोई राजा चढ़ आया है। उस समय पद्माकरने एक कवित्त कहकर उन लोगोंकी आशंका दूर की। कवित्तका अन्तिम चरण था—"हम कविराज हैं प्रताप महाराजके।"

जयपुरमें एक बाग़ है, जहाँ सावनके महीनेमें लोग झूलनेके लिए जाया करते हैं। महाराज प्रतापसिंह भी वहाँ गये और उन्होंने पद्माकरको एक समस्या दी—"सावनमें झूलिबौ सुहावनौ लगत है।" इसकी पूर्ति पद्माकरने इस प्रकार की—

"भौंरनि कौ गुंजनि विहार बन-कुंजनिमें
मंजुल मल्हारनिकौ गावनौ लगत है;
कहै पद्माकर गुमान हू तें, मान हू तें,
प्रान हू तें, प्यारौ मनभावनौ लगत है।
मोरनि कौ सोर घनघोर चहुँ ओरनि
हिंडोरनि कौ वृन्द छबि छावनौ लगत है;
नेह सरसावन में मेह बरसावन में
'सावन में झूलिबौ सुहावनौ लगत है।"

पजनेसके भी कई कवित्त रत्नाकरजीने सुनाये। इस प्रसंगमें एक मनोरंजक घटना कहे बिना लेखनी आगे नहीं चलती। भारत-जीवनके अध्यक्ष बाबू रामकृष्ण वर्मा 'पजनेस' के कवित्तोंका संग्रह प्रकाशित करना चाहते थे, पर 'पजनेस' के बहुत कम कवित्त मिलते थे, इसलिए उन्होंने एक नोटिस निकाल दिया था कि जो आदमी 'पजनेस' के कवित्त-संग्रहमें हमारी सहायता करेंगे, उन्हें हम फ़ी कवित्त एक रुपया देंगे। दो चार कवित्त तो रत्नाकरजीको याद थे, बाकी आठ-दस कवित्त उसी जोड़के आपने स्वयं बना डाले और सब मिलाकर बाबू रामकृष्ण वर्माके पास ले गये और दस पन्द्रह रुपये वसूल कर लाये! वर्माजी स्वयं कवि थे और अच्छे कविता मर्मज्ञ भी थे, पर वे रत्नाकरजीकी चालाकीको ताड़ नहीं सके। ताड़ते कैसे? रत्नाकरजीने भी वह कुशलता इन कवित्तोंकी रचनामें दिखलाई थी कि यदि एक बार स्वयं 'पजनेस' जी सुनते तो वे भी प्रसन्न हो जाते। पीछे रत्नाकरजीने वर्माजीके रुपये वापस दे दिये और उन्हें अपनी करतूतका भेद बतला दिया :—

'पजनेस' के दो कवित्त सुन लीजिए—

"छूटी चिकैं परी प्यारी कहाँ
परजंक तें फैलि रही प्रभा भूपर;

लै　बरजोरी　　करी　　पजनेस
　　बसीकर　सी　तसबीर　　बधूपर ।
हा ! सखी ! पीन-पयोधर पै नख लागे
　　लला　ललचात　तिहूँ　पर,
मानो　खरादि　चढ़े　रवि की
　　किरणें　पड़ीं　आनि सुमेर के ऊपर ।"

किसी पुराणमें कहा गया है कि सूर्य भगवान्‌का विवाह होनेपर उनकी पत्नी भयंकर आतपके कारण उनके निकट नहीं जा सकती थीं, इसलिये–सूर्यको खराद पर चढ़ाया गया था !

पजनेसको दूसरा कवित्त, जो रत्नाकरजीने सुनाया, वह यह था––

फरस　जरी के　नग-जूटनि　जटित　चौक
　　चाँदनी　से　फबत　फनूस　तमकत　है;
झूलत　जराऊ हेम गगन-हिंडोरै　　चढ़ि
　　पावस　निसा　के घन　घूमि　घमकत हैं ।
भनि पजनेस　हँसि　हौंसनि झुलावै　लाल
　　तियनि　के　तन　दीप दाम दमकत हैं;
महाबीर　　मदन　बनैत　की　बिसाल
　　मानो बरति　बनैठिनि के चक्र चमकत हैं ।"

रत्नाकरजीने काशिराजके आश्रयमें रहनेवाले हनुमान कविके विषयमें बहुत सी बातें सुनाईं । काशिराजने प्रसन्न हो कर उन्हें एक छोटी सी हथिनी इनाममें दी थी, उस पर उन्होंने यह कवित्त बनाया––

"कौतुक विशेष भयौ　एक　काशिका में आज
　　दीन्यौ　सबही कौं जिन मोद　मनमाना है; •
दान　पाइ　तुमसौं मैं भूप　ईसुरी　प्रसाद
　　चल्यौ घर कौं सो भयौ जाहिर जहाना है ।

दूर ही तै हलके गयंदन के गाढ़े संग
लखि हनुमान कौं न कोऊ पहिचाना है;
कोई कहै आवत बुँदेला कै बघेला यह
कोई कछवाह कहै कोऊ कहै राना है।"

हनुमान कवि काशिराजसे १५) महीने पाते थे। इसीमें उन्हें पूर्ण सन्तोष था। एक बार महाराज विजयानगरने उनके पास सन्देश भेजा कि आप हमारे यहाँ आजाइये, आपको हम सौ रुपया महीने देंगे। बात यह थी कि काशिराज और विजयानगरके महाराजकी होड़-सी चलती थी। जब विजयानगरका विवाह रीवाँमें निश्चित हुआ, तो शाखोच्चार के लिये कविकी आवश्यकता प्रतीत हुई। किसीने महाराज विजयानगर से कहा--"हनुमान कवि सर्वश्रेष्ठ हैं सो उनको आप ले चलिये।" कविवर के पास सन्देश भेजा गया कि हम दस हज़ार रुपये एक साथ देंगे और १००) पेंशन कर देंगे, आप काशीराज का आश्रय छोड़कर हमारे यहाँ चले आइये। पर स्वाभिमानी हनुमान कवि ने इसे अस्वीकार कर दिया। उस अवसर का एक कवित्त रत्नाकर जी ने सुनाया, पर वह उन्हें अधूरा ही याद था--

"जाकौ गाय सुजस रिझाइ भाँति भाँतिन सौं
नीकैं नये... सुधारस कौ चाखौं मैं;

× × ×

कहै हनुमान एक ईसुरीप्रसादजू कौ
दान सनमान कौं भले ही अभिलाखौं मैं;
काशी अवनीन्द्रके सिवाय औ महीन्द्र कौन
इन्द्र हू सौं जाँचिबे की लालसा न राखौं मैं।"

अयोध्याके महाराजा प्रतापनारायणसिंहके नाना महाराज मानसिंह-का एक कवित्त रत्नाकरजीको बहुत पसन्द है। वह भी उन्होंने सुनाया--

"वृन्दावन वीथिनमें बंशीवट छाँह अरी,
कौतुक अनोखौ एक आज लखि आई मैं;
लाग्यौ हुतो हाट एक मदन धनीकौ तहाँ,
गोपिनकौ झुंड रह्यौ भूमि चहुँघाई मैं।
द्विजदेव सौदा की न रीति कछु भाखी जाइ,
जैसी भई नैन उन्मत्तकी दिखाई मैं;
लै लै कछु रूप मनमोहनसौं बीर वे
अहीरिनि गँवारी देति हीरनि बटाई मैं।"

अयोध्याके राज-कवि लच्छीरामजीके भी दो कवित्त सुन लीजिये--

"फाग अनुरागमें कुमारी कल कीरतिकी
मारी पिचकारी पाग पेच लहपट मैं;
रसिकबिहारी त्यौं गुलालकी घटानि घेरि
सराबोर सारी करी रंगनि झपट मैं।
अंचलके ओट राखि हाथनिकौं हारनि पै
राजै लछिराम करी उपमा प्रगट मैं;
मज्जन गिरामें करि मानो मैनबाला
मंत्र मोहन जपति ज्वालमालाकी लपट मैं।"

"तीसरे पहरलौं मचाई रसबस फाग
परब सपूनौ क्वाँर चाँदनीकौ सुख है;
पाछिले पहर नौलि नेहिके उमंगनि सौं
विथकति सोई बाल स्याम सनमुख है।
सारी सेत भीतर गुराई यौं झलकि देति
लछिराम कछुक तिरीछौ गात रुख है;
जंग जीति जगत अनंगसौं बिचलि परचौ
गंगधार मानो चारु चम्पाको धनुष है।"

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रके विषयमें भी रत्नाकरजीने अनेक मनोरंजक

बातें सुनाईं, जिनमेंसे दो एक यहाँ उद्धृत की जाती हैं। एक दिन सवेरे जाड़के दिनोंमें पौ फटनेके समय रत्नाकरजीके दरवाज़ेपर आकर किसीने आवाज़ दी--

"हर गंगा भई हर गंगा, पैसा न देहि बाकौ बाप नंगा;
बारह बरसके सरवन भये, हर गंगा भई हर गंगा।"

रत्नाकरजीके पिताजीकी आँख खुल गई। उन्होंने समझा कि कोई सरवन वाला साधु है, जो इसी तरहके गाना गाकर पैसे माँगा करते हैं। अपने नौकर महेशको बुलाकर उन्होंने कहा, "एक पैसा देआ भई, सवेरे साधु आया है।" महेशने जाकर दरवाज़ा खोला, तो वहाँ भारतेन्दुजी खड़े हँस रहे थे! रत्नाकरजीके पिताजीने तुरन्त उन्हें ऊपर बुला लिया और हँसते हुए कहा--"तुम भी बड़े नालायक़ आदमी हो, वैसे ही आकर दरवाज़ा खुलवा लेते।" हरिश्चन्द्रजी बोले--"पहले हमारा पैसा हमें दो, और बातें पीछे होंगी।" रत्नाकरजीके पिताजीकी भारतेन्दुजीके साथ गाढ़ी मित्रता थी और दोनोंका आपसमें ख़ूब मज़ाक़ होता था, यद्यपि रत्नाकरजीके पिताजी उम्रमें दस बारह वर्ष बड़े थे।

रत्नाकरजीने एक कवि-सम्मेलनका वृत्तान्त बतलाया, जो अखंड तीन दिन-रात तक भारतेन्दु बाबूके घरपर हुआ था। इस कवि-सम्मेलनमें रत्नाकरजी भी गये थे। उस समय उनकी उम्र दस वर्ष थी। बाहरसे अनेक कवि आये थे। नहाने-धोने, खाने-पीने, सोने इत्यादिका प्रबन्ध वहीं किया गया था। तीस-चालीस पलंग बिछा दिये गये थे। नींद लगनेपर लोग वहाँ सो जाते थे। हलवाई बिठला दिया गया था और उसको यह आज्ञा दे दी गई थी कि जिसको जिस चीज़की ज़रूरत हो वह उसे बिना पैसेके दे दी जाय। स्वयंपाकियोंके लिए भी अलग प्रबन्ध कर दिया गया था। काशीवाले अपने घर चले जाते थे और निबटकर लौट आते थे। तीन दिन-रात यह कवि-सम्मेलन अखंडरूपसे चलता रहा।

एक बार भारतेन्दु बाबूने रत्नाकरजीकी ओर इशारा करके कहा

था—"यह लड़का आगे चलकर अच्छा कवि बनेगा।" बात यह थी कि रत्नाकरजीके हृदयमें कविताके प्रति रुचि थी, और बाल्यावस्थासे ही वे कवियोंकी मंडलीमें बराबर बैठा करते थे।

जिन कवियों तथा साहित्यसेवियोंसे रत्नाकरजीका अच्छा परिचय था, उनमेंसे कुछके नाम यहाँ दिये जाते हैं—

बाबू कार्तिकप्रसाद, बाबू रामकृष्ण वर्मा, श्री अमीरसिंह, बाबू राधाकृष्णदास, राव कृष्णदेवशरणसिंह (भरतपुरके एक भूतपूर्व महाराज), अयोध्याके महाराज साहब, अयोध्याके राजकवि लच्छीरामजी, पं० लक्ष्मीनारायण 'कमलापति', पं० पन्नालाल, सरदार कवि, नारायण कवि, पटनेवाले बाबा सुमेरसिंह, सतीप्रसाद, सिद्धजी, पंडा जोखूराम, रीवाँवाल द्विज श्याम, मार्कण्डेय, रामाधीनजी, नकछेदी तिवारी इत्यादि। सरदार कविसे तो रत्नाकरजीने कुछ पढ़ा भी था। सरदार कविकी विद्वत्ताकी वे बड़ी प्रशंसा करते हैं।

श्रीयुत दुर्गाप्रसाद मिश्र और बाबू बालमुकुन्दजी गुप्तके विषयमें भी बहुतसी बातें रत्नाकरजीने बतलाईं। मिश्रजीकी हास्यप्रियताके अनेक क़िस्से उन्होंने सुनाये।

दुर्गाप्रसादजीने एक पुस्तक लिखी थी। एक आलोचक महोदयको उसमें कई स्थल नापसन्द आये और उन्होंने पुस्तकके चार-पाँच पृष्ठोंके आपत्तिजनक स्थलोंका ज़िक्र करते हुए एक कटुतापूर्ण चिट्ठी मिश्रजीको लिखी। मिश्रजीने अपनी पुस्तकके पृष्ठोंके हिसाबसे चार-पाँच पृष्ठोंका मूल्य निकाला जो तीन पैसे बैठा। चार पैसे और ख़र्च करके आपने उन महानुभावको मनीआर्डर भेज दिया और यह लिख दिया कि जिन पृष्ठोंको आप आक्षेप-योग्य समझते हैं, उन्हें फाड़ फेंकिये, उनका मूल्य आपकी सेवामें भेजा जाता है! मिश्रजी बड़े उपद्रवी भी थे। अपने मित्र एक मियाँ साहबको एक बार उन्होंने बहुत तंग किया। ये मियाँ साहब

मिश्रजीके पास अक्सर आया करते थे। बड़े शौक़ीन आदमी थे। चार-पाँच बजे शामके वक़्त मुँह धोकर कंघी करके निकलते थे। उनका एक टोंटीदार लोटा मिश्रजीके यहाँ रखा रहता था। उसीसे वे मुँह धोया करते थे। एक बार मिश्रजीने उसमें कास्टिकका टुकड़ा डाल दिया। मियाँ साहब हाथ मुँह धोकर बाहर निकले। पान खानेके लिए एक तमोली-की दूकानपर खड़े हुए, तो काँचमें मुँह देखा। मुँहपर कुछ कालापन-सा नज़र आया। आगे बढ़, मुँहको कुछ हवा लगी, तो रंग और भी गहरा हो गया! दूसरी दूकानपर ज्यों ही उन्होंने काँचपर निगाह डाली कि सारा चेहरा काला दीख पड़ा! घबराकर भागते हुए मिश्रजीके पास आये। आपने पहलेसे ही किवाड़ बन्द कर लिये थे। नीचे मियाँ साहब बीसियों गालियाँ सुना रहे थे, और कह रहे थे "अरे भई किवाड़ तो खोल!" और ऊपर खड़े खड़े मिश्रजी हँस रहे थे!

मिश्रजीकी होशियारीका भी एक दृष्टान्त रत्नाकरजीने सुनाया। ज़रदोज़ीका काम करनेवाला एक आदमी रत्नाकरजीके यहाँसे सलमा सितारेका कारचोबी कोट लेके भागा। पता लगा कि वह कलकत्ते आया है। रत्नाकरजी उसे तलाश करते-करते वहाँ पहुँचे, मिश्रजीके पास ठहरे और सारा मामला उन्हें सुनाया। मिश्रजीने कहा—"अच्छा, हम उस कोटको निकलवा देंगे।" मिश्रजीने पुलिसवालों-कैसा वेश बनाया और रत्नाकरजीको साथ लेकर ज़रदोज़ोंके कारख़ानोंकी ओर चले; क्योंकि उन्हें इस बातकी आशा थी कि वह आदमी शायद यहींके किसी कारख़ानेमें मिलेगा।

मिश्रजीने रत्नाकरजीसे कहा—"देखो, तुम दूरसे हमें उसकी पहचान करा देना, इस ढंगसे कि वह तुम्हें न देखने पावे।" अकस्मात् वह आदमी वहाँ बैठा हुआ मिल गया। रत्नाकरने दूरसे उसे पहचनवा दिया और आप वापस चले आये। दुर्गाप्रसादजी उस आदमीके पास गये और बड़े ग़ौरसे उसकी ओर देखकर कहा—"तुम्हारे नाम वारंट है, फ़लाँ नाम है

तुम्हारा ?" वह ऐं ऐं करने लगा। बस मिश्रजीकी बन आई। डाँट-कर बोले--"अब ऐं-ऐं करनेसे क्या होता है ? बनारससे कोट लेकर भागे हो, बच्चू ? चलो-चलो, जल्दी करो, थानेमें तुम्हारी अच्छी तरह ख़बर ली जायगी।" वह बहुत ख़ुशामद करने लगा। मिश्रजीने कहा--"अच्छा कोट हमें दो और वादा करो कि फिर कभी ऐसा काम न करोगे, तो हम छोड़ सकते हैं।" उसने कोट निकालकर मिश्रजीके हवाले किया। मिश्रजीने घर लौटकर वह कोट रत्नाकरजीके सुपुर्द कर दिया।

रत्नाकरजी सुप्रसिद्ध हिन्दी प्रेमी अंगरेज़ मि० ग्रियर्सनसे भी मिले थे। यह बात कोई चालीस वर्ष पहलेकी है। उन दिनों ग्रियर्सन साहब पटनेमें कमिश्नर थे। रत्नाकरजीका उनसे पहलेसे पत्र-व्यवहार था। जब ग्रियर्सन साहब हबड़ेमें मजिस्ट्रेट थे, उन्होंने "भाषाभूषण" नामक अलंकारोंकी पुस्तकका अंग्रेज़ीमें अनुवाद किया था। उस अनुवादके विषयमें कुछ परामर्श रत्नाकरजीने उन्हें लिख भेजे थे, जिन्हें ग्रियर्सन साहबने सधन्यवाद स्वीकार किया था और "लालचन्द्रिका"के प्रारम्भमें रत्नाकरजीकी सहायताका जिक्र भी कर दिया था। रत्नाकरजी अपनी ससुरालमें पटने गये थे। वहाँ खड्गविलास-प्रेसके बाबू रामाधीनजीसे उन्हें पता लगा कि ग्रियर्सन साहब यहाँपर हैं। आप उनसे मिलने गये। ग्रियर्सन साहब बहुत ख़ुश हुए और उन्होंने रत्नाकरजीसे कहा--"अगर तुम डिप्टी कलक्टरी करना चाहो, तो हम तुम्हारी कुछ मदद कर सकते हैं", पर रत्नाकरजीको यह धुन सवार थी कि हम तो बड़े आदमी हैं, हम नौकरी क्यों करें !

इस बातचीतके पैंतीस-छत्तीस वर्ष बाद रत्नाकरजीने "बिहारी रत्नाकर"की एक प्रति ग्रियर्सन साहबकी सेवामें भेजी थी और उक्त महानुभावने उसकी विस्तृत आलोचना विलायतके एक सुप्रसिद्ध पत्रमें प्रकाशित कराई थी।

ग्रियर्सन साहब पचपन-साठ वर्षसे हिन्दीके लिए प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं। आजकल वे अत्यन्त वृद्ध हैं। अभी उस दिन रत्नाकरजीको डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जीने सुनाया था कि विलायतमें ग्रियर्सन साहबने एक तोता पाल रखा है और उसे पढ़ाया करते हैं--"पढ़ मेरे तोता सीताराम, राधेश्याम !

सितम्बर १९३१]

श्रीरत्नाकरजी

सौ सवा सौ साल व्यतीत हुए, लखनऊमें राय तुलारामजी अग्रवाल नामक एक अत्यन्त प्रतिष्ठित सेठ रहा करते थे। उनके पास कितना धन था, इसका किसीको पूरा-पूरा पता नहीं था। वे सेठोंके चौधरी थे, और उनसे एक बार अवधके एक नवाबने तीन करोड़ रुपया उधार माँगा था। नवाब साहबका जो खरीता पंचोंके नाम आया था, उसमें राय तुलारामजीका नाम सर्वोपरि था। उन दिनों नवाब साहबकी आज्ञाका भला कौन उल्लंघन कर सकता था? सम्भवतः इसी तीन करोड़ रुपयेके जुटानेमें राय तुलारामजीकी बहुत कुछ सम्पत्ति चली गई। कविवर रत्नाकरजी उन्हीं राय तुलारामजीके वंशज हैं। कहते हैं कि अमीरी तथा ग़रीबीकी बू सात पीढ़ी तक नहीं जाती। यद्यपि राय तुलारामजीके करोड़ोंकी अब कहानी ही रह गई है और कविवर रत्नाकर जीका यह साहस भी नहीं होता कि वे उस पुराने खरीतेको जो अब भी उनके पास है, एक बार पढ़ें, तथापि रत्नाकरजीके ठाट-बाटमें राय तुलारामजीके यश-सौरभकी गन्ध अब भी आ जाती है।

रत्नाकरजीके पिता राजसी ठाट-बाटसे रहते थे, इसलिए रत्नाकरजीका अनुमान था कि हमारे यहाँ लाखों रुपयेकी सम्पत्ति है! बहुत वर्ष बाद रत्नाकरजीको पता लगा कि उनका अनुमान अधिकांशमें निराधार है, और तब उन्होंने नौकरी करनेका विचार किया। यह बात वास्तवमें आश्चर्यकी है कि इस मनोवृत्तिके होते हुए भी रत्नाकरजी पढ़ किस प्रकार गये। अमीरोंके लड़कोंपर जब तक अच्छी तरह नियंत्रण न रखा जाय तब तक वे कदापि नहीं पढ़ते, और रत्नाकरजी पर किसी प्रकारका नियंत्रण नहीं था। रत्नाकरजीके बडे भाईकी अकाल मृत्युके कारण उनके

पिताजीके हृदयमें वैराग्य उत्पन्न हो गया था, और वे तीर्थ-यात्राके लिए महीनों घरसे बाहर चले जाते थे। एक बार तो डेढ़-दो सालके लिए ग़ायब हो गये, और किसीको पता भी न था कि वे कहाँ हैं! भगवान् रामचन्द्रजीके वे बड़े भक्त थे। जिस मार्गसे भगवान् रामचन्द्रजी सेतुबन्धु रामेश्वरम् गये थे, उसी मार्गसे साधुओंकी एक टोलीके साथ रत्नाकरजीके पिताजी भी पैदल ही उन तमाम स्थानोंमें, जहाँ-जहाँ भगवान् गये थे, भ्रमण करते हुए रामेश्वरम् तक पहुँचे थे। इस विकट तीर्थ-यात्राके समाप्त करनेके बाद दिल्लीसे उन्होंने घरपर अपनी कुशलताका समाचार भेजा था। तब रत्नाकरजी स्वयं दिल्ली जाकर उनको वहाँसे लिवा लाये थे।

रत्नाकरजीके पिताके हृदयमें कवियोंके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। उन्होंने अपने घरमें एक कोठरी कवियोंके लिए अलग रख दी थी। वहाँ भोजन इत्यादि बनानेके लिए सब बर्तन रख दिये गये थे। बुन्देलखंडसे डुमराँव तथा अन्य स्थानोंको जानेवाले कवियोंका डेरा इसी कोठरीमें पड़ता था। उन्हें कोठरीकी चाबी दे दी जाती थी और दूकानदारको आदेश कि भोजन की जो सामग्री वे चाहें, उन्हें दे दी जाय। हमारा यह विश्वास है कि रत्नाकरजीको काव्य-क्षेत्रमें जो सफलता मिली है, उसके मूलमें उनके पिताजीकी यह श्रद्धा तथा कवियोंका आशीर्वाद ही है।

तेरह वर्षकी उम्र तक रत्नाकरजी अपने घरपर ही फ़ारसी पढ़ते रहे। मिरज़ा मुहम्मद हसन 'फायज़' उनके शिक्षक थे। मिरज़ा साहब फारसीके अद्भुत ज्ञाता थे, और काशीके आसपास ही नहीं, बल्कि दूर-दूर तक उनके मुक़ाबलेका आलिम नहीं पाया जाता था। उनकी कृपासे रत्नाकरजीकी फ़ारसीमें बहुत अच्छी गति हो गई। एम० ए० में भी उन्होंने फारसी ही ली थी, यद्यपि वे परीक्षा नहीं दे सके।

हिन्दी अक्षरोंका अभ्यास तो उन्होंने बहुत आगे चलकर किया। अपने मौलवी साहबका नाम वे बड़े सम्मानपूर्वक लेते हैं। जब तक मौलवी

साहब जीवित रहे, रत्नाकरजी बराबर उनकी वैसी ही इज्ज़त करते रहे। यह बात बहुत कम लोगोंको ज्ञात होगी कि रत्नाकरजी पहले उर्दू और फारसीमें कविता करते थे, और अच्छी कविता कर लेते थे। आपने क़रीब एक सौ गज़लें लिखी थीं, पर सब फाड़ डालीं ! आपका उपनाम 'ज़की' था और मौलवी साहबका तख़ल्लुस 'फायज़' था। एक पद्यमें आपने अपने गुरुको इस प्रकार स्मरण किया था—

"फैज़ फाइज़के तलम्मुज़का हुआ जबसे 'ज़की'
..मानी सख़ुनमें जल्वागर रहने लगा।"

(फैज़=शुभ फल। तलम्मुज़=शागिर्दी।)

जब रत्नाकरजी लगभग ५५ वर्षके थे, तो लोगोंके आग्रहसे उन्हें भी किसी मुशायरेके लिए एक गज़ल लिखनी पड़ी। गज़ल तो आपने लिख ली, पर अपने उस्तादसे इसलाह लिये बिना आप उसे मुशायरेमें पढ़ना नहीं चाहते थे। आपने मौलवी साहबके यहाँ कहला भेजा कि आपकी ख़िदमतमें हाज़िर होना चाहता हूँ, मेहरबानी करके वक़्त बतला दीजिए। मौलवी साहब नज़दीक ही रहते थे। वे ख़ुद ही चले आये। उन्होंने पूछा कि क्या मामला है ? रत्नाकरजीने कहा कि बहुत वर्षों बाद एक गुस्ताख़ी की है, उसे ठीक करानेके लिए मैं तो ख़ुद ही आपकी ख़िदमतमें हाज़िर होना चाहता था। मौलवी साहबने बड़े संकोचके साथ गज़ल ली और उसमें थोड़ा बहुत संशोधन कर दिया। हिन्दीके निगुरुये कविपुंगवोंके लिए रत्नाकरजीकी गुरुभक्ति वस्तुतः आदर्श है।

यही नहीं, जिन कवियोंकी कविताका रत्नाकरजीपर प्रभाव पड़ा है, उनकी रचनाओंकी वे भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। नन्ददासजीके निम्न-लिखित पद्यको पढ़ते-पढ़ते विह्वल हो जाते हैं:—

"उरबरपर अति छबि कि भीर कछु बरनि न जाई,
जिहिं अन्तर जगमगत निरन्तर कुँवर कन्हाई।"

पद्माकरका नाम भी बड़े आदरके साथ लेते हैं, बल्कि पद्माकरके जोड़पर ही आपने अपना नाम 'रत्नाकर' रखा था।

× × ×

यद्यपि रत्नाकरजीने सभी रसोंकी कविता की है, और बहुत अच्छी की है, पर हमें उनकी शृंगाररसकी कविताएँ बहुत पसन्द हैं। एक बार हमें रत्नाकरजीके साथ दिल्ली में जैनियोंका एक मेला देखने जानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। गुरुवर पं० पद्मसिंहजी तथा बन्धुवर उदित मिश्रजी साथ थे। उस दिन रत्नाकरजीने अपनी एक कविता सुनाई थी, जो अब भी हमारे कानोंमें गूँज रही है:—

रसके प्रयोगनिके सुखद सुजोगनिके
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।
तिनके चलावनकी चरचा चलावै कौन
देत ना सुदर्सन हूँ यौं सुधि सिराई हैं॥
करत उपाय ना सुभाय लखि नारिनि कौ
भाय क्यों अनारिनकौ भरत कन्हाई हैं।
ह्याँ तौ विषमज्वर वियोगकी चढ़ाई यह
पाती कौन रोगकी पठावत दवाई हैं॥

इसीके जोड़का दूसरा कवित्त भी रत्नाकरजीका ही सुन लीजिए:—

"हाल बाल परी है बिहाल नँदलाल प्यारे,
ज्वाला-सी जगी है अंग देखैं दीठि जारैं देति;
प्रेम-लोक-लाज मिलि बिरह त्रिदोष भयो,
कहै 'रत्नाकर' सुनैनि नीर ढारैं देति।
सत्तर धनत्तरसे हारि रहे आप,
मुख चन्द्रोदय आखिरी इलाज है पुकारैं देति;
झाझरी भई है देह, बाबरी भई है मति,
औरकी कहा है सुधि रावरी बिसारैं देति।"

हेमन्तका वर्णन सुन लीजिए :—

"अन्तपुर पैठि भानु आतुर कढ़ै न बेगि,
चिर निसि-अंकमें निसापति डरे रहैं;
कहै 'रत्नाकर' हिमंतको प्रभाव ही सौं,
सन्त मन हू मैं भाव और ही भरे रहैं।
नर पसु पच्छी सुर असुर समाज आज,
काम अरचामैं निसि बासर परे रहैं;
ह्वैकैं कुसुमायुधके आयुध उबारूं अब,
सब धरिनी ही में धरोहर धरे रहैं।"

वर्षामें रत्नाकरजीकी निम्न-लिखित कविताओंका भी आनन्द लीजिए:—

"झूलत हिंडोरैं दुहूँ बोरे रसरंग जिन्हें,
जोहत अनंग रति सोभा कटि-कटि जाति:
मंजु मचकी सौं उचकत कुच-कोरनिपै,
ललकि लुभाइ रसियाकी डीठि डटि जाति।
देखत बनै ही, कछु कहत बनै न नैंकु,
बाल अलबेली जब लाजसौं सिमटि जाति;
हटि जाति घूँघट, लटकि लाँबी लट जाति,
फटि जाति कंचुकी, लचकि लोनी कटि जाति।

× × ×

चहुँ दिसि छाई हरियाई सुखदाई जहाँ,
सोहति सुहाई तापै फबनि फुहीनिकी;
कहै 'रतनाकर' ब्रजंगना उमंग भरीं,
झूलति हिंडोरैं झोरैं सुखमा सुरीनिकी।
भाखै चित-चाव कौन भौन-सुख-भोगिनिकौ
डहकि डगाये देति मनसा मुनीनिकी;

ऊरुनिकी हच कसु उचक उरोजनिकी,
लंककी लचक औ' मचक मचकीनिकी।"

"मुरि मुसकाइकै" समस्याकी पूर्ति भी सुन लीजिए:—

"संगमैं सहेलिनिके जोबन-उमंग-रली
बाल अलबेली चली जमुना अन्हाइकै;
कहै 'रतनाकर' चलाई कान्ह काँकर त्यौं,
ठठकि सुजान सखियानिसौं पछाइकै।
दाएँ कर गागरि सँभारि झुकि बाईं ओर,
बाएँ कर-कंज नैंकु घूँघट उठाइकै;
दै गई हिये मैं हाय दुसह उदेग दाग,
लै गई लड़ैती मन मुरि मुसकाइकै।

× × ×

"गूथन गुपाल बैठे बेनी बनिताकी आप
हरित लतानि-कुंज माहिं सुख पाइकै;
कहै 'रतनाकर' सँवारि निरवारि बार
बार-बार बिबस बिलोकति बिकाइकै।
लाइ उर लेत कबौं फेरि गहि छोर लावै
ऐसी रही ख्यालनिमैं लालनि लुभाइकै;
कान्ह-गति जानिकै सुजान मन मोद मानि
'करत कहा हौ'—कह्यौ मुरि मुसकाइकै।"

हास्यरसका भी एक दृष्टान्त सुनिये। गोपियाँ ऊधोसे कहती है—

"सीता असगुनकौं कटाई नाक एक बेरि
सोई करि कूब राधिकापै फेरि फाटी है;
कहै 'रतनाकर' परेखौ नाहिं याकौं नैंकु
ताकी तौ सदाकी यह पाकी परिपाटी है।

सोच है यहै कै संग ताके रंगभौन माहिं
कौन धौं अनोखौ ढंग रचत निराटी है;
छाँटि देत कूबर कै आँटि देत डाँट कोऊ
काटि देत खाट किधौं पाटि देत माटी है।"

अगहनकी बहार लीजिए:—

"गावैं गीत अंगना प्रबीन कर बीन लिये
आनँद उमंग-भरी रंगके भवनमैं;
कहै 'रतनाकर' जवानीकी उमंग होइँ
तंग होइँ बसन सजीले तने तनमैं।
सुखद पलंग होइँ दुहरी दुलाई लगी
आनँद अभंग तब होइ अगहनमैं;
नूपुरके संग-संग बाजत मृदंग होइँ
रंग होइ नैनन तरंग होइ मन मैं।"

हम जानते हैं कि आजकलके ज़मानेमें श्रृंगाररसकी कविता का नाम लेना घोर पाप है, पर इसके साथ ही हम यह भी मानते हैं कि रत्नाकर-जीकी कविताका ज़िक्र करते हुए और उनके व्यक्तित्वपर प्रकाश डालते हुए श्रृंगाररसको छोड़ देना भी घोर अपराध होता। ऐसी परिस्थितिमें हम यही उचित समझते हैं कि अपने पाठकोंकी अदालतमें क्षमा याचना कर लें। अब रही यमराजकी अदालतकी बात, सो वहाँ तो हमें साफ़ छूट जानेकी सोलह आना उम्मेद है; क्योंकि स्वयं कविवर रत्नाकरजीने हमें आश्वासन दिया है:—

"ए हो बीर पातकी ! अधीर जनि होहु सनौ
यह तदबीर भीर रावरी भजावैगी;
भाषै यहै आगैं हूँ अभागे हमसौं जो जाहिं
याही एक बात घात सकल बनावैगी।

पहिलैं हमारे सरदार 'रतनाकर' की
पातक अपार परतार पार पावैगी;
जैहैं बस चौकड़ी कितीक जुगवारी बीति,
पारी फेरि जाँचकी तिहारी नाहिं आवैगी।

× × ×

केते मनु-अन्तर निरन्तर व्यतीत ह्वै हैं,
केती चित्रगुप्त जम औधि उटि जाइगी;
कहै 'रतनाकर' खुल्यौ जो पाप-खाता मम
तौ गनि बिधाता हू कि आयु खुटि जाइगी।
जै हैं बाँचि बूझि अबकी ना लिपि भाषा रंच
औरै पाप-पुण्य परिभाषा जुटि जाइगी;
लाहु लहि संसयकौ संसय बिना ही बस
पापिनकी मंडली अदंड छुटि जाइगी।"

Benefit of doubt में छूटनेकी बात रत्नाकरजीने एक ही कही है, और हमारे जैसे अपराधियोंके लिए यह बड़ी सान्त्वनाप्रद है ! इसमें बस खतरा है तो इतना ही कि कहीं यमराजजी अपने यहाँ पुरातत्त्व-विभाग खोलकर कोई प्राचीन लिपि-विशारद नौकर न रख लें ! यह बात न भूलनी चाहिए कि स्वयं रत्नाकरजी प्राचीन लिपियोंको पढ़नेमें सिद्धहस्त हैं, और यदि कहीं हमारे सरदार रत्नाकरजी सरकारी गवाह बन गये, तब तो हम कहींके भी न रहेंगे !

× × ×

रत्नाकरजीने काव्यशास्त्रका अच्छी तरह अध्ययन किया था। प्रारम्भमें आपने 'रसराज' पढ़ा और तत्पश्चात् 'जगद्विनोद', 'भाषाभूषण', 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', 'काव्यनिर्णय' इत्यादि ग्रन्थ पढ़े।

रत्नाकरजी श्रीहित हरिवंशकी ब्रजभाषाको शुद्ध ब्रजभाषा मानते

हैं और उन्हें हिन्दीका जयदेव समझते हैं। उनका निम्न-लिखित पद रत्नाकरजीको बहुत पसंद हैं।

"ब्रज नव तरुनि कदम्ब मुकुट मनि स्यामा आजु बनी;
नख सिख लौ अँग-अंग माधुरी मोहे स्याम धनी।
यौं राजति कवरी गूथित कच कनक कंजबदनी;
चिकुर चन्द्रकनि बीच अरध बिधु मानौं ग्रसत फनी।

× × ×

हित हरिबंस प्रसंसित स्यामा कीरति बिसद घनी;
गावत स्रवननि सुनत सुखाकर विश्व दुरित दबनी।"

नन्ददासकी 'रासपंचाध्यायी' रत्नाकरजीको अत्यन्त प्रिय है। रत्नाकरजीसे नन्ददासका ज़िक्र आते समय मैंने सत्यनारायणकी चर्चा भी की और उनकी ब्रजभाषा नामक कविता सुनाई:--

"इक दिन जो माधुर्य कान्तिमय सुखद सुहाई;
मंजु मनोरम मूरति जाकी जग जिय भाई।
देखत तुम निश्चिन्त जात ताके अब प्राना;
अभागिनी शोकार्त्त कहहुको तासु समाना।
लिखन रह्यो इक ओर तासु पढ़िबो हू त्यागो;
मातासों मुख मोरि कहाँ तुव मन अनुराग्यो।

× × ×

या जीवन-संग्राम माहिं पावत सहाय सब;
नाम लैन हू तज्यो किन्तु तुमने याकौ अब!
क्यों यासों मन फिर्यो कृपाकरि कछुक जतावौ;
वृथा आतमा या ब्रजभाषाकी न सतावौ।"

ये पंक्तियाँ सुनकर रत्नाकरजीका हृदय द्रवित हो गया, और वे बोले--"हमें इस बातका बड़ा दु:ख है कि हम सत्यनारायणके दर्शन न कर सके। इनकी ब्रजभाषाकी कविता तो बड़ी मधुर और सरस है। यदि

सत्यनारायणजी इस समय जीवित होते, तो हम केवल उनसे मिलनेके लिए ही आगरे जाते।"

मनमें सोचा कि रत्नाकरजी और सत्यनारायणजीका मिलन पद्माकर और नन्ददासका मिलन होता। मैंने कहा—"सत्यनारायणजीका देहान्त तो सन् १९१८ में हुआ था। उसके पहले तो आप उनसे चाहे जब मिल सकते थे।"

रत्नाकरजी बोले—"हम तो उन दिनों झूठनारायणके फन्देमें फँसे हुए थे। रियासतकी ओरसे मुकदमेबाजी कर रहे थे। कचहरीमें सत्य-नारायणको कौन पूछता है, वहाँ तो झूठनारायणका बोल-बाला है।"

मैंने कहा—"जिन दिनों आप साहित्य-क्षेत्रसे अलग रहे—यानी १९०६ से १९२१ तक— उन्हीं दिनोंमें सत्यनारायणने ब्रजभाषाका झंडा ऊँचा रखा।"

रत्नाकरजीने हँसकर कहा—'मालूम होता है, वे हमारी एवज़ी करते रहे थे!"

× × ×

साहित्य-प्रेमी यह बात भलीभाँति जानते ही है कि रत्नाकरजीने सोलह वर्षतक काव्य-क्षेत्रसे बिलकुल अलग रहनेके बाद फिर साहित्य-क्षेत्रमें किस प्रकार प्रवेश किया और किस प्रकार अयोध्याकी महारानी साहबाकी आज्ञानुसार आपने 'गंगावतरण' नामक काव्य लिखा। उस समयका लिखा हुआ आपका प्रारम्भिक कवित्त काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है—

सुमिरत सारदा हुलसि हँसि हंस चढ़ी
बिधि सौं कहति पुनि सोई धुनि ध्याऊँ मैं।
ताल-तुक-हीन अंग-भंग छबि-छीन भई
कविता बिचारी ताहि रुचि-रस प्याऊँ मैं॥

नंददास-देव—घनग्रानँद-बिहारी-सम
सुकवि ब्रनावन की तुम्हें सुधि दयाऊँ मैं ।
सुनि रतनाकर की रचना रसीली नैंकु
ढीली-परी वीनहिं सुरीली करि ल्याऊँ मैं ।।

अब रत्नाकरजीकी वीररसकी कविताएँ पढ़िए । निम्नलिखित कविता शुद्ध वीररसकी है । इनमें और कोई भाव संचारी रूपसे भी नहीं आया, स्थायी रूपसे आना तो दूर रहाः—

"धरम सपूतकी रजाइ चित चाही पाइ
धायौ धरि हुलसि हथ्यार हरबरमैं;
कहै 'रतनाकर' सुभद्राकौ लड़ैतौ लाल
प्यारी उत्तरा हू की रुक्यौ न सरबरमैं ।
सारदूल-सावक वितुंड-झुंडमैं हीं त्यौं
पैठ्यौ चक्रब्यूहकी अनूह अरबरमैं;
लाग्यौ हाँस करन हुलासपर बैरिनिके
मुख मन्द हास चन्दहास करबरमैं ।

× × ×

वीरनिके मान औ गुमान रनधीरनिके
आनके विधान भटबृन्द घमसानीके;
कहै 'रतनाकर' विमोह अंध भूपतिके
द्रोहके सँदोह सूत-पूत अभिमानीके ।
द्रोनके प्रबोध दुरबोध दुरजोधनके
आयु औधि दिवस जयद्रथ अठानीके;
कौरवके दाप ताप पांडवके जात बहे
पानी माँहि पारथ सपूतकी कृपानीके ।"

भीष्माष्टकके भी दो-तीन कवित्त पठनीय हैं:—

"भीषम भयानक पुकार्यौ रनभूमि आनि—
छाई छिति छत्रिनिकी गीति उठि जाइगी;
कहै 'रतनाकर' रुधिरसौं रुँधैगी धरा
लोथनिपै लोथनिकी भींति उठि जाइगी।
जीति उठि जाइगी अजीत पांडु पूतनिकी
भूप दुरजोधनकी भीति उठि जाइगी;
कै तौ प्रीति-रीतिकी सुनीति उठि जाइगी
कै, आज हरि-प्रनकी प्रतीति उठि जाइगी।

× × ×

पारथ बिचारौ पुरुषारथ करैगौ कहा
स्वारथ समेत परमारथ नसैहौं मैं,
कहै 'रतनाकर' प्रचार्‌यौ रन भीषम यौं—
आज दुरजोधनकौ दुख दरिदैहौं मैं।
पंचनिके देखत प्रपंच करि दूरि सबै
पंचनिकौ स्वत्व पंचतत्वमैं मिलैहौं मैं;
हरि-प्रन-हारी जस धारिकै धरा ह्वै सांत,
साँतनुकौ सुभट सपूत कहवैहौं मैं।

× × ×

मुंड लागे कटन पटन काल-कुंड लागे
रुंड लागे लुठन निमूल कदलीनि लौं;
कहै 'रतनाकर' बितुंड-रथ-बाजी-भुंड
लुंड-मुंड लोटैं परि उछरि तिमीनि लौं।
हेरत हिराये-से परसपर सचित चूर
पारथ औ सारथी अदूर दरसीनि लौं;
लच्छ-लच्छ भीषम भयानकके बान चले
सबल सपच्छ फुफुकारत फनीनि लौं।"

रत्नाकरजीके अबतक प्रकाशित ग्रन्थोंके नाम ये हैं:—'हिंडोला', 'हरिश्चन्द्र', 'समालोचनादर्श', 'गंगावतरण', 'घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर', 'रोलाछन्दका लक्षण', 'दोहाका लक्षण', 'सवैयाका लक्षण', 'बिहारी-रत्नाकर' और 'उद्धवशतक'।

जो ग्रन्थ रत्नाकरजीके पास तय्यार हैं, पर अभी नहीं छपे, उनके नाम ये हैं—गंगाविष्णु लहरी, रत्नाष्टक, शृंगार-संग्रह, बिहारीका जीवन-चरित और बिहारीका व्याकरण।

'गंगावतरण' को रत्नाकरजी अपनी रचनाओंमें सर्वोत्तम समझते हैं।

श्रीरत्नाष्टकमें चौदह अष्टक हैं—शारदा, बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर, प्रभात, सन्ध्या, सुदामा, गजेन्द्रमोक्ष, द्रौपदी, भीष्म और श्रीभगवदष्टक। रत्नाष्टकके कितने ही कवित्त वास्तवमें अत्युत्तम हैं। उन्हें रत्नाकरजीके मुखसे सुननेमें बड़ा आनन्द आता है। कुछ आप भी पढ़ लीजिए:—

"दीन द्रौपदीकी परतन्त्रता पुकार ज्यौंही
तंत्र बिन आई मन जंत्र बिजुरीनिपै;
कहै 'रतनाकर' त्यौं कान्हकी कृपाकी कानि
आनि लसी चातुरी-बिहीन आतुरीनिपै।
अंग पर्‌यौ थहरि लहरि दृग रंग पर्‌यौ
तंग पर्‌यौ बसन सुरंग पँसुरीनिपै;
पंचजन्य चूमन हुमसि होंठ वक्र लाग्यौ
चक्र लाग्यौ घूमन उमगि अँगुरीनिपै।"
(द्रौपदी-अष्टक)

"रमत रमाके संग आनँद उमंग भरे
अंग परे थहरि मतंग-अवराधेपै;
कहै 'रतनाकर' बदन दुति औरै भई
बूँदैं छईं छलकि दृगनि नेह-नाधेपै।

धाये उठि बार न उवारनमें लाई रंच
चंचला हू चकित रही ह्वै वेग-साधेपै;
आवत वितुंडकी पुकार मग आधे मिली
लौटत मिल्यौ त्यौं पच्छिराज मग आधेपै।"
(गजेन्द्र-मोक्षाष्टक)

"छाई छबि स्यामल सुहाई रजनी-मुखकी
रंच पियराई रही उपर मुरेरेके;
कहै 'रतनाकर' उमगि तरु-छाया चली
बढ़ि अगवानी हेत आवत अँधेरेके।
घर-घर साजै सेज अंगना सिगारि अंग
लौटत उमंग-भरे बिछुरे सबेरेके;
जोगी जती जंगम जहाँ ही तहाँ डेरे देत
फेरे देत फुदकि बिहंगम बसेरेके।

× × ×

लागै रजनीमुखकी सुखमा सुहाई ताहि
जाहि सुखरासिकी न आस हरिगई होइ;
कहै 'रतनाकर' हिमाकर मुखीकै हाँस
दिवस कसाला जगी ज्वाला हरिगई होइ।
पूछौ पर जाइ वा वियोगीके हियेसैं नैंकु
जाकी थाकी पींडुरी भभरि भरिगई होइ;
उठत न होय पाँय गाम समुहैं लौं आइ
धाय मग माँझ हाय साँझ परिगई होइ!"

रत्नाकरजीका व्यक्तित्व

किसी कविकी कविताको ठीक तरह समझनेके लिए उसके व्यक्तित्वको समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। रत्नाकरजीके भी व्यक्तित्वमें एक निराला-

पन है, और उसे जाने बिना उनकी कविताकी निन्दा-स्तुति करना अनुचित होगा। हमारी समझमें ब्रजभाषाके लिए और स्वयं रत्नाकरजीके लिए भी यह बड़े दुर्भाग्यकी बात थी कि सन १९०६ से १९२१ तक वे साहित्य-क्षेत्रसे बिल्कुल अलग पड़े रहे। राष्ट्रीय जाग्रतिके इस स्वर्णयुगमें रत्नाकर-जीको कविता देवीको तिलाँजलि देकर कचहरी देवीकी आराधना करनी पडी! यद्यपि पिछले आन्दोलनकी लहरोंने उनकी जीवन-नौकासे टका-राकर उन्हें दो-चार देशभक्तिमय पद्य लिखनेके लिए बाध्य किया है, पर उनमे वह सजीवता प्रतीत नही होती, जो उनकी अन्य रसकी कविताओंमें पाई जाती है। जब रत्नाकरजी गाते हैः—

"आज्ञा भंग करके करेंगे कुछ ऐसा तंग
संग अपने वे एक भंगी भी न पायेंग;
अंगपर तोप और तुफंग झेल लेगे बस,
चंग चरखेका रंगभूमिमें बजायेगे।"

उस समय उनके चंगसे फूटे हुए ढोलकी-सी आवाज़ निकलती है। यदि धृष्टता क्षमा हो, तो हम कहेगे कि आज्ञाभग करके फिरगियोको तंग करना न तो रत्नाकरजीकी रुचिके अनुकूल है और न सामर्थ्यके भीतर। और हमे तो रंगभूमिमे चरखेका चंग बजाते हुए रत्नाकरजीका चित्र कुछ विचित्रसा लगता है। उनकी 'रंगभूमि'की अपेक्षा उनकी 'रंगभौन' की कवितामे अधिक सजीवता है। प्रत्येक आदमीसे यह आशा करना कि वह हमारे ही विचारोंका अनुयायी बन जाय, घोर अन्याय है। आनन्द विभिन्नतामें है, सभीके एक रंग होनेमे नही। आखिर श्रृंगाररस भी जीवनके लिए एक अत्यन्त आवश्यक रस है।

प्रसंगवश हम यहाँ यह कह देना चाहते है कि जो महानुभाव श्रृंगार-रसके पीछे लाठी लिए फिरते है, वे या तो दम्भी है या अरसिक अथवा आवश्यकतासे अधिक भोले। देशभक्तिके नामपर जो बहुत सी नीरस तुकबन्दी आजकल निकल रही है, स्वाधीनता प्राप्त होनेके बाद उसका

सारा रंग फीका पड़ जायगा और शृंगाररस तो सृष्टिके आदि से है और अन्त तक रहेगा। पर रत्नाकर जी कोरमकोर शृंगाररसके कवि हों, सो बात नहीं। उनकी अन्य रसोंकी कविता परिमाणमें शृंगाररसकी कवितासे कहीं अधिक ही बैठेगी। रत्नाकरजीमें यह शक्ति भी है कि पाठकको शृंगारके रसीले कुँजसे निकालकर वीर-रसके उत्तुग शिखरपर बैठा दें। सुनिये—

बोधि बुधि बिधिके कमंडल उठावत हीं
धाक सुरधुनि की धँसी यौं घट-घट मैं।
कहै रतनाकर सुरासुर ससंक सबै
बिबस बिलोकत लिखेसे चित्र-पट मैं॥
लोकपाल दौरन दसौं दिसि हहरि लागे
हरि लागे हेरन सुपात बर बट मैं।
त्रसन नदीस लागे खसन गिरीस लागे
ईस लागे कसन फनीस कटितट मैं॥

यद्यपि रत्नाकरजी अब तक हिन्दी-साहित्यकी बहुत कुछ प्रशंसनीय सेवा कर चुके है, पर उनके जीवनका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य अभी होनेवाला है, और वह है सूरसागरका सम्पादन और अष्टछापके अन्य कवियोंका उद्धार। यदि इस समय हिन्दी-जगत्में कोई विद्वान् ऐसा है, जो इस कार्यको सुचारु रूपसे कर सकता है तो वह रत्नाकरजी ही है। साढ़े चार हज़ार रुपये वे सूरसागरके लिए ख़र्च कर चुके है और अभी सात-आठ हज़ार रुपये और ख़र्च करने जा रहे है। ६५ वर्षकी उम्र में भी वे छै-सात घंटे नित्य सूरसागरके सम्पादनकार्यमें लगाते है। अभी एक रियासतसे पाँच-छै सौ रुपये महीनेकी नौकरीके लिए निमन्त्रण आया, आपने उसे तुरन्त अस्वीकार कर दिया। सवा सौ रुपये महीनेके तीन क्लार्क रखकर वे सूर-सागरका काम कर रहे है। ब्रजभाषाका एक कोष बनानेका भी आपका विचार है। यदि कोई प्रकाशक अथवा कोई संस्था उनके पास अपनी ओरसे

एक सुयोग्य लेखक रख दे और इस कार्यमें दो-ढाई हज़ार रुपये खर्च करनेके लिए तैयार हो, तो इस समय बड़ी आसानीके साथ यह कोष तैयार हो सकता है। पर हमारी संस्थाओंके संचालकोंमें इतनी दूरदर्शिता कहाँ ?

रत्नाकरजी तीन हज़ार रुपये नागरी-प्रचारिणी सभाको दान दे चुके हैं, हज़ार-बारह सौ 'बिहारी-रत्नाकर' पर खर्च कर चुके हैं और बारह-तेरह हज़ार सूरसागरको अर्पित करनेवाले हैं। इतने पर भी क्या यह आशा करना उचित है कि वे ब्रजभाषा-कोष भी अपने व्ययसे तैयार करावें ?

रत्नाकरजीके स्वभाव, चरित्र अथवा जीवनमें सम्भवतः कुछ त्रुटियाँ रही होंगी, अथवा है, पर क्या इस संसारमें कोई भी मनुष्य निर्दोष है ? हम मानते हैं कि रत्नाकरजी उस कोटिके आदमी है, जिन्हें साम्यवादियोंकी परिभाषामे 'बुर्जुआ' कहना उचित होगा। जो महानुभाव हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके लिए काशीसे कलकत्तेकी यात्रामें पाँच सौ रुपये व्यय कर सकते हैं, व 'बुर्जुआ' नही तो और कौन है ? पर इन त्रुटियोंके होते हुए भी रत्नाकरजीमें धनका अभिमान नाममात्रको भी नही है। कभी-कभी हमारे जैसे निर्धन लेखकोंके मनमें यह भाव आ सकता है कि यदि हम रत्नाकर जीकी तरह साधन-सम्पन्न होते, तो बहुत कुछ काम कर लेते; पर अगर ऐसा होता तो हम लोग शायद कुछ भी न कर पाते ! रत्नाकरजी जो कुछ भी कर रहे है वह उनकी परिस्थितिको देखते बहुत है।

रत्नाकरजीमें वह जिन्दादिली है, जो एक विचित्र आकर्षण रखती है। जब वे दिल खोलकर बातचीत करते है, तो भले ही किसीको उनके मुँहफटपनमें सुसंस्कृतिकी कुछ कमी मालूम पड़े, पर उनके स्वभावमें बड़ी भारी खूबी यह है कि उनमें कृत्रिमताका सर्वथा अभाव है। वे बनते नहीं। यद्यपि उनका रहन-सहन पुराने ढंगका है, उनकी आँखोंका अंजन हमारा मनोरंजन करता है, पर रत्नाकरजीके व्यवहारमें बनावटका नामोनिशान नहीं। मानो वे अपने प्रत्येक समालोचकसे कहते हैं—"जैसे कुछ हम

हैं तुम्हारे सामने हैं। तुम्हारी खुशी या नाराजगीके कारण हम अपना जीवन-क्रम नहीं बदल सकते।"

हमें किसी भी आदमीसे अत्यधिक आशा न करनी चाहिए। सत्य-नारायण-जैसी करुणामय सरलता, द्विवेदीजी-जैसा दृढ़ कर्तव्य-प्रेम और पद्मसिंहजी जैसी साहित्यिक तन्मयता किसी एक आदमीमें एकत्र मिलना अत्यन्त कठिन है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि साहित्य-सेवा रत्नाकर-जीके जीवनका मुख्य ध्येय नहीं रहा। यौवनके उस कालमें, जब वे साहित्य-सेवा द्वारा हिन्दीमाताका बहुत कुछ हित कर सकते थे, उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ—'अपने वंशके गौरवकी रक्षा करना हमारा प्रथम कर्तव्य है जिससे कोई यह न कहने पावे कि देखो, बाप-दादोंके गौरवको इसने गिरा दिया।'

इस पर लोग कह सकते हैं—"साहित्यके लिए फकीरी धारण करनेका गौरव अपने कुलके जीवन-क्रम तथा ठाट-बाटकी रक्षा करनेके गौरव से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।" पर यह तर्क रत्नाकरजीकी मनोवृत्तिके सर्वथा प्रतिकूल है।

साथ ही इस प्रश्नके दूसरे पहलूपर भी ध्यान दे लेना चाहिए। यदि रत्नाकरजी साहित्य-सेवामें ही अपना सम्पूर्ण जीवन लगा देते, तो वे न तो 'विहारी-रत्नाकर' ही लिख पाते और न सूरसागरके सम्पादनके साधन ही जुटा पाते। फिर या तो वे किसी न चलनेवाले प्रेसके संचालक होते अथवा किसी पत्रके सम्पादक; और प्रोप्राइटरसे झगड़ा होनेपर अलग कर दिये गये होते, क्योंकि रत्नाकरजी-जैसे मनमौजी सम्पादककी किसी व्यवसायी पत्र-संचालकसे कभी न बन सकती थी।

रत्नाकरजीको वाद-विवादसे घृणा है। लड़ाई-झगड़ेमें वे नहीं पड़ना चाहते। दलबन्दीसे वे दूर ही रहते हैं। किसी साहित्यिक आन्दोलनके नेताके रूपमें रत्नाकरजीकी कल्पना नहीं की जा सकती। उनमें पं० प्रतापनारायण मिश्रके सदृश्य अव्वल नम्बरकी लापरवाही है।

गप्पें मार रहे हैं, तो दिन-भर यही निष्काम कर्म करते रहेंगे ! मिश्रजीने स्वर्गीय पं० श्रीधर पाठकको लिखा था---"बैठे-बिठाये कौन झगड़ा मोल ल ?" रत्नाकरजीका भी यही सिद्धान्त है । पर प्राइवेट बातचीतमें रत्नाकरजी अपनी सम्मति कभी छिपाते नहीं । चाहे कोई बुरा माने या भला, अपनी राय साफ़-साफ़ कह देते हैं । हमने उनसे पूछा---"छाया-वादकी कविताके विषयमें आपकी क्या सम्मति है ?" उन्होंने कहा---"सम्मति तो हम तब दें, जब वह कुछ हमारी समझमें आवे ! वह तो हमारी समझमें ही नहीं आती ।" इस पर यदि कोई यह आशा करे कि रत्नाकरजी समाचार-पत्रोंमें इस विषयपर कुछ लिखेंगे, तो उसे निराश ही होना पड़ेगा। जहाँ पं० पद्मसिंहजी प्राचीन कालीन क्षत्रियोंकी तरह सदा सशस्त्र तैयार रहते हैं और जो कोई सामने आनेकी धृष्टता करता है, उसपर दो-चार हाथ ऐसे जमाते हैं कि वह ज़िन्दगीभर न भूले, वहाँ रत्नाकरजी अपने विरोधियोंको हँसकर टरका देना ही उचित समझते हैं । यदि उनसे कोई कहे भी कि आप इस विषयपर कुछ लिखिये, तो वे उत्तर देते हैं---"भाई, सूरसागरका काम आप किसी दूसरेको सौंप दीजिए, फिर हम इसी काममें लग जायेंगे । हमारी यह आदत है कि जब हम वाद-विवादमें पड़ते हैं, तो फिर प्रत्येक लेखका जवाब देते हैं ।" रत्नाकरजीके इस कथनमें बहुत कुछ औचित्य है, फिर भी यह कहना ही पड़ेगा कि प्रकृतिसे रत्नाकरजी क्षत्रिय नहीं हैं ।

प्राचीन कवियोंमें रत्नाकरजी पद्माकरकी याद दिलाते हैं । पद्माकर राजसी ठाट-बाटसे रहते थे, और आजकलके देखे, रत्नाकरजीका रहन-सहन भी राजसी कहना पड़ेगा । यदि पद्माकरने महाराज प्रताप-सिंहकी काशीमें दी हुई एक हज़ार मुहरें स्थानीय पंडितोंमें बाँट दी थीं, तो रत्नाकरजीने भी महारानी अयोध्याके 'गंगावतरण'पर पुरस्कारमें दिये हुए एक हज़ार रुपये काशीकी नागरी-प्रचारिणी सभाको दे दिये ।

इसपर यदि कोई प्राचीन विचारोंवाला आदमी रत्नाकरजीको

पद्माकरका अवतार कह दे तो हमें आश्चर्य न होगा। हमारे एक साहित्य-मर्मज्ञ सहयोगी का कथन है कि शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषामें कविता करनेवाला रत्नाकरजी-जैसा दूसरा कवि इधर बहुत वर्षोंसे नहीं हुआ है।

रत्नाकरजीके साथ काव्योपवनकी सैर करनेमें आनन्द आता है। हृदयमें इच्छा होती है कि कभी हरद्वार चलकर गंगातटपर उनके मुखसे ही 'गंगावतरण' सुना जाय। अभी उस दिन घंटे-भर उन्होंने वह अंश हमें सुनाया, जिसमें शिवजीका गंगाको अपने सिरपर लेनेकी तैयारी करते समयका चित्र खींचा गया है। सुनकर हम मंत्रमुग्धसे रह गये। रत्नाकरजी में प्राचीन कालीन धार्मिक श्रद्धा पाई जाती है, जो वास्तवमें एक आदरणीय वस्तु है। यह श्रद्धा उन्हें अपने उन पूज्य पिताजीसे पैतृक सम्पत्तिके रूपमें मिली है, जिन्होंने अयोध्यासे रामेश्वरम् तक पैदल तीर्थ-यात्रा की थी। बिना इस धार्मिक श्रद्धाके 'गंगावतरण' जैसा काव्य लिखा ही नहीं जा सकता था।

यदि पूज्य पं० महाबीरप्रसाद द्विवेदीका सम्भाषण साहित्य-सेवियोंको कठिन कर्तव्य मार्गपर चलनेके लिए स्फूर्ति दायक है, पं० पद्मसिंह शर्माका सत्संग स्वादिष्ट साहित्यिक भोजन है, तो कविवर रत्नाकरजीका 'गंगा-वतरण' पाठ भी वस्तुतः एक अलौकिक आनन्दप्रद वस्तु है। क्या ही अच्छा हो, यदि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन अपने प्रधान रत्नाकरजीकी एक साहित्यिक यात्राका प्रबन्ध करे और मुख्य-मुख्य स्थानोंमें उनके द्वारा 'गंगावतरण' का पाठ करावे। और नहीं तो किसी ब्रज-भाषा-प्रेमी नरेश-को ही इसका प्रबन्ध कर देना चाहिए। रत्नाकरजी खूब हँसते और हँसाते हैं। अभी उस दिन आपने कहा—"हमने भी अपने भाग्यको वाल्मीकि तथा व्याससे कैसा भिड़ाया है!"—

अब त्रिपंथगा गंग गरबि तव सुता कहैहै।
भागीरथी पुनीत नाम सौं जग जस छैहै॥

त्रेता जुग मुनि वालमीकि द्वापर पारासर।
कलिमैं यह सुचि चरित चारु गैहै रतनाकर॥

"भई, वे त्रेता और द्वापर के थे, हम कलियुगके हैं।" ऐसा कहकर खूब खिलखिलाकर हँसने लगे। उनका यह गर्वोक्तिमय मधुर हास्य साहित्याकाशको चिरकाल तक गुंजायमान करता रहे, यही प्रार्थना है।

परमात्मा वृद्धा ब्रजभाषाके इस एकमात्र सहारेको चिरायु—शतायु करे, और उसके द्वारा मातृभाषाके उन सपूतोंका उद्धार करावे, जिनको कृतघ्न हिन्दी-संसार बिलकुल भूलता जा रहा है। रत्नाकरजी हमारे साहित्यके उस युगकी एक बची खुची यादगार हैं, जो बीत चुका है; उस शैलीके कवि हैं, जो निरपराध तिरस्कृत हो चुकी है और उस परिपाटीके आदमी हैं, जिन्हें गर्दिशेअय्याम बहुत पीछे फेंक चुका है। उनके व्यक्तित्व में यही आकर्षण है, यही निरालापन है।

अक्टूबर, १९३१

प्रेमचन्दजीके साथ दो दिन

"आप आ रहे हैं, बड़ी ख़ुशी हुई। अवश्य आइये। आपसे न-जाने कितनी बातें करनी हैं।

मेरे मकानका पता है--

बेनिया-बाग़में तालाबके किनारे लाल मकान। किसी इक्केवालेसे कहिये, वह आपको बेनिया-पार्क पहुँचा देगा। पार्कमें एक तालाब है। जो अब सूख रहा है। उसीके किनारे मेरा मकान है, लाल रंगका, छज्जा लगा हुआ। द्वारपर लोहेकी Fencing है। अवश्य आइये।

---धनपतराय।"

प्रेमचन्दजीकी सेवामें उपस्थित होनेकी इच्छा बहुत दिनोंसे थी। यद्यपि आठ वर्ष पहले लखनऊमें एक बार उनके दर्शन किये थे, पर उस समय अधिक बातचीत करनेका मौक़ा नहीं मिला था। इन आठ वर्षोंमें कई बार काशी जाना हुआ, पर प्रेमचन्दजी उन दिनों काशीमें नहीं थे। इसलिए ऊपरकी चिट्ठी मिलते ही मैंने बनारस कैण्टका टिकट कटाया, और इक्का लेकर बेनिया-पार्क पहुँच ही गया। प्रेमचन्दजीका मकान खुली हुई जगहमें सुन्दर स्थानपर है, और कलकत्तेका कोई भी हिन्दी-पत्रकार इस विषयमें उनसे ईर्ष्या किये बिना नहीं रह सकता। लखनऊके आठ वर्ष पुराने प्रेमचन्दजी और काशीके प्रेमचन्दजीकी रूप-रेखामें विशेष अन्तर नहीं पड़ा। हाँ, मूँछोंके बाल ज़रूर ५३ फ़ीसदी सफ़ेद हो गये हैं---उम्र भी क़रीब-क़रीब इतनी ही है---परमात्मा उन्हें शतायु करे, क्योंकि हिन्दीवाले उन्हींकी बदौलत आज दूसरी भाषावालोंके सामने मूँछोंपर ताव दे सकते हैं। यद्यपि इस बातमें हमें सन्देह है कि प्रेमचन्दजी हिन्दी भाषा-भाषी जनतामें कभी उतने लोकप्रिय बन सकेंगे, जितने कविवर मैथिलीशरणजी हैं, पर

प्रेमचन्दजीके सिवा भारतकी सीमा उल्लंघन करनेकी क्षमता रखनेवाला कोई दूसरा हिंदी-कलाकार इस समय हिन्दी-जगत्‌में विद्यमान नहीं। लोग उनको उपन्यास-सम्राट् कहते हैं, पर कोई भी समझदार आदमी उनसे दो ही मिनट बातचीत करनेके बाद समझ सकता है कि प्रेमचन्दजीमें साम्राज्यवादिताका नामो-निशान नहीं। क़दके छोटे हैं, शरीर निर्बल-सा है, चेहरा भी कोई प्रभावशाली नहीं, और श्रीमती शिवरानी देवीजी हमें क्षमा करें, यदि हम कहें कि जिस समय ईश्वरके यहाँ शारीरिक सौन्दर्य बँट रहा था, प्रेमचन्दजी ज़रा देरसे पहुँचे थे। पर उनकी उन्मुक्त हँसीकी ज्योतिपर, जो एक सीधे सादे, सच्चे स्नेहमय हृदयसे ही निकल सकती है, कोई भी सहृदया सुकुमारी पतंगवत् अपना जीवन निछावर कर सकती है। प्रेमचन्दजीने बहुत-से कष्ट पाये हैं, अनेक मुसीबतोंका सामना किया है, पर उन्होंने अपने हृदयमें कटुताको नहीं आने दिया। वे शुष्क बनियापनसे कोसों दूर हैं, और बेनिया-पार्कका तालाब भले ही सूख जाय, उनके हृदय-सरोवरसे सरसता कदापि नहीं जा सकती। प्रेमचन्दजीमें सबसे बड़ा गुण यही है कि उन्हें धोखा दिया जा सकता है। जब इस चालाक साहित्य-संसारमें बीसियों आदमी ऐसे पाये जाते हैं, जो दिन-दहाड़े दूसरोंको धोखा दिया करते है, प्रेमचन्दजीकी तरहके कुछ आदमियोंका होना ग़नीमत है। उनमें दिखावट नहीं, अभि-मान उन्हें छू भी नहीं गया, और भारतव्यापी कीर्ति उनकी सहज विनम्रताको उनसे छीन नहीं पाई।

प्रेमचन्दजीसे अबकी बार घंटों बातचीत हुई। एक दिन तो प्रातः-काल ११ बजेसे रातके १० बजे तक और दूसरे दिन सवेरेसे शाम तक। प्रेमचन्दजी गल्पलेखक हैं, इसलिए गप लड़ानेमें आनन्द आना उनके लिए स्वाभाविक ही है। [भाषातत्त्वविद् बतलावें कि गप शब्दकी व्युत्पत्ति गल्पसे हुई है या नहीं!]

यदि प्रेमचन्दजीको अपने डिक्टेटर श्रीमती शिवरानी देवीका डर न

रहे, तो वे चौबीस घंटे यही निष्काम कर्म कर सकते हैं ! एक दिन बात करते-करते काफ़ी देर हो गई । घड़ी देखी, तो पता लगा कि पौने दो बजे हैं । रोटीका वक़्त निकल चुका था । प्रेमचन्दजीने कहा--"ख़ैरियत यह है कि घरमें ऊपर घड़ी नहीं है, नहीं तो अभी अच्छी ख़ासी डाट सुननी पड़ती ।" घरमें एक घड़ी रखना, और सो भी अपने पास, यह बात सिद्ध करती है कि पुरुष यदि चाहे तो स्त्रीसे कहीं अधिक चालाक बन सकता है, और प्रेमचन्दजीमें इस प्रकारका चातुर्य बीजरूपमें तो विद्यमान है ही ।

प्रेमचन्दजी स्वर्गीय कविवर शंकरजीकी तरह प्रवासभीरु हैं। जब पिछली बार आप दिल्ली गये थे, तो हमारे एक मित्रने लिखा था--"पचास वर्षकी उम्रमें प्रेमचन्दजी पहली बार दिल्ली आये है !" इससे हमें आश्चर्य नहीं हुआ । आख़िर सम्राट् पंचम जार्ज भी जीवनमें एक बार ही दिल्ली पधारे हैं, और प्रेमचन्दजी भी तो उपन्यास-सम्राट् ठहरे ! इसके सिवा यदि प्रेमचन्दजी इतने दिन बाद दिल्ली गये, तो इसमें दिल्लीका क़सूर है, उनका नहीं ।

प्रेमचन्दजीमें गुण-ही-गुण विद्यमान हों, सो बात नहीं । दोष हैं, और सम्भवतः अनेक दोष हैं । एक बार महात्माजीसे किसीने पूछा था--"आप किसीपर ज़ुल्म भी करते हैं ?" उन्होंने जवाब दिया--"यह सवाल आप बा (श्रीमती गाँधी) से पूछिये ।"श्रीमती शिवरानी देवीसे हम प्रार्थना करेंगे कि वे उनके दोषोंपर प्रकाश डालें । एक बात तो उन्होंने हमें बतला भी दी कि उनमें प्रबन्धशक्तिका बिलकुल अभाव है । "हमीं-सी हैं, जो इनके घरका इन्तज़ाम कर सकती हैं" । पर इस विषयमें श्रीमती सुदर्शन उनसे कहीं आगे बढ़ी हुई हैं। वे सुदर्शनजीके घरका ही प्रबन्ध नहीं करतीं, स्वयं सुदर्शनजीका भी प्रबन्ध करती हैं, और कुछ लोगोंका तो--जिनमें सम्मिलित होनेकी इच्छा इन पंक्तियोंके लेखककी भी है--यह दृढ़ विश्वास है कि श्रीमती सुदर्शन गल्प लिखती हैं, और नाम श्रीमान् सुदर्शनजीका होता है !

प्रेमचन्दजीमें मानसिक स्फूर्ति चाहे कितनी ही अधिक मात्रामें क्यों न हो, शारीरिक फुर्तीका प्रायः अभाव ही है। यदि कोई भला आदमी प्रेमचन्दजी तथा सुदर्शनजीको एक मकानमें वन्द कर दे, तो सुदर्शनजी तिकड़म भिड़ाकर छतसे नीचे कूद पड़ेंगे, और प्रेमचन्दजी वहीं बैठे रहेंगे। यह दूसरी बात है कि प्रेमचन्दजी वहाँ बैठे-बैठे कोई गल्प लिख डालें !

जमके बैठजानेमें ही प्रेमचन्दजीकी शक्ति और निर्बलताका मूल स्रोत छिपा हुआ है। प्रेमचन्दजी ग्रामोंमें जमके बैठ गये, और उन्होंने अपने मस्तिष्कके सुपरफाइन केमरेसे वहाँके चित्र-विचित्र जीवनका फ़िल्म ले लिया। सुना है कि इटलीकी एक लेखिका श्रीमती ग्रेज़िया दलिद्दाने अपने देशके एक प्रान्त-विशेषके निवासियोंकी मनोवृत्तिका ऐसा बढ़िया अध्ययन किया, और उसे अपनी पुस्तकमें इतनी खूबीके साथ चित्रित कर दिया कि उन्हें 'नोबेल-प्राइज़' मिल गया। प्रेमचन्दजीका युक्तप्रान्तीय ग्राम्य-जीवनका अध्ययन अत्यन्त गम्भीर है, और ग्रामवासियोंके मनोभावोंका विश्लेषण इतने ऊँचे दर्जेका है कि इस विषयमें अन्य भाषाओंके अच्छे-से-अच्छे लेखक उनसे ईर्ष्या कर सकते हैं।

कहानी-लेखकों तथा कहानी-लेखन-कलाके विषयमें प्रेमचन्दजीसे बहुत देर तक बातचीत हुई। उनसे पूछनेके लिए मैं कुछ सवाल लिख ले गया था। पहला सवाल था --"कहानी-लेखन-कलाके विषयमें आपके क्या विचार हैं ?" आपने जवाब दिया--"कहानी-लेखन-कलाके विषयमें क्या बतलाऊँ ? हम कहानी लिखते हैं, दूसरे लोग पढ़ते हैं। दूसरे लिखते हैं, हम पढ़ते हैं, और क्या कहूँ ?" इतना कहकर खिलखिलाकर हँस पड़े, और मेरा प्रश्न धाराप्रवाह अट्टहासमें विलीन हो गया। बात दरअसल यह थी कि प्रेमचन्दजीकी सम्मतिमें वे सवाल ऐसे थे, जिनपर अलग-अलग निबन्ध लिखे जा सकते हैं।

प्रश्न--हिन्दी-कहानी-लेखनकी वर्तमान प्रगति कैसी है ? क्या वह स्वस्थ तथा उन्नतशील मार्गपर है ?

उत्तर—प्रगति बहुत अच्छी है। यह सवाल ऐसा नहीं कि इसका जवाब यों ही off hand दिया जा सके।

प्रश्न—नवयुवक कहानी-लेखकोंमें सबसे अधिक होनहार कौन है ?

उत्तर—जैनेन्द्र तो हैं ही, और उनके विषयमें तो पूछना ही क्या है ! इधर श्री वीरेश्वरसिंहने कई अच्छी कहानियाँ लिखी हैं। बहुत ऊँचे दर्जेकी कला तो उनमें अभी विकसित नहीं हो पाई, पर तब भी अच्छा लिख लेते हैं। बाज़-बाज़ कहानियाँ तो बहुत अच्छी हैं। हिन्दू-विश्व-विद्यालयके ललितकिशोरसिंह भी अच्छा लिखते हैं। श्री जनार्दन झा द्विजमें भी प्रतिभा है।

प्रश्न—विदेशी कहानियोंका हमारे लेखकोंपर कहाँ तक असर पड़ा है ?

उत्तर—हम लोगोंने जितनी कहानियाँ पढ़ी हैं, उनमें रशियन कहा-नियोंका ही सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। अभी तक हमारे यहाँ adventure की कहानियाँ हैं ही नहीं, और जासूसी कहानियाँ भी बहुत कम हैं। जो हैं भी, वे मौलिक नहीं हैं, कैनन डॉयलकी अथवा अन्य कहानी-लेखकोंकी छायामात्र हैं। Crime detection की science का ही हमारे यहाँ विकास नहीं हुआ है।

प्रश्न—संसारका सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक कौन है ?

उत्तर—चेख़व।

प्रश्न—आपको सर्वोत्तम कहानी कौन जँची ?

उत्तर—यह बतलाना बहुत मुश्किल है। मुझे याद नहीं रहता। मैं भूल जाता हूँ। टाल्सटायकी वह कहानी, जिसमें दो यात्री तीर्थ-यात्रा पर जा रहे हैं, मुझे बहुत पसंद आई। नाम उसका याद नहीं रहा। चेख़वकी वह कहानी भी, जिसमें एक स्त्री बड़े मनोयोगपूर्वक अपनी लड़की-के लिए जिसका विवाह होनेवाला है, कपड़े सी रही है, मुझे बहुत अच्छी जँची। वही स्त्री आगे चलकर उतने ही मनोयोगपूर्वक अपनी मृत पुत्रीके

कफ़नके लिए कपड़ा सीती हुई दिखलाई गई है। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथकी 'दृष्टि-दान' नामक कहानी भी इतनी अच्छी है कि वह संसारकी अच्छी-से-अच्छी कहानियोंसे टक्कर ले सकती है।

इसपर मैंने पूछा कि 'काबुलीवाला'के विषयमें आपकी क्या राय है? प्रेमचन्दजीने कहा कि "निस्सन्देह वह अत्युत्तम कहानी है। उसकी अपील universal है, पर भारतीय स्त्रीका भाव जैसे उत्तम ढंगसे 'दृष्टि-दान'में दिखलाया गया है, वैसा अन्यन्त्र शायद ही कहीं मिले। मोपासाँकी कोई-कोई कहानी बहुत अच्छी है, पर मुश्किल यह है कि वह sex से ग्रस्त है।"

प्रेमचन्दजी टाल्सटायके उतने ही बड़े भक्त हैं, जितना मैं तुर्गनेवका। उन्होंने सिफारिश की कि टाल्सटायके 'अन्ना कैरेनिना' और 'वार ऐण्ड पीस' शीर्षक ग्रन्थ पढ़ो। पर प्रेमचन्दजीकी एक बातसे मेरे हृदयको बड़ा धक्का लगा। जब उन्होंने कहा—"Turgnev is a pigmy before Tolstoy."—टाल्सटायके मुक़ाबलेमें तुर्गनेव अन्यन्त क्षुद्र हैं, तो मेरे मनमें यह भावना उत्पन्न हुए बिना न रही कि प्रेमचन्दजी उच्चकोटिके आलोचक नहीं। संसारके श्रेष्ठ आलोचकोंकी सम्मतिमें कलाकी दृष्टिसे तुर्गनेव उन्नीसवीं शताब्दीका सर्वोत्तम कलाकार था। मैंने प्रेमचन्दजीसे यही निवेदन किया कि आप तुर्गनेवको एक बार फिर पढ़िये।

हिन्दी-गल्प-लेखकोंके विषयमें बातचीत

प्रेमचन्दजीसे सर्वश्री जयशंकरप्रसादजी, जैनेन्द्रजी, उग्रजी, चतुरसेनजी इत्यादिके विषयमें बहुत देर तक बातचीत हुई। प्रसादजीको वे उच्च-कोटिका कलाकार मानते हैं, यद्यपि उनकी भाषा प्रेमचन्दजीको पसन्द नहीं। मैंने प्रेमचन्दजीसे कहा—"उनकी बौद्धकालीन भाषाकी वजहसे ही तो मेरे हृदयमें उनके विरुद्ध धारणा पैदा हो गई है। जब वे

'कंकाल'के प्रारम्भमें लिखते हैं--"प्रतिष्ठानके खंडहरमें और गंगातटकी सिकता भूमिमें अनेक शिविर और फूसके झोंपड़े खड़े हैं।" तो मुझे 'प्रतिष्ठान' और 'सिकता' के लिए 'हिन्दी-शब्दसागर' तलाश करना पड़ता है, तब कहीं पता लगता है कि प्रतिष्ठान झूँसीका प्राचीन नाम है, और सिकताके मानी रेती हैं! उस समय ऐसी झुँझलाहटाग्नि उत्पन्न होती है कि झूँसीके झोंपड़ोंमें आग लग जानेकी आशंका हो जाती है। हमें तो शीरीज़बाँ आदमियोंकी सरल-मधुर भाषा पसन्द है, और प्रसादजीकी 'सिकता' हमारे मुँहमें करकराती है। इसपर प्रेमचन्दजीने कहा--"इसमें अपराध आपका है, प्रसादजीका नहीं।"

सौभाग्यवश प्रसादजीके दर्शन भी हो गये। उनसे मैं पहले भी दो बार मिल चुका था, पर उस समय मैं उनके विषयमें जो भावना लेकर लौटा था, इस बार उससे बिलकुल विपरीत भावना लेकर लौटा। 'आकाश-दीप' की आलोचना करते समय, जुलाई सन् १९३० के अंकमें, मैंने लिखा था कि 'उसमें ३३ फ़ीसदी शाब्दिक घटाटोप+३३ फ़ीसदी निर्जीव प्राकृतिक वर्णन+३३ फ़ीसदी कृत्रिम वार्तालाप है।' इस हिसाबसे प्रसादजीके साथ साहित्यिक समझौता करनेकी कोई गुंजाइश ही नहीं रही थी। इसलिए जब प्रेमचन्दजीने मुझसे कहा कि प्रसादजी प्रातःकाल नित्यप्रति यहीं टहलने आते हैं, आज उनके साथ ही टहलेंगे, तो मैंने यही निवेदन किया कि मेरा न चलना ही ठीक होगा, क्योंकि पारस्परिक वाद-विवादकी आशंका है। प्रेमचन्दजीने कहा--"हम लोग साहित्यिक विषयोंपर बातचीत करते ही नहीं। अन्य साधारण विषयोंपर ही वार्तालाप होता है।" इससे मुझे बहुत-कुछ सान्त्वना मिली। हम लोगोंकी बातचीत एक घंटे-भर हुई। मुख्य विषय था, दो सम्पादकोंका विवाह--एक लखनऊके और एक कलकत्तेके! पहले सज्जनके विवाहके विषयमें हिन्दी-संसार काफ़ी दिलचस्पी लेता रहा है, इस सम्बन्धमें हम लोग १०० फीसदी सहमत हो गये। किसी कविने क्या ही बढ़िया रुबाई कही है--

"सारी हिन्दीकी जमाअत हिल जाय,
पुस्तकमालाका नसीबा खुल जाय,
क़सम कुरआनकी ऐ ! लोढ़ाराम,
उनको गर ब्याहसे फ़ुरसत मिलजाय !"

रहे दूसरे सम्पादक, सो उनके विवाहके विषयमें हम लोग ६६३/४ फ़ीसदीसे अधिक सहमत न हो सके !

प्रेमचन्दजीको अपनी पुस्तकोंसे जो आमदनी होती है, उसका एक अच्छा भाग 'हंस' और 'जागरण' के घाटेमें चला जाता है। कितने ही पाठकोंका यह अनुमान होगा कि वे अपने ग्रन्थोंके कारण धनवान हो गये होंगे, पर यह धारणा सर्वथा भ्रमात्मक है। हिन्दीवालोंके लिए सचमुच यह कलंककी बात है कि उनके सर्वश्रेष्ठ कलाकारको आर्थिक संकट बना रहता है। सम्भवतः इसमें कुछ दोष प्रेमचन्दजीका भी है, जो अपनी प्रबन्धशक्तिके लिए प्रसिद्ध नहीं, और जिनके व्यक्तित्वमें वह लौह दृढ़ता भी नहीं, जो उन्हें साधारण कोटिके आदमियोंके शिकार बननेसे बचा सके। कुछ भी हो, पर हिन्दी-जनता अपने अपराधसे मुक्त नहीं हो सकती। हमें इस बातकी आशंका है कि आगे चलकर हिन्दी-साहित्यके इतिहास-लेखकको कहीं यह न लिखना पड़े—"दैवने हिन्दीवालोंको एक उत्तम-कलाकार दिया था, जिसका उचित सम्मान वे अपनी मूर्खतावश न कर सके।"

परमात्मा हम लोगोंको समय रहते सद्बुद्धि दे। प्रेमचन्दजीके सत्संगमें एक अजीब आकर्षण है। उनका घर एक निष्कपट, आडम्बर-शून्य सद्गृहस्थका घर है, और यद्यपि प्रेमचन्दजी काफी प्रगतिशील हैं—समयके साथ बराबर चल रहे हैं—फिर भी उनकी सरलता तथा विवेकशीलताने उनके गृह-जीवनके सौन्दर्यको अक्षुण्ण तथा अविचलित बनाये रखा है। उनके साथ व्यतीत हुए दो दिन जीवनके चिरस्मरणीय दिनोंमें रहेंगे।

जनवरी १९३२]

पंडित सुन्दरलालजी

बात पाँच-सात वर्ष पहलेकी है। आश्रममें दो-तीन दिन रहनेके बाद साबरमती स्टेशनसे सुन्दरलालजी बम्बई जा रहे थे। गाड़ीमें अभी देर थी, पहले एक मालगाड़ी धीरे-धीरे निकली। उसकी मन्दगतिको देखकर आपने कहा—

"मनमें आता है कि इसके नीचेसे निकल जावें। कोई मुश्किल बात नहीं है। ज़रासा टेढ़े होकर तेजीके साथ चलनेसे कोई भी फुर्तीला आदमी सटसे उधर निकल सकता है।"

मैंने कहा—"इससे फायदा? ज़बरदस्ती खतरेमें पड़नेकी ज़रूरत ही क्या है?" थोड़ी देर तक वाद-विवाद होता रहा। इतनेमें रेल आ गई और सुन्दरलालजी बम्बईको चल दिये। मैं आश्रमको लौट आया। बहुत-कुछ प्रयत्न करनेपर भी मैं उस आनन्दकी कल्पना नही कर सका, जो चलती हुई मालगाड़ीके नीचेसे 'सटसे उधर निकलने' में प्राप्त होगा! बात एक मामूली-सी है, पर इससे सुन्दरलालजीकी मनोवृत्तिपर अवश्य ही कुछ प्रकाश पड़ता है। शायद माडरेटों और एक्सट्रीमिस्टोंमें मनोवृत्तिका ही अन्तर है। जहाँ माडरेट ख़तरेमें नहीं पड़ना चाहते और 'हाथ-पाँव बचाने' और 'मूजीको टरकाने' में विश्वास करते हैं, वहाँ एक्सट्रीमिस्ट जान-बूझकर आगके साथ खेलनेमें मज़ा लेते हैं। वह कमबख़्त 'मूजी' हाथ-पाँव बचाते हुए भी 'टरक' सकता है या नहीं, यह प्रश्न ही दूसरा है।

सुन्दरलालजीको ख़तरोंमें पड़नेमें आनन्द आता है। प्रारम्भिक जीवनके विषयमें हमें विशेष पता नहीं। इतना हम अवश्य जानते हैं कि वे मुज़फ़्फ़रनगर ज़िलेके रहनेवाले हैं, और उन्होंने डी० ए० बी० कालेज लाहौरमें शिक्षा पाई थी। वहींसे शायद बी० ए० पास

किया था। सुन्दरलालजी पर लाला लाजपतरायके व्यक्तित्वका ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा था, और लालाजी सुन्दरलालजीपर विशेष स्नेह भी रखते थे। सुन्दरलालजीने लालाजीको आदर्श नेता मानकर उनका अनुकरण प्रारम्भ किया। सुन्दरलालजीकी भाषणशैली लालाजीसे बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। जिन्होंने सुन्दरलालजीके भाषण सुने हैं, वे कह सकते हैं कि उनकी ज़बानमें ग़ज़बका जादू है। सहस्रों आदमियोंकी सभाओंको प्रभावित करनेकी शक्ति उनमें विद्यमान है। क्रान्तिके दिनोंके लिए उनकी यह वाणी क्या-क्या करामात दिखला सकती है, इसका हम लोगोंमें से अधिकांश अनुमान भी नहीं कर सकते।

क़ानून पढ़नेके लिए सुन्दरलालजी प्रयाग आये थे। कालेजमें पढ़ते हुए प्रिन्सिपलसे आपकी गरम बहस हो जाया करती थी। वह आपको ख़तरनाक आदमी समझता था। ऊपरसे तो वह नाराज़ था, पर दिलमें आपके व्यक्तित्वकी धाक मानता था। राष्ट्रिय आन्दोलनमें भाग लेनेके कारण वे हिन्दू-बोर्डिंग हाउससे निकाल दिये गये। अच्छा ही हुआ। 'मिस्टर सुन्दरलाल (भटनागर या सक्सेना ?) बी० ए०, एल-एल० बी०, वकील हाईकोर्ट, इलाहाबाद' के बजाय देशको पंडित सुन्दरलालजी मिल गये।

संयुक्त-प्रान्तके जब बड़े-बड़े नेता घोर माडरेट थे, उस समय सुन्दरलालजीने वहाँ उग्र राजनैतिक विचारोंका प्रचार करना प्रारम्भ किया था। नरम नेताओंकी बेजा नरमीने आपको कितना सन्तप्त किया, इस प्रश्नपर प्रकाश डालनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं। यही कहना पर्याप्त होगा कि इन सन्तापोंने आपके विचारोंको और भी गरम कर दिया।

पाठकोंको यह सुनकर आश्चर्य होगा, पर यह बात बिलकुल ठीक है कि सुन्दरलालजी स्वर्गीय गोखलेका नाम बड़ी श्रद्धा तथा सम्मानके साथ स्मरण करते हैं। जो बातें सुन्दरलालजी उनके विषयमें सुनाते हैं, उनसे प्रतीत होता है कि स्वर्गीय गोखलेके हृदयमें क्रान्तिकारी नव-

युवकोंके प्रति कुछ कोमल भाव अवश्य थे। क्या ही अच्छा हो, यदि कोई सम्पादक महोदय सुन्दरलालजीसे उनके राजनैतिक संस्मरण लिखा सकें।

संयुक्त-प्रान्तमें उग्र राजनैतिक विचारोंके प्रारम्भिक प्रचारकोंमें आपका स्थान अत्युच्च है। सन् १९१० में आपने 'कर्मयोगी' नामक साप्ताहिक पत्र निकालकर हिन्दी पत्रकार कलामें एक प्रकारका युगान्तर-सा उपस्थित कर दिया था। हिन्दीमें अनेक साप्ताहिक पत्र निकलनेपर भी 'कर्मयोगी' के मुक़ाबलेका और उस ढंगका दूसरा साप्ताहिक पत्र आज तक नहीं निकला। तीन-चार महीनेके अन्दर ही 'कर्मयोगी' छह हज़ार तक छपने लगा था, जो उस समयके देखे एक अत्यन्त उत्साहप्रद संख्या थी। वैसे आजकल भी इतना प्रचार आसान नहीं है। 'कर्मयोगी' सरकारकी आँखोंमें खटकने लगा, और नौकरशाहीने राजद्रोहका अपराध लगाकर उसे बन्द कर दिया। हिन्दी-पत्रकार-क्षेत्रमें उत्कट देश-प्रेम, निर्भीक स्वातन्त्र्य तथा उग्र राजनैतिक विचारोंके बीज बोनेवाले यदि 'हिन्दी-प्रदीप'-सम्पादक स्वर्गीय पं० बालकृष्णजी भट्ट कहे जायें, तो इस पौधेको सींचनेवाले 'कर्मयोगी'—सम्पादक श्री सुन्दरलालजी माने जायेंगे। दोनोंका गुरु-शिष्य जैसा सम्बन्ध भी था। सुन्दरलालजीपर भट्टजीकी बड़ी कृपा थी।

सुन्दरलालजी समयपर काम करना जानते हैं और कुसमयपर चुप रहना भी जानते हैं। जब उन्होंने देखा कि वायु-मंडल उपयुक्त नहीं है और संयुक्त-प्रान्तकी जनता उनके गरम विचारोंके पीछे नहीं चल सकती तो उन्होंने अज्ञातवास स्वीकार कर लिया और सोलनकी पहाड़ीपर स्वामी सोमेश्वरानन्दके रूपमें विचरने लगे! शायद उन्हीं दिनों उन्होंने ऐडवर्ड कार्पेण्टरकी 'Civilisation, its cause and cure' नामक सुप्रसिद्ध पुस्तकका अनुवाद किया था, जो 'सभ्यताकी बीमारी और उसका इलाज' नामसे छपी।

जब श्रीमती एनी बीसेन्टने होम-रूलका आन्दोलन खड़ा किया, तो सुन्दरलालजी अपने अज्ञातवाससे फिर कार्यक्षेत्रमें आये। उस समय प्रयागकी होम-रूल लीगके द्वारा आपने अच्छा काम किया। असहयोग-आन्दोलनमें जो महत्त्वपूर्ण भाग आपने लिया, उसे हिन्दी-पत्रोंके पाठक जानते ही हैं। नवयुवकोंपर जो अद्‌भुत प्रभाव आप डाल सकते हैं, उसकी प्रशंसा महात्मा गान्धीने अपने पत्र 'यंग इण्डिया' में की थी। इस बीच आपने 'भविष्य' नामक पत्र भी निकाला था, पर वह भी सरकारकी कृपासे बन्द कर देना पड़ा। मध्यप्रदेशके झण्डा-सत्याग्रहके सूत्रधार और संचालकके रूपमें किये हुए आपके कार्यसे सर्वसाधारण परिचित ही हैं। स्वाधीनता-संग्राममें एक छोटे सिपाहीसे लेकर बड़े सेनापति तकका कार्य आप योग्यता-पूर्वक कर सकते हैं।

सुन्दरलालजी तथा अन्य राजनैतिक कार्यकर्ताओंकी मनोवृत्तिमें कुछ अन्तर अवश्य है। हमारे देशमें कितने ही लीडर ऐसे हैं, जो हर मौक़े पर––चाहे देशकी परिस्थिति उनके विचारोंके अनुकूल हो, या प्रतिकूल ––जनताके सम्मुख बने रहना चाहते हैं। सुन्दरलालजी इस नीतिके विरोधी हैं। गम्भीर उथल-पुथलके दिनोंमें ही उन्हें आनन्द आता है। स्वराज्य-पार्टीके निर्माणके विरुद्ध उन्होंने काफ़ी उद्योग किया था। कोकनाडा-कांग्रेसमें तो श्री श्यामसुन्दर चक्रवर्तीको नेता बनाकर उन्होंने स्वराज्य-पार्टीको पराजित करनेका भी प्रयत्न किया, पर इस प्रयत्नमें वे असफल हुए और उसके बाद उन्होंने चुप्पी साध ली।

भारतीय राजनीतिके क्षेत्रमें स्वराज्य-पार्टीका दौर-दौरा रहा। कौन्सिलोंमें जाकर 'दुश्मनका किला तोड़ने' की और 'भीतरसे असहयोग' करनेकी आवाज़ बुलन्द की गई। सुन्दरलालजीने कान बन्द कर लिये। एक न सुनी। बड़े-बड़े अपरिवर्तनवादी नेता कौन्सिलोंमें जाना देशके लिए विघातक मानते हुए भी स्वराजिस्टोंको वोट दिलानेकी दौड़-धूपमें शरीक हुए! कोई नगरके गण्यमान्य साथियोंके दबावको न रोक सका,

तो कोई कांग्रेसकी इज़्ज़तका ही ख़याल करके कौन्सिलमें चला गया और किसी-किसीने यह कहकर मनको समझाया कि ग्राम-संगठनका कार्य कौन्सिलों द्वारा करेंगे ! सुन्दरलालजीसे भी कहा गया कि चुनावमें स्वराजिस्टोंकी सहायताके लिए दौरा करो। आपने साफ़ इनकार कर दिया। कौन्सिलमें जाने तथा बाहर आने और फिर जानेके हास्योत्पादक नाटक होते रहे। जब कि कितने ही लीडराने-वतन 'क़ौमके ग़ममें डिनर खाते थे हुक्कामके साथ', उस समय सुन्दरलालजी ५१ नं०, चक मुहल्ला, प्रयागके एक प्राचीन कालीन मकानमें रहते हुए चरखा कातते थे, और 'भारतमें अंग्रेजी-राज्य' नामक पुस्तक लिखते थे। इस समय देशमें पुनः संग्राम छिड़ गया है। रणभेरी बज गई है, लिहाज़ा सुन्दरलालजी आज फिर कार्यक्षेत्रमें कमर कसे दिखाई पड़ते हैं—कानपुरमें होनेवाली संयुक्त-प्रान्तीय राजनैतिक कान्फ्रेन्सकी बागडोर उनके हाथमें है।

श्रीयुत सुन्दरलालजीका सबसे बड़ा गुण यही है, और व्यावहारिक राजनीतिज्ञोंकी दृष्टिमें शायद सबसे बड़ी कमज़ोरी भी यही है—कि वे समझौता करना जानते ही नहीं। अपने विरोधीका दृष्टिकोण उन्हें दीखता ही नहीं। माननीय श्रीनिवास शास्त्रीजीपर यह अपराध लगाया जाता है कि वे अपने विपक्षीके दृष्टिकोणसे उसके पक्षको देखते हैं, और इसीलिए उनके विरोधमें निर्बलता आ जाती है। सुन्दरलालजी पर यह अपराध कोई कदापि नहीं लगा सकता। विरोधी दलको छकानेमें आप कितने सिद्धहस्त हैं, इसके प्रमाण आप मध्यप्रदेशके दो-एक आनरेबुल मिनिस्टरोंसे ले सकते हैं। स्वर्गीय लालाजीने एक बार कहा था—"सुन्दरलाल, तुम कभी देशसे बाहर तो गये नहीं, पर यूरोपियन दलबन्दीके Party-Politics ढंगकी कार्रवाइयोंके तुम घर बैठे ही मास्टर बन गये हो !" किसी-किसीका यह मत है कि अपने विरोधियोंके प्रति बर्ताव करते हुए वे दलबन्दीके सभी प्रकारके दाव-पेचोंका प्रयोग करते हैं। स्वयं

राजनीतिज्ञ न होनेके कारण हम इस कथनकी सत्यता अथवा असत्यताके विषयमें कुछ नहीं कह सकते ।

सुन्दरलालजी दिमाग़के बड़े साफ़ हैं । उनकी तीक्ष्ण बुद्धि बाह्य घटाटोपोंको चीरती हुई सीधी मूलपर पहुँचती है । संयुक्त-प्रान्तके एक महत्त्वपूर्ण औद्योगिक विद्यालयकी मैंने उनके सामने बहुत प्रशंसा की । सुनते रहे, फिर बोले—"यह तो सब ठीक है, पर उक्त विद्यालयकी नींव तो अन्ध-विश्वास (Superstition)पर रखी हुई है । फिर भला वह संस्था कैसे अच्छी हो सकती है ?" मैंने बहुत तर्क-वितर्क किया, पर उनका अन्तिम जवाब यही था—"जिसके मूलमें ही ख़राबी है, उसकी तारीफ़ मैं कैसे करूँ ? समय आनेपर इस तरहकी संस्था देशका कभी साथ न देगी ।"

साम्प्रदायिक कालेजों तथा विश्व-विद्यालयोंको आप देशके लिए अत्यन्त विघातक मानते हैं, और उनकी अपेक्षा गवर्नमेन्ट कालेजोंको ही बेहतर समझते हैं ! एक बार कायस्थ पाठशालाके विद्यार्थी स्वजातीय संस्थामें कुछ भाषण देनेकी प्रार्थना करनेके लिए आपके पास गये थे । आपने साफ़ इनकार कर दिया । "हिन्दू-विश्वविद्यालयका आन्दोलन देशके लिए विघातक सिद्ध हुआ । उससे सार्वजनिक शिक्षाकी धारा जिसे स्व० गोखले साधारण जनताकी ओर ले जाना चाहते थे, उल्टी हानिकारक दिशामें चली गई"—इत्यादि तर्क आप सुन्दरलालजीसे सुन सकते हैं । साम्प्रदायिकताके आप कट्टर दुश्मन हैं, और उसकी नींवपर खड़े सुन्दर-से-सुन्दर विशाल भवनको आप भयंकर मानते हैं ।

हरएक आदमीकी एक-न-एक ख़ास कमज़ोरी होती है । या यों कहिये कि जिस वस्तुसे जिसे अत्यधिक ममता हो, वही उसकी कमज़ोरी है । चरखा महात्माजीकी कमज़ोरी है, हिन्दू-विश्वविद्यालय पूज्य मालवीयजीकी कमज़ोरी है और 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' श्रीयुत सुन्दरलालजीकी ज़बर्दस्त कमज़ोरी है। कितने ही लोगोंका ऐसा कथन है कि मुसलमानोंके

प्रति उनका काफ़ी पक्षपात है। उनके कोई-कोई विरोधी तो यहाँ तक कहते हैं—"सुन्दरलालजीका सारा ऐतिहासिक ज्ञान इसी दोषके रंगसे रंजित हो गया है।" इसका जवाब वे यही देते हैं—"जो इतिहास आजकल पाये जाते हैं, वे ऐसे महानुभावोंके लिखे हुए हैं, जिनका स्वार्थ हिन्दू और मुसलमानोंमें विभिन्नता पैदा करनेमें था। अब राष्ट्रिय इतिहास दूसरी दृष्टिसे लिखे जाने चाहिए।"

इतिहास-शास्त्रके विशेषज्ञ न होनेसे इस प्रश्नपर अपनी सम्मति देनेमें हम असमर्थ हैं। मामूली पाठककी हैसियतसे इतना ज़रूर कह सकते हैं कि मुस्लिम संस्कृतिकी प्रशंसामें सुन्दरलालजी दक्षिणी ध्रुव तक जाते हैं, तो उसकी निन्दामें भाई परमानन्दजी उत्तरी ध्रुव तक। सत्य शायद इन दोनों स्थानोंके बीचोंबीच है।

देशमें तरह-तरहके 'क्रान्तिकारी' हैं। कोई राजनैतिक मामलोंमें घोर क्रान्तिका कट्टर समर्थक है, तो कोई सामाजिक मामलोंमें 'गौड़ ब्राह्मणोंकी रोटी' से आगे नहीं बढ़ पाया। हिन्दू-मुस्लिम एकतापर धारा-प्रवाह व्याख्यान देनेवाले कितने ही क्रान्तिकारी नेता मुसलमानके हाथका छुआ पानी तक नहीं पी सकते। सुन्दरलालजीको इस तरहके ढोंगोंसे घोर घृणा है। खुदा न ख़्वास्ता कहीं सुन्दरलालजी किसी रेलवेके डिवीज़नल सुपरिण्टेण्डेण्ट बना दिये जायें, तो दूसरे दिन ही रेलवे स्टेशनों पर निम्न-लिखित फरमान चिपका हुआ दीख पड़ेगा—

"यात्रियोंको आगाह किया जाता है कि पहली मईसे तमाम स्टेशनोंपर बिला किसी ज़ात-पांत भेदके इंडियन पानीका इन्तजाम किया जायगा। 'हिन्दू-पानी' और 'मुस्लिम-पानी' का प्रबन्ध तोड़ दिया जायगा। जो मुसाफ़िर इसे नापसन्द करें, वे या तो रेलका सफर करना छोड़ दें, या फिर घरसे पानीका इन्तज़ाम करके बैठें।"

सुन्दरलालजी किस धर्मके अनुयायी हैं और उनके धार्मिक विश्वास क्या हैं, संक्षेपमें यह बतलाना कठिन है। राष्ट्रियता ही उनका धर्म है,

इतना कहनेसे काम नहीं चल सकता। एक बात हम अच्छी तरह जानते हैं, वह यह कि मध्यकालीन सन्त लोगोंकी वाणियोंका सुन्दरलालजीपर ज़बरर्दस्त प्रभाव पड़ा है। कबीरके तो वे अनन्य भक्त हैं।

"हिन्दू कहें राम मोहि प्यारा, तुरक कहें रहिमाना;
आपसमें दोउ लरि-लरि मूए, भेद न काहू जाना।"

कबीरकी यह उक्ति आपको बहुत पसन्द है। अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'भारतमें अंग्रेजी राज्य' उन्होंने कबीरको ही सर्मपित की थी। आपका यह विश्वास है कि आगे चलकर कबीर आदि सन्त कवियोंके विचार भारतमें अधिकाधिक लोक-प्रिय होंगे। ये सन्त कवि शब्दाडम्बर-हीन भाषामें जो कुछ कहते है, वह सीधा जनताके हृदय तक पहुँच जाता है।

सुन्दरलालजी मामूली जनताकी मनोवृत्ति को समझनेवाले नेता हैं। मध्यप्रदेशके किसी ग्रामका कोई अशिक्षित नवयुवक आपको अपनी पैदल यात्रामें कहीं मिला। वह सत्याग्रहमें एक बार जेल हो आया था, जिसके कारण उसके गाड़ी-बैल बिक चुके थे। सुन्दर-लालजीने उससे पूछा—"क्यों भाई, अबकी बार फिर मौक़ा आवे, तो जेल जाओगे ?" उसने तुरन्त ही कहा—"हओ।" उसकी वह 'हओ' सुन्दरलालजी अब तक नहीं भूले। सच्चे क्रान्तिकारियोंकी तरह सुन्दर-लालजीका भी यही विश्वास है कि साधारण जनता तक स्वाधीनताका सन्देश पहुँचाये बिना स्वराज्य नही मिल सकता। सुन्दरलालजी सहृदय हैं। अपने साथी कार्यकर्ताओंके प्रति उनका बन्धुभाव प्रसिद्ध है। यदि उनके पास चार पैसे हों और चार साथी, तो पैसे-पैसेके चने आपसमें बाँटकर वे आनन्दसे काम कर सकते हैं।

जीवनका लक्ष्य

कोरमकोर राजनैतिक स्वाधीनतासे सुन्दरलालजी सन्तुष्ट नहीं

हो सकते। वे इससे कुछ अधिक चाहते हैं। आजसे साढ़े पाँच वर्ष पहले उन्होंने अपने एक पत्रमें मुझे लिखा था––

"...'अभी समय नहीं आया' की आवाज़ तो संसारके हर सुधारके विषयमें हमेशा उठती ही रहेगी, किन्तु मेरे दिलमें तो यह बात अधिकाधिक जमती ही जा रही है कि So-called 'धार्मिक' परम्पराओं और धार्मिक आडम्बरपर हमला करनेकी भारतमें यदि कभी आवश्यकता थी, तो अब है, और यदि कभी उसका समय था, तो वह यह है! 'असत्यकी दीवारें' कभी भी मज़बूत नहीं हो सकतीं और सत्यके कुदालके सामने हरगिज़ देर तक नहीं ठहर सकतीं। यदि भारतको जीना है, तो सहभोज और अन्तर्जातीय विवाह (Inter-marriage) दोनों ज़रूरी हैं, और जितनी जल्दी हम इस सच्चाईको जनताके कानोंतक पहुँचा दें, उतना ही अच्छा है। मैं यह भी जानता हूँ कि Spade को Spade कहनेवालोंकी क़िस्मतमें सदासे Martyrdom शहादत बदी रही है, किन्तु इसकी मुझे परवाह क्या? इसे तो मेरे-जैसे सदासे मनुष्य-जीवनका सर्वोच्च गौरव ही मानते आये हैं। मेरा नशा अभी तो गहरा ही होता जा रहा है, आगेकी कौन जाने! यदि जीता रहा और काम करनेकी शक्ति रही, तो वही आज़ादी एक आज़ादीकी रट, राजनैतिक आज़ादी, धार्मिक आज़ादी, सामाजिक आज़ादी, रूढ़ियों और परम्पराओंसे आज़ादी––मेरे लिए तो देशके उद्धार और अपने जीवन-कर्तव्यका यही एक भाग है। अहिंसा और असहयोग दोनोंका मैं पूरा कायल ज़रूर हूँ, किन्तु मेरे लिए साधन साधन है, ध्येय ध्येय है।"

सुन्दरलालजीका भविष्य क्या होगा, यह बतलाना कठिन है। दिल्ली-की पार्लमेण्ट रोडपर मोटरकारमें जाते हुए मि० सुन्दरलाल एम० एल० ए० की कल्पना हमारे दिमाग़में नहीं आती। कण्टकाकीर्ण पथपर चलने-के अभ्यस्त कठोर चरणोंको वह कोमल मार्ग शायद ही पसन्द आवे। 'डोमिनियन स्टेट्स' हो जानेपर वे पूर्ण-स्वाधीनताके पक्षमें लड़ेंगे, और

पूर्ण-स्वाधीनता हो जानेपर धार्मिक परम्पराओं और आडम्बरोंके विरुद्ध। ग़रज़ यह कि लड़ते ही रहेंगे, लड़नेवालोंमें सदा आगे ही रहेंगे। एक बार न जाने किस विषयपर वार्तालाप हो रहा था। सुन्दरलालजीने कहा — "मुझे तो वह बात अच्छी लगती है। एक आदमी डूब रहा है। हम उधरसे जा रहे हैं। तैरना जानते हैं। कूद पड़े, निकाल दिया और बिना परिचय या बातचीतके चलते बने।" जब हमारे देशके कितने ही नवयुवक नेता स्वाधीनता-संग्राममें विजयी होकर देशके शासक होनेका सौभाग्य-पूर्ण अवसर प्राप्त करेंगे—यह स्वाभाविक है और उचित भी—उस समय भी सुन्दरलालजी किसी-न-किसी क्रान्तिकारी लड़ाईमें व्यस्त होंगे और अपनेसे लड़ना, विदेशियोंसे लड़नेकी अपेक्षा कठिनतर होगा। सुन्दरलालजी सन्तुष्ट होकर बैठ रहनेवाले जीव नहीं हैं। संक्षेपमें यदि उनका परिचय दिया जाय, तो हम इतना कह सकते हैं कि 'सुन्दरलालजी बिना किसी लगालेसके ख़ालिस क्रान्तिकारी हैं।'

अप्रैल १९३०]

श्री सम्पूर्णानन्दजी

कोई ३५ वर्ष पहलेकी बात है। इन्दौरके राजकुमार-कालेजमें एक नवीन अध्यापक आनेवाले थे! उनका नाम कुछ अटपटा-सा था और किसी भी अध्यापकको उनके विषयमें कुछ भी ज्ञात न था। एकने कहा "ये महाशय शायद मदरासी होंगे" दूसरेने कहा "नाम तो कुछ संन्यासियों जैसा है!" प्रत्येक अध्यापकने अपना-अपना अन्दाज़ भिड़ाया। जब मेरा नम्बर आया तो मैंने कहा "श्री लक्ष्मणनारायणजी गर्दे द्वारा सम्पादित 'नवनीत' नामक पत्रमें मैंने इसी नामके एक सज्जनकी कविता देखी थी, जो मेरी एक चिट्ठीके पास छपी थी। हों-न-हों ये सम्पूर्णानन्दजी वही सज्जन हैं।" किसी भी विद्यालयमें एक नवीन सहयोगीका आगमन एक महत्त्वपूर्ण घटना होती है, इसलिए हम सबकी उत्सुकता सर्वथा स्वाभाविक थी। तलाश करके 'नवनीत' फाल्गुण संवत् १९७१का अंक लाया गया। उसमें सम्पूर्णानन्दजीके नामसे दो कविताएँ निकलीं।

"देशभक्तका देहावसान!

हा विधि! क्या सुनाई आज!
देश भारत परम आरत, दुखी दीन समाज।
गोखलेकी मृत्युसे गइ डूब राष्ट्र जहाज़॥
स्वार्थ त्यागि अनन्य कीन्हों जातिके हित काज।
ईश संग सम्पूर्ण आनन्द पाइ करहिं स्वराज॥

सम्पूर्णानन्द बी० एस-सी०

ता० १९ फ़रवरी १९१५ ई०

भक्त की विनय

श्रीयुक्त महाशय सम्पूर्णानन्द बी० एस-सी०

प्रभु तुम दीननके हितकारी !

अशरण शरण अबल बल अविचल, आर्त्त · दुःख संहारी ।।
तव प्रसाद लहि रङ्क राव गति, पावत वेद पुकारी ।
कृपा कटाक्ष करिय भारतपर, निज स्वभाव अनुसारी ।।
निज प्राचीन लहहि पद पुनि यह, होहि धर्मपथ चारी ।
सम्पूर्णानन्द गति यहि दीजै, एती विनय हमारी ।"

इन पद्योंसे इतना पता तो लग ही गया था कि आगन्तुक महाशय कोई हिन्दी-प्रेमी देशभक्त सज्जन हैं । चूँकि मैं उस विद्यालयमें हिन्दी शिक्षक था इसलिए मेरे लिए यह और भी हर्षकी बात थी । राजकुमार-कालेजके कामन रूममें एक खानेदार अलमारी थी, जिसमें एक-एक खाना प्रत्येक अध्यापकने ले रक्खा था और उसपर अपने नामका पर्चा लगा दिया था । मैंने एक होशियारी की । सम्पूर्णानन्दजीका नाम अपने हाथसे लिखकर एक खाना उनके लिए रिजर्व कर दिया । जब वे महाशय पहले ही दिन वहाँ पधारे तो अपना नाम लिखा हुआ देखकर उन्हें कुछ आश्चर्य अवश्य हुआ । जब परिचय हुआ तो मैंने उनसे कहा "आपकी कीर्त्ति आपके आगमनके पूर्व ही यहाँ पहुँच चुकी है !"

उन्होंने जो उत्तर दिया, उसे हमारे कई साथी समझ ही नहीं सके । एक अध्यापकने हमसे बादको पूछा "ये हिन्दी बोल रहे थे या अंग्रेजी ?" बात यह थी कि सम्पूर्णानन्दजी इतनी जल्दी-जल्दी बोलते थे कि उनके शब्दोंको विधिवत् समझना कठिन हो जाता था !

डेली कालेज [यही उस विद्यालयका नाम था] में सम्पूर्णानन्दजीके साथ जो ढाई वर्ष व्यतीत हुए उन दिनोंकी अनेक मधुर स्मृतियाँ हैं । हम दोनों ही साहित्य-प्रेमी थे और कभी-कभी तो बातें करते हुए रातके बारह

भी बज जाते थे ! उन दिनों भी वे बड़े अध्ययनशील थे और कालेजमें ही नहीं, इन्दौरकी पढ़ी-लिखी जनतामें भी उनकी धाक जम गई थी। भौतिक-विज्ञान तथा गणित लेकर उन्होंने बी० एस-सी० परीक्षा पास की थी। शिक्षकका व्यवसाय करनेके लिए एल० टी० हुए थे। हमारे विद्यालयमें प्रकृति-पाठ यानी नेचर स्टडी पढ़ाते थे। देशी राज्योंके प्रश्नोंका आपने अच्छा खासा अध्ययन कर लिया था, और उर्दू तथा संस्कृत दोनोंमें भी आपकी अच्छी गति थी। कामको जल्दी निपटाना और दीर्घसूत्रताको फटकने न देना, ये गुण आपमें उन दिनोंमें भी अच्छी मात्रामें विद्यमान थे। जब इन्दौरमें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनका अधिवेशन महात्मा गान्धीजीके सभापतित्वमें होनेवाला था, सम्पूर्णानन्दजी साहित्य विभागके सभापति बने और मैं था उनका मन्त्री। इस प्रकार उनके शासनमें ९,१० महीने काम करना पड़ा। उन दिनों सम्मेलनके अवसरपर लेख-माला प्रकाशित करनेकी एक अच्छी प्रथा थी। लेख मैंने मँगा लिये थे, पर उनका सम्पादन करना था और यह काम मेरे-जैसे प्रमादी व्यक्तिके लिए आसान न था। जब सभापति महोदयने मुझसे जवाब तलब किया तो मैंने सब लेख उन्हींके सामने पटक दिये और कहा "मेरे पास इतना अवकाश कहाँ है, जो यह काम करूँ ? मुझे दो-तीन घंटेके लिए रोज़ तुकोगंज मध्यभारत-साहित्य-समितिमें जाना पड़ता है और आप घरपर बैठे रहते हैं। आप ही सम्पादन कीजिए।" सम्पूर्णानन्दजीने ५,७ दिनमें ही लेखोंका सम्पादन कर दिया और इस प्रकार मेरी जान बची। मुझसे वह काम बीस-पच्चीस दिनमें भी न होता !

राजनीतिके कीटाणु

एक दिन कोई कबाड़िया पुरानी किताबोंका गट्ठा लेकर आ गया और अपने स्वभावानुसार सम्पूर्णानन्दजीने उससे कई किताबें ख़रीद लीं। उनमें एक थी (Military Tactics) फ़ौजी चालोंपर, और वह

उन्हें ६ पैसेमें ही मिल गई थी ! मुझे इस बातसे अवश्य ही आश्चर्य हुआ और उसी दिन मैंने समझ लिया कि महानुभाव शुद्ध साहित्यिक नहीं रह सकेंगे ! लार्ड मेकालेने एक जगह लिखा था कि यदि किसीके सम्मुख दोनों मार्ग खुले हैं—राजनीतिका और साहित्यका और वह साहित्यके मार्गको छोड़कर राजनैतिक मार्ग ग्रहण करे तो वह भयंकर भूल करेगा। राजनैतिक कीटाणुओंने सम्पूर्णानन्दजीके मस्तिष्कपर कब आक्रमण किया, यह मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता, पर वह फ़ौजी किताब, उस बीमारीका एक प्रारम्भिक लक्षण ज़रूर थी। आगे चलकर जब पंडित मोतीलालजी नेहरूने स्कीन कमैटीमें उन्हें अपना सेक्रेट्री बनाया था, उस समय सम्पूर्णानन्दजीकी फ़ौजी मामलोंकी अभिरुचि अवश्य ही सार्थक हुई होगी, पर तत्कालीन साथी अध्यापकोंके लिए तो वह पागलपन ही था। कामन रूममें कभी किसी विषयकी तो कभी किसी विषयकी किताब उनके पास सदा ही रहती थी। उन दिनों मेरी करेलीके उपन्यास और ईहा Eh:. के ग्रन्थ उन्हें विशेष प्रिय थे, इतना मुझे अब भी स्मरण है। हास्यरसके वे तब भी प्रेमी थे, यद्यपि उनका हास्य गम्भीरताकी सीमाका उल्लंघन कभी न करता था। मौसमके फल खानेका उन्हें शौक़ था और चूंकि उनका वेतन मुझसे तिगुना था, इसलिए वे अपने साथ मुझे भी प्रायः शामिल कर लेते थे। सम्पूर्णानन्दजी सनातनधर्मी थे और ब्राह्मणोंके प्रति उनके हृदयमें बड़ी श्रद्धा थी और मैं था आर्य्य-समाजी विचारोंका। फिर भी उनकी श्रद्धाका लाभ उठानेमें मैंने कभी संकोच नहीं किया ! आगे चलकर सम्पूर्णानन्दजीको अपने राजनैतिक जीवनमें जो सफलता मिली है, उसमें किसी चतुर्वेदी ब्राह्मणको फल खिलानेका पुण्य अवश्य ही सहायक हुआ होगा !

एक बार सम्पूर्णानन्दजीसे मैंने कहा "आज रातभर नींद नहीं आई। पिस्सुओंने बहुत तंग किया।" मालवामें पिस्सुओंके मारे नाकों दम रहता है। सम्पूर्णानन्दजीने इस पिस्सूवाली घटनापर एक कविता ही रच

डाली और कामन रूममें अन्य अध्यापकोंके सामने सुना भी दी ! उसका अन्तिम पद था "पीयकी देह खुजावति कामिनि, भामिनिकी पिय देह खुंजावै" । बहुत दिनों तक इस "पिस्सू माहात्म्य"की चर्चा रही !

जब सम्पूर्णानन्दजी डूँगर कालेज बीकानेरके प्रधानाध्यापक नियुक्त होकर जाने लगे तो हम सबको बहुत खेद हुआ और विशेषतः वहाँके साहित्य-प्रेमियोंको । साहित्यिक छेड़छाड़ ही ख़तम हो गई ! उसका एक उदाहरण हमें ख़ास तौरपर याद आ रहा है । उन दिनों हमने एक पुस्तक प्रारम्भ की थी जिसका नाम था "चतुर्वेदियोंकी हीन दशापर एक दृष्टि" । उस पुस्तककी रूपरेखा मैंने एक नोट-बुकमें दर्ज कर ली थी । एक दिन अपना क्लास पढ़ाके लौटा तो क्या देखता हूँ कि उक्त नोट-बुकमें ऊपर एक कविता लिखी हुई है । उस नोट-बुकका पन्ना अब भी मेरे पास सुरक्षित है । पद्य संस्कृतमें थे ।

"वर्षान्ते तु यथा दंशाः ग्रीष्मादौ हिमराशयः ।
चतुर्वेद्याख्याः भूदेवाः प्रणश्यन्ति कलौ युगे ॥
त्यक्तधर्मा गता दैन्यं, कालिन्दीकूलसेविनः ।
कच्छवच्चाश्रुतिज्ञास्ते, मल्लकर्म्मविशारदाः ॥
वयःप्राप्तस्वकन्यानाम्, प्रतिदानकराः खलु ।
छिन्नाभ्रस्य गतिस्तेषाम्, आर्य्यधर्म्ममहद्विषाम् ॥
इति भविष्यत्खण्डे"

अर्थात् "जिस प्रकार वर्षाके अन्तमें डाँस इत्यादि नष्ट हो जाते हैं और गर्मीके प्रारम्भमें बर्फ़, उसी प्रकार चतुर्वेदी नामक ब्राह्मण कलियुगमें नष्ट हो जायेंगे । ये लोग अपने धर्मको छोड़कर दीनताको प्राप्त हो चुके हैं, जमना किनारे पड़े रहना इनका काम है और वेदके विषयमें इन्हें उतना ही ज्ञान है जितना कछुओंको । कुश्ती लड़नेमें ये कुशल हैं । अपनी बड़ी उम्रकी लड़कियोंकी सगाई ये बदलेसे करते हैं । आर्य्य-धर्म्मके

महान् द्वेषी इन चतुर्वेदियोंकी वही गति होगी जो तितर-बितर हो जानेवाले बादलोंकी होती है।"

—भविष्यपुराण

इस कवितासे भी बड़ी दिल्लगी रही। अध्यापक मंडलीने इसे खूब पसन्द किया। उन दिनों मैं 'विद्यार्थी' नामक पत्रके लिए कभी-कभी सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिख दिया करता था। एक दिन मुसलमान अध्यापक बन्धुने पूछा "यह क्या कर रहे हो ?" मैंने कहा "टिप्पणी लिख रहा हूँ"। उसने अन्य अध्यापकोंसे पूछा "ये टिप्पणी क्या बला हैं ?" सम्पूर्णानन्दजीने कहा "ये खुद ही टिप्पणी हैं"। बस उस दिनसे हमारा नाम ही टिप्पणी पड़ गया ! और सम्पूर्णानन्दजी बहुत वर्षों तक अपने पत्रोंमें इसी शब्दका प्रयोग करते रहे।

जब मैंने डेली कालेजसे इस्तीफ़ा दिया, सम्पूर्णानन्दजी उस समय बीकानेरमें डूँगर कालेजके प्रिंसिपल थे। उन्होंने उस समय जो पत्र लिखा था वह अब भी मेरे पास सुरक्षित है और वह उनकी तत्कालीन मनोवृत्तिका सूचक है—

"हरि ॐ

बीकानेर

कार्त्तिक कृ० ९, ७७

"प्रियवर टिप्पणीजी,

The inevitable has happened मैं जानता था कि आप एक दिन ऐसा किये बिना न मानेंगे। अनुमान ठीक निकला। यह देशका सौभाग्य है। आगे चलकर Journalism आपको कोटिपति बना दे, आप सर्वोच्च पद और प्रतिष्ठा प्राप्त कर लें, पर इस समय तो आपकी प्रत्यक्ष हानि है। इसीका नाम त्याग है और देशको त्यागियोंकी ही आवश्यकता है। हम टुकड़ोंके ग़ुलाम एकाध लेख या पुस्तक लिखकर, वह भी डरके मारे चिकनी चुपड़ी बातोंसे मिश्रित, अपनेको कृतकृत्य

मानते हैं, पर आप अब स्वतन्त्र हैं। बधाई है। भगवान् आपका कल्याण करें और आपको अपने सभी सदुद्देश्योंमें आशातीत सफलता प्राप्त हो।

आपके घरके लोग कहाँ हैं? आपने Journalism द्वारा निर्वाह की Practical सूरत क्या सोची है? क्षमा करियेगा मेरे प्रश्न स्पष्ट हैं, पर मुझे विश्वास है कि आप मुझसे रुष्ट न होंगे। इस समय काम कैसे चल रहा है? आप बोलपुरमें क्या कर रहे हैं? इत्यादि बड़े रोचक प्रश्न हैं। किसी प्रकार समय निकालकर उत्तर दीजिये। 'शाहाँ चे अजब गर बें नवाज़न्द गदा रा'। कभी-कभी हम गुलामोंको भी याद किया कीजिये!

इस Non-cooperation movement विशेषत: Withdrawl of students के विषयमें आपकी क्या सम्मति है? और जो कोई रोचक बात हो सो लिखियेगा। मेरी समझमें जो लोग आपके Sex के विषयमें भूल करते हैं उनकी भूल न्याय्य है। 'हृदय'का ज़ोर स्त्रियोंमें ही अधिक होता है। यदि आप एक भारतीय मस्तिष्क होते तो और बात थी। अस्तु, दुर्गा, काली, कालिका, चण्डी, चामुण्डा, शीतला आदि सब स्त्रियाँ ही थीं।

आपका

"आनन्द"

और पत्रके ऊपर लिखा था 'श्रीमती भारतीय हृदय' और यही अंग्रेज़ीमें भी!

बात यह थी कि उन दिनों 'एक भारतीय हृदय' उपनामसे मैं लिखा करता था। एक बात और। श्री सम्पूर्णानन्दजीने उपर्युक्त पत्रमें 'त्याग'-का जो इलज़ाम मुझपर लगाया था, वह सर्वथा निराधार था। हाँ, स्वयं वे उन दिनों अपनी तत्कालीन परिस्थितिसे कितने असन्तुष्ट थे, यह बात उक्त पत्रसे अवश्य प्रकट होती है। इसके थोड़े दिनों बाद उन्होंने अपने पदसे त्यागपत्र दे ही दिया।

उत्कट साधना

सन् १९२१से सम्पूर्णानन्दजीकी साधनाका युग प्रारम्भ हुआ और वह अभी तक चल रहा है। सम्पूर्णानन्दजी अपने बारेमें लिखना या बोलना नापसन्द करते हैं, इसलिए सर्वसाधारणको उनकी कठिनाइयोंका पता ही नहीं लग पाता। उनके राजनैतिक विरोधी तो उनकी मानसिक परिस्थितिका अनुमान कर ही क्या सकते हैं, स्वयं उनके घनिष्ठ मित्र भी उन संकटोंका अन्दाज़ नहीं लगा सकते, जिनमेंसे सम्पूर्णानन्दजीको गुज़रना पड़ा है। इस बीचमें कितने ही बार उनके साथ रहनेका अवसर मुझे मिला है, पर अपनी परिस्थितिके विषयमें एक शब्द भी उन्होंने कभी नहीं कहा। "दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः" शब्द उनपर लागू होता है।

दो दिन

सम्पूर्णानन्दजीके साथ बिताये हुए दो दिन मुझे ख़ास तौरसे याद हैं। जालिपादेवी मुहल्लेमें उन्हींके घरपर ठहरा हुआ था। सवेरे पाँच बजे सोकर उठा ही था कि बैठकके किवाड़ खोलते ही एक सज्जन घुस आये और बोले "आप मुझे पहचानते हैं? मैं आपका पुराना Class fellow हूँ—I am an old class fellow" ये महाशय दोनों भाषाएँ साथ-साथ बोलते जाते थे! मैंने कहा "मैंने तो आपको नहीं पहचाना। इस वक़्त अँधेरेमें चेहरा भी आपका ठीक तरह नहीं दीखता। आप किसको चाहते हैं?" उन्होंने कहा "मिस्टर सम्पूर्णानन्दको।" मैंने कहा "वे अभी आते होंगे"। इसके बाद उन महाशयने अपना जीवन-चरित मुझे सुनाया। सी० आई० डी०की पुलिसमें कलकत्तेमें नौकर थे। वेतन १७½ रुपये और २५ रुपयेके बीचमें था, पर कोकेनवालोंसे और वेश्यालयोंसे ८-९ रुपया रोज़ मिल जाते थे। कई हज़ार रुपये इकट्ठे किये, फिर रेलमें गार्ड हुए और भत्ता मिलाकर १५० रुपया मासिक तक पहुँचे। आजकल ज़मींदारीके लिए मुक़द्दमेबाज़ी कर रहे हैं और सम्पूर्णानन्दजीसे

वकीलके लिए चिट्ठी लिखाने आये थे। सबेरे चार बजेसे ही दरवाज़ेपर बैठे हुए थे, किवाड़ खुलते ही भीतर आये। उन्होंने पता लगा लिया था कि प्रातःकालमें ही सम्पूर्णानन्दजी विद्यापीठ चले जाते हैं। इसलिए सवेरे चार बजेसे ही उन्हें घेरनेका इरादा कर लिया था! इसके बाद आप बोले :—The one thing I value in life is Satsang and fortunately I got a good deal of it. अर्थात् "जीवनमें यदि कोई मूल्यवान् वस्तु है तो सत्संग और सौभाग्यसे यह मुझे ख़ूब प्राप्त हुआ है।"

सम्पूर्णानन्दजीका दैनिक कार्यक्रम अपने इन सुसंस्कृत सत्संगी पुराने क्लासफ़ैलोसे प्रारम्भ हुआ। शायद आध घण्टेसे अधिक उन्होंने बर्बाद कर दिया। रातके दस बजे तक यही क्रम रहा। शामको उन्हें बुख़ार आ गया। एक महाशय मिलनेके लिए आये। मैंने कहा "उन्हें बुख़ार आ गया है, आप अपनी बात कह दीजिये, मैं उन तक पहुँचा दूँगा।" वे भला क्यों माननेवाले थे! अड़ गये। सम्पूर्णानन्दजीको आना पड़ा और पूरे डेढ घण्टे दिमाग़पच्ची करना पड़ा। वे बाहर पधारे ही थे कि महाशय चौधरी भरोस डोम M.L.C. आ डटे। और उन्होंने सिंहासन बत्तीसीके ऐसे तर्क सुनाये कि मेरे लिए हँसी रोकना असम्भव हो गया। सम्पूर्णानन्दजी पौन घण्टे तक उनकी हाँ-में-हाँ मिलाते रहे। उनके इस असाधारण संयमको देखकर हमें आश्चर्य हुआ। प्रातःकालमें श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय तथा डाक्टर हार्डिकर पधारे और व्याख्यानके प्रबन्धके लिए अनुरोध किया। कमिश्नरीके स्वयं-सेवक-संघका अधिवेशन काशीमें ही हो रहा था और उसके लिए कमसरियटका प्रबन्ध भी करना पड़ा! यह भी ख़बर आई हुई थी—पं० जवाहरलालजी द्वारा प्रयागसे, कि अगले दिन वहाँ पहुँचना है। बावजूद बुख़ारके सारा कार्यक्रम उन्हें पूरा करना पड़ा।

जब सम्पूर्णानन्दजी म्युनिसिपल बोर्डके मेम्बर थे और क्रमशः स्वास्थ्य,

चुंगी तथा शिक्षा-विभाग आपके अधीन थे, उन दिनों मामूली इक्केवालोंने भी अपनी अर्ज़ी उन्हीसे लिखानेकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली थी ! कितनी ही बार ऐसा हुआ कि परस्पर विरोधी व्यक्ति हिन्दू और मुसलमान अपनी-अपनी अर्ज़ियाँ उन्हीसे लिखा ले गये ! एक बार इतने बीमार हो गये कि किसीसे भी बोलने चालनेकी सख़्त मनाई कर दी गई। छतपर धीमे-धीमे टहल रहे थे कि दूसरी छतपरसे आवाज़ आई "क्यों साहब ! आप तो भले चंगे टहल रहे हैं, और हमारी अर्ज़ी लिखनेसे इन्कार कर दिया !"

एक बार आप तीन हज़ार रुपये लेकर ज़ेवर-बर्तन इत्यादि ख़रीदने बाज़ार गये हुए थे। छोटे भाई परिपूर्णानन्दजीकी शादी थी। एक परिचित महानुभावने पान खिला दिया। बेहोश हो गये और वे महाशय तीन हज़ार रुपयेके नोट लेकर चम्पत हुए। पुलिसमें शिकायत भी न की। अत्यधिक परिश्रमसे मस्तिष्क तो वैसे ही जवाब दे रहा था, इस दुर्घटनासे उन्माद-जैसी स्थिति आ पहुँची। बेहोशीके दौरे होने लगे। दौरेमें जो कोई मिलने जाता उसे कभी विज्ञानके ऊँचे सिद्धान्त बतलाते तो कभी योगकी बातें ! और ऐसे-ऐसे जिज्ञासु इधर-उधर रहते थे कि बिना इस बातका ख़याल किये कि इन भलेमानसकी क्या मानसिक स्थिति है, उन बातोंको सुनने पहुँच जाते थे ! उस समय सोनेसे ही उनके मस्तिष्कको शान्ति मिलती थी। तब उन्हें डाँट-फटकार कर सुलाया जाता था।

इन शारीरिक कष्टोंको तो उनका प्रबल मस्तिष्क सहन कर ही गया पर जो गार्हस्थिक दुर्घटनाएँ उनके जीवनमें आई हैं, उनको सहन कर लेना किसी महान् तपस्वीका ही काम था। इतनी बार सम्पूर्णानन्दजीसे मुलाक़ात हुई है, घण्टों बातचीत हुई है पर अपनी इन दुर्घटनाओंके विषयमें एक शब्द भी उनसे सुननेको नहीं मिला !

बहुत वर्ष पहलेकी बात है—शायद १९१६-१७ की। मैं उनके पास ठहरा हुआ था। गंगा-स्नानमें मुझे कोई विशेष श्रद्धा नहीं थी, पर सम्पूर्णानन्दजी अपने ब्राह्मण-अतिथिको इस पुण्यसे वंचित नहीं करना चाहते

थे। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्रसे कहा "जाओ चौबेजीको स्नान करा लाओ"। वह लड़का उन दिनों नवें दर्जेमें पढ़ता था और बहुत ही होशियार था। मार्गमें बातचीत करनेपर उसकी असाधारण बुद्धिका पता लगा। कुछ महीनों बाद ख़बर मिली कि उसका देहान्त हो गया! मातम-पुर्सीके लिए आनेवालोंको वे उल्टा समझाते थे, और सुना है कि उन्होंने अपने उस दिनके सार्वजनिक कार्यमें भी कोई बाधा न आने दी थी! युवक दामाद, युवती कन्या, चार बहनें, युवा पुत्र, स्त्री आदि कितने ही आत्मीयोके देहावसानके दिनोंमें उन्होंने कभी भी धैर्य नही खोया!

जो लोग सम्पूर्णानन्दजीको निकटसे जानते है वे कह सकते है कि वे उस उच्च मानसिक तथा आध्यात्मिक धरातलपर रहनेवाले व्यक्ति है, जहाॅ क्षुद्र स्वार्थ और भोगविलास पहुंच ही नही सकते। उन्होंने कभी कोई सम्पत्ति इकट्ठी नही की। उनका घर बहुत ही मामूली-सा रहा है। अब तो उसमे कुछ सुधार भी हो गया है, पर पहले जब उनके यहाॅ अनेक बार ठहरनेका मौक़ा मिला तो मैने एक मज़ाक़ बना लिया था। मै कहता था "बस स्वराज्य हो जानेपर मुझे एक ही काम करना है। सम्पूर्णानन्दजीका घर गिरवा देना है--इसका Sanitary प्रबन्ध बहुत ही ख़राब है!" दैव दुर्विपाकसे बिहारके भूकम्पके दिनोंमें सम्पूर्णानन्दजीके मकानका भी एक हिस्सा गिर गया! उस समय भाई अन्नपूर्णानन्दजीने लिखा था "आपका आशीर्वाद फल गया!"

सम्पूर्णानन्दजी घोरतम आर्थिक कठिनाइयोंमेंसे गुज़र चुके है। उनका एक पत्र (बिना उनकी अनुमतिके ही!) यहाँ उद्धृत किया जाता है।

जालिपा देवी
बनारस सिटी
१७-८-३३.

प्रिय चौबेजी, नमस्कार!

जेलसे आनेपर आपको आज पहिले-पहल पत्र लिख रहा हूॅ। सरस्वती,

जागरण, और विशाल भारतमें आपके Interview का तमाशा पढ़ा। इधर जेलमें मैंने फ्रेंच भाषा सीखी। एक फ्रेंच पुस्तकका अनुवाद किया। वह Macedonia के ५० वर्षोंके १९२९ तकके स्वातन्त्र्य संग्रामका इतिहास है। हम लोगोंकी वर्तमान दशामें बहुत ही रोचक, शिक्षाप्रद और उत्साहवर्द्धक है। लगभग १५० पृष्ठोंकी होगी। मैं आजकल प्रकाशन जगतसे Out of touch हूँ। क्या आप इस मामलेमें मेरी मदद करेंगे? मैं चाहता हूँ पुस्तक छप जाय और तीन बातें हों—
१—शीघ्र छपे—पता नही शायद मैं फिर जेल भाग जाऊँ।
२—प्रभाव अच्छा हो। ३—इधर सन् १९३०से तबाह हो रहा हूँ, चाहता हूँ कुछ रुपया मुझे भी मिल जाय और वह भी जल्दी।

मैं समझता हूँ आप इस सम्बन्धमें प्रबन्ध कर सकते है। जल्द उत्तर दीजियेगा। आशा है आप कुशलपूर्वक होंगे।

आपका
सम्पूर्णानन्द

एक बार फिर सम्पूर्णानन्दजीकी सेवामें दो दिन बिताने पड़े और उन दिनोंकी याद कभी नही भूलेगी। खास तौरपर उनकी घड़ीने और उनके इक्केके घोड़ेने इतना तंग किया कि मैं प्राण बचाकर वहाँसे भाग निकला! उन दिनों श्री सम्पूर्णानन्दजीको वक़्तपर हर काम करनेकी बीमारी Punctuality बेतरह लगी हुई थी। एक दिन शामके वक़्त मैं बाहर जानेवाला हुआ तो आपने कहा "देखिये, ठीक आठ बजे व्यालूके वक़्त आ जाना"। मैं पहुँचा जैन-विद्यालयमें और वहाँ यजमानोंने १० बजा दिये! लौटकर आया तो सम्पूर्णानन्दजीसे खासी मधुर डाँट सुननी पड़ी। कहनेकी ज़रूरत नहीं कि स्वयं सम्पूर्णानन्दजीने भी भोजन नहीं किया था। खाना ठंडा हो चुका था। उस समय मुझे एक क़िस्सा

याद आ गया। आचार्य क्षितिमोहन सेन भी इसी प्रकार लेट होकर घर पहुँचे तो उनकी पत्नी बहुत रुष्ट हुई। आचार्यजीने परसी हुई थाली उनके सिरपर रख दी! वे बोलीं "यह क्या करते हो?" आचार्यजीने कहा "कुछ नही, भोजन ठंडा हो गया है और तुम्हारा माथा गरम है, सो उसे गरम कर रहा हूँ!" सम्पूर्णानन्दजीके साथ ऐसी गुस्ताखी करनेकी हिम्मत मेरी नहीं पड़ी पर मैंने इतना तो कह ही दिया, "आपने भोजन क्यों नहीं कर लिया? यह धर्म क्यों निभाया?"

जब सम्पूर्णानन्दजी नाराज़ होते हैं तो छोटे-छोटे वाक्य बोलने लगते है। "अजीब दिल्लगी करते है आप!" इत्यादि-इत्यादि। उस दिन मुझे सम्पूर्णानन्दजीका हुक्म मानकर ज़रूरतसे ज़्यादा मिठाई खानी पड़ी!

भीगी बिल्लीकी तरह बैठा हुआ मैं रसगुल्ले खा रहा था और घड़ीके आविष्कारकको कोस रहा था। दूसरे दिन जब मैं पत्रकारोंसे मिलने जाने लगा तो आपने फिर घड़ी दिखलाई "जनाबको ढाई बजे यहाँ पहुँचना है। किरायेका इक्का है। वह इन्तजार नहीं कर सकता। अपनी बगीचीपर ले चलूँगा। समझे आप?"

डरके मारे पत्रकारोंकी सारी मनोरंजक बातोंको छोड़कर ठीक ढाई बजे हाज़िर हो गया। मैं समझे हुए था कि कोई मामूली इक्का होगा, पर वह तो था "गहरेबाज़" इक्का! काशीमें इक्कोंकी दौड़की यह बर्बर प्रथा अब भी चली आ रही है! सारनाथकी सड़कपर न जाने सम्पूर्णानन्दजीने इक्केवालेको क्या इशारा कर दिया कि वह लेकर सरपट दौड़ा। सम्पूर्णानन्दजीकी छोटी-सी भतीजी इन्दु भी साथमें थी। मेरा दम खुश्क था। इन्दु हँस रही थी और सम्पूर्णानन्दजी मुसकरा रहे थे! मेरा हार्ट फेल होते-होते बचा। पहियेकी रबर उखड़ गई और दो-चार चपेटे मेरे पाँवमें लगे। मैंने कहा "क्या आप मेरे प्राण लेना चाहते हैं?" इक्का बड़ी मुश्किलसे रुका। जब दममें दम आया तो मैंने कहा "आपने

तो एकमात्र ग़रीब अराजकवादीकी हत्याका पूरा प्रबन्ध कर लिया था ! वह तो मैं बच गया !"

बगीची क्या थी खेत था ! हाँ, एक छोटा-सा कमरा उसमें ज़रूर बना हुआ था। वहाँ जाकर विश्राम किया। सम्पूर्णानन्दजीने चाय बनाई जिसमें उनके 'शऊर'का बहुत अच्छा प्रदर्शन नहीं हुआ।

दूसरे दिन अपनी जान बचानेके लिए मैं बिना कहे सुने वहाँसे भाग निकला। उसके बाद आपका कार्ड आया—

इलाहाबाद
२८-१०-४४

टिप्पणीजी महाराज,

यह चोरोंकी भाँति चुपकेसे निकल भागना आपने कहाँसे सीखा है ? भले आदमियोंका दस्तूर है कि मालिक मकानसे विदाई लेकर ही घर छोड़ते हैं। अभी मैंने सामान मिलाया नहीं है, यदि कमरेमेंसे तख़्त या मेज़ या कुर्सी जैसी कोई चीज़ ग़ायब पाई गई तो उसका दायित्व आपपर होगा।

सस्नेह
सम्पूर्णानन्द

इसके बाद सम्पूर्णानन्दजीका निमन्त्रण कई बार आ चुका है, पर उनके इस राजनैतिक षड्यन्त्रमें मैं नहीं फँसा। "न गंगदत्तः पुनरेति कूपम् ।"

स्वाभाविक माधुर्य्य

राजनैतिक क्षेत्रमें काम करनेवालोंको बीसियों समझौते करने पड़ते हैं और जिन्हें शासक बननेका दुर्भाग्य प्राप्त होता है, उनके विषयमें तो बीसियों ग़लतफ़हमियाँ होती रहती हैं। सम्पूर्णानन्दजी भी इस नियमके अपवाद नहीं। एक दिन रातके १२–१२½ बजे आप रेडियो सुन रहे थे। दिन भरके हारे थके थे। लखनऊमें आपके बँगलेके आस-पास चक्कर

काटनेवाले कुछ कांग्रेसी कार्यकर्ताओंने समझा कि सम्पूर्णानन्दजीकी कोठीपर नाच-गाना हो रहा है ! वे महाशय अपने हाईस्कूलके लिए डेपूटेशन लेकर गये थे और इसके लिए रातका ही वक़्त उन्होंने मुनासिब समझा था ! जब सम्पूर्णानन्दजीसे वे मिले तो अपनी आशंकाएँ प्रकट कीं। "हम तो आध घंटेसे चक्कर लगा रहे थे, पर यह समझकर कि आपके यहाँ गाना हो रहा है, नहीं आये।"

और लोकापवादोंका क्या कहना ! जिस देशमें महात्माजीके विषयमें भी यह अफ़वाह फैलानेवाले मौजूद हों कि उन्होंने अहमदाबादमें अपने लड़कोंके लिए मिलें खुलवा दी थीं, उस देशमें सम्पूर्णानन्दजी-जैसे व्यक्तियोंको कौन बख़्श सकता है ? उन फ़ालतू आक्षेपोंकी चर्चा न करके हम इतना ही कह देना चाहते हैं कि सम्पूर्णानन्दजीकी ईमानदारी तथा निस्स्वार्थ भावनापर शङ्का करनेवाले व्यक्ति घोर भ्रममें हैं। हमें आश्चर्य इस बातका है कि इन ग़लतफ़हमियोंके बावजूद वे अपने स्वभावके माधुर्य्यकी रक्षा कैसे कर सके हैं !

एक बार मैंने उन्हें लिखा कि शासकोंको मद हो जाता है। उनका जवाब सुन लीजिये—

"मद शासनमें भले ही हो पर क़लम चलानेमें भी है। मदका अर्थ क़लम भी हो सकता है। सो कैसे ? देखिये—

मनीम् ददादीति मदः। मनीति धनम्। को धनं ददाति इति चेत्—न तत्र शंकास्थलं विद्यते। कलमो धनं ददातीति सुनिश्चितम्—

क़लम गोयद कि मन शाहे जहानम्
क़लम क शरा बदौलत मी रसानम्

इति श्रवणात्। तस्माद् लेखनी एव मदः। आत्मा वै जायते पुत्र इति न्यायात् लेखनमपि मदः। पारसीक वाक्यस्यायमर्थः कलमो ब्रूतेऽहम् जगतो राजा यतो लेखकं धनसमीपमानयामि।

सस्नेह—सम्पूर्णानन्द

उर्दूके पक्षपाती होते हुए भी उर्दू हम नाममात्रको ही जानते हैं। बन्धुवर सुदर्शनजीने 'नेयाज़ मन्द' शब्द हमें सिखला दिया था, सो एक बार हमने उसका प्रयोग सम्पूर्णानन्दजीको लिखे एक पत्रमें कर दिया। उनका उत्तर आया——

लखनऊ

१८ अक्तूबर १९४८

जनाब पंडत साहब कोर्निश अर्ज़ है

आपका नवाजिशनामा मौसूल हुआ। इस करमके लिये ममनून हूँ। उस ख़तमें आपने जिस तजवीज़का इशारतन ज़िक्र किया है वह बज़ातखुद निहायत साएब है। मगर मैं इस सिलसिलेमें क्या ख़िदमत कर सकता हूँ, यह अभी तक नहीं समझ पाया। बहरहाल आचार्या निरेंदर देव साहबकी ख़िदमतमें इस ख़यालको पेश कर दूँगा और वह जो कुछ फ़रमायेंगे उसकी इत्तला आँजनाबकी ख़िदमतमें इरसाल कर दूँगा। ज्यादा हद्दे अदब

नेयाज़मन्द

सम्पूर्णानन्द"

क्या ही अच्छा होता यदि सम्पूर्णानन्दजीके इस स्वाभाविक माधुर्य्यको जनता जान पाती!

देशकी पराधीनताका सबसे भयंकर दुष्परिणाम यह हुआ था कि हमारे सैकड़ों सहस्रों नवयुवकोंका घरेलू जीवन नष्ट हो गया। घरवालोंके लिए भी वे बाहरके हो गये और साधारण जनताके सम्मुख उनका सार्वजनिक रूप ही बार-बार आता रहा। जनता इस बातको भूल गई कि हमारे नेता भी हाड़-माँसके पुतले हैं और उनमें हृदय नामकी कोई चीज़ भी है।

सम्पूर्णानन्दजीकी राजनीतिसे और उनके शासक रूपसे हमारा परिचय नहीं। उनके दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थोंको समझनेकी योग्यता भी हममें नहीं और साहित्य क्षेत्रमें भी हमारा उनसे मतभेद रहा है। वे शासक हैं और हम शासनमात्रके विरोधी (जीवनमें नहीं, कोरमकोर

विचारोंमें ही !) वे हिन्दीवाले हैं और हम हिन्दुस्तानीवाले। हमारे जनपदीय तथा प्रान्त निर्माण आन्दोलनोंको वे निरर्थक समझते रहे हैं। और इधर उनके कई कार्य हमारी समझमें नहीं आये। मसलन्, ग्रामीण अध्यापकोंकी हड़तालके विषयमें उनका रुख़ हमें अनुचित ही जँचा। एक मुदर्रिस पिताके पुत्र होनेके कारण हमारी स्वाभाविक सहानुभूति अध्यापकोंके साथ रही है। सम्पूर्णानन्दजी-जैसे साहित्यिक तथा सांस्कृतिक व्यक्तिके मन्त्रिमंडलमें होते हुए भी उत्तर प्रदेशीय सरकार उस क्षेत्रमें कोई ठोस काम नहीं कर सकी और, स्वयं पत्रकार होते हुए भी वे इस विस्तृत प्रान्तमें एक पत्रकार-विद्यालय भी क़ायम नहीं कर सके, इसका हमें खेद है। पर इस प्रकारके मतभेदोंने हमारे पैंतीस वर्ष व्यापी सम्बन्धोंमें किसी भी प्रकारकी कटुता उत्पन्न नहीं की।

सम्पूर्णानन्दजी जिस उच्च बौद्धिक धरातल पर रहते हैं, वहाँ पहुँचना आसान नहीं और उनके जीवनकी दार्शनिकता तो अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है। एक प्रश्न हमारे मनमें बार-बार उठता है। इतने घोर संघर्षों और गार्हस्थिक दुर्घटनाओंके बावजूद वे अपने मस्तिष्कका सन्तुलन कैसे बनाये रख सके हैं ? राजनीतिके विषाक्त वायुमण्डलमें अपना स्वाभाविक माधुर्य कैसे क़ायम रख सके हैं ? क्या उसके मूलमें उनका योगाभ्यास है ? कुछ भी क्यों न हो, उन-जैसे साधक तपस्वीके सम्मुख हम नतमस्तक हैं।

फरवरी ५०]

श्री राहुल सांकृत्यायन

सन् १९०७

हावड़ा स्टेशनपर वह देखिये, कौन लड़का बैठा हुआ है। उमर १५-१६ वर्षकी होगी। शक्ल-सूरतसे भले घरका मालूम होता है। हाथमें 'गुलबकावली' नामक किताब है। चिन्तित चेहरेसे ऐसा प्रतीत होता है कि घरसे भाग आया है। ज़रा उससे उसका हाल तो पूछें—"मैं उर्दू-मिडिलका विद्यार्थी हूँ। अपने नानाके पाससे भागकर यहाँ आया हूँ। मेरे नाना हैदराबाद (दक्षिण)में फ़ौजमें नौकर थे। अब वे बूढ़े हो चुके है। अक्सर वे नानीको अपनी यात्राओंका हाल सुनाते रहते है। इससे मेरे मनमें भी यात्रा करनेकी धुन समाई, इसीलिए यहाँ भाग आया हूँ। उर्दूकी किताबमें मैंने पढ़ा है—

'सैर कर दुनियाकी गाफ़िल ज़िन्दगानी फिर कहाँ ?
ज़िन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ ?'

इसलिए घरसे दुनियाकी सैर करने निकल पड़ा हूँ।"

वह देखिये, इसी प्रकार घरसे भागा हुआ एक दूसरा लड़का भी उसके पास आ जुटा। इन दोनोंको मिलने दीजिए।

२ जनवरी सन् १९३५

"मैं अन्तर्राष्ट्रिय बौद्ध-विश्वविद्यालय-समितिको इसलिए धन्यवाद देता हूँ कि उसने कृपाकर मेरा नाम अपनी परिषद्के लिए चुना है। यहाँपर मैं यह निवेदन कर देना चाहता हूँ कि मेरे जीवन तथा मेरे प्रयत्नोंका एक बड़ा भाग बौद्धधर्म-विषयक ज्ञानके प्रचारमें व्यय हुआ है, और जबतक मुझमें कार्य करनेकी शक्ति है, तबतक मैं प्रसन्नतापूर्वक इसी उद्योगमें लगा रहूँगा। न तो भारतवर्ष और न मानव-समाज ही बौद्ध

धर्मसे बढ़िया कोई दूसरा फल उत्पन्न करनेमें सफल हो सका है। खास तौरसे मुझे खुशी होगी भिक्षु राहुल सांकृत्यायनके साथ काम करनेमें, क्योंकि मैं भिक्षु राहुलकी गणना बौद्धधर्मके वर्तमान सर्वश्रेष्ठ विद्वानोंमें करता हूँ और उन्हें बौद्ध आदर्शोंका एक प्रतिनिधि मानता हूँ।"

—सिलवाँ लेवी

उपर्युक्त वाक्य हैं संसारके महान् विद्वान् स्वर्गीय प्रोफ़ेसर सिलवाँ लेवीके, जिन्होंने अपने जीवनके ५०-५५ वर्ष संस्कृतके अध्ययन-अध्यापन तथा भारतीय विद्याओंके प्रचारमें लगाये थे और जो वास्तवमें बृहत्तर भारत के पिता माने जाते थे।

१९०७ के उस लड़के और १९३५के इस त्रिपिटकाचार्य महापण्डित राहुल सांकृत्यायनमें कितना ज़बरदस्त फ़र्क़ है! पर दोनों एक ही हैं। और सबसे बड़ी ख़ुशीकी बात यह है कि राहुलजीमें लड़कपन (हमारा अभिप्राय बालसुलभ चांचल्यसे है) अब भी काफ़ी मात्रामें विद्यमान है। 'दुनियाकी सैर'के लिए वे अब भी वैसे ही दीवाने हैं। इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, रूस, मिश्र, बर्मा, चीन, जापान, कोरिया, मंचूरिया, साइबेरिया, ईरान और तीन बार तिब्बतकी यात्रा कर चुकनेपर भी उनकी सैर करनेकी अभिलाषा तृप्त नहीं हुई। 'नौजवानी फिर कहाँ?' का सवाल उनके लिए उठता ही नहीं, क्योंकि ४४ वर्षके राहुलजी २०-२२ वर्षके नौजवानसे कहीं अधिक सजीव और परिश्रमी हैं।

स्वर्गीय प्रेमचन्दजी अथवा मित्रवर सुदर्शनजीकी तरह यदि इन पंक्तियोंके लेखकको फिल्म-डाइरेक्टर बननेका सौभाग्य या दुर्भाग्य इस जीवनमें प्राप्त हुआ तो वह 'राहुल' नामक फिल्म ज़रूर बनावेगा। दर-असल राहुलजीके विचित्र जीवनमें फिल्मके लिए बड़ा अच्छा मसाला विद्यमान है, और इस विषयमें वे ग्रेटागार्बोके नाना और डगलस फेयर बैंकके चाचा साबित होंगे।

× × ×

"देवी मुझपर प्रसन्न न हुई, यद्यपि मैंने नवरात्रमें विधिवत् पुरश्चरण किया। अवश्य ही इसमें मेरा ही कोई दोष है। मेरे ही पाप हैं, जिनके कारण मुझे देवीके दर्शन न हो सके। अब मैं धतूरा खाकर प्राण दे रहा हूँ। जिसे यह चिट्ठी मिले, वह मेरी मृत्युका असली कारण जान ले, इसलिए इतना लिख दिया है।"

इस तात्पर्यकी चिट्ठी रखकर वह देखिये, कोई युवक मरनेकी तैयारी कर रहा है! पर ख़ैरियत यह है कि उसे इस बातका बिलकुल पता नहीं कि धतूरेका विष इतना प्रबल नहीं होता कि खानेवाला यकायक दूसरी दुनियाकी सैर करने लगे! कई क़ै हुई, आँखोंकी ज्योति मन्द हो गई, बदनके पुर्ज़े-पुर्ज़े हिल गये; पर जान बच गई।

आप कहेंगे कि २० वर्षके इस युवकने क्या मूर्खता की थी? हम भी कहते हैं कि सचमुच भयंकर नासमझीका काम था; पर उस दृढ़ विश्वासपर तो ध्यान दीजिए, जिससे प्रेरित होकर राहुलजी अपने प्राण देनेपर उतारू हो गये थे। यह दृढ़ विश्वास ही राहुलजीके जीवनकी कुंजी है, यही उनका सर्वोत्तम गुण है और इसीके बल-बूतेपर वे अपनी जानको खतरेमें डालनेसे नहीं हिचकते। दृढ़ इच्छाशक्ति और प्रत्युत्पन्नमतित्व—वक्तकी सूझ—राहुलजीके ख़ास गुण हैं। राहुलजीने तिब्बत जाकर बौद्ध धर्मका अध्ययन करनेकी ठानी। सरकारसे तिब्बत जानेकी अनुमति नहीं मिली। राहुलजीने निश्चय किया कि वे बिना अनुमतिके ही जायेंगे। ग्यांची होकर तिब्बतका सुगम मार्ग है; किन्तु उधरसे ब्रिटिश सरकार बिना इजाज़तके किसीको जाने नहीं देती, लिहाज़ा राहुलजीने नेपालके दुर्गम मार्गसे जाना निश्चय किया। नेपाल होकर सिर्फ़ नेपाली ही तिब्बत जा सकते हैं, हिन्दुस्तानी नहीं; फिर शिवरात्रिके १५ दिनोंको छोड़कर कोई हिन्दुस्तानी नेपाल-सरकारकी आज्ञाके बिना नेपालकी सीमामें भी नहीं रह सकता। राहुलजी शिवरात्रिके बाद १५-२० दिन तो वेश बदलकर नेपालमें छिपे रहे और बादमें एक लद्दाख़ीका

वेश धरकर तिब्बतमे पहुँचे ! यह है उनकी दृढ इच्छाशक्ति और गज़ब-की सूझका नमूना। उन्हे देखकर प्राचीन कालके बौद्ध भिक्षुओंकी याद आ जाती है, जिन्होने सैकडो मुसीबतोका सामना करके देश-विदेशोकी यात्राएँ की थी।

राहुलजीने किसी विश्वविद्यालयमे शिक्षा नही पाई, पर साथ ही यह कहना अधिक ठीक होगा कि उन्होने दरअसल 'विश्व'के विद्यालयमे आँख खोलकर घूमते हुए खूब शिक्षा प्राप्त की है। उर्दू-मिडिल उन्होने जरूर पास किया था और गणितमे तमीज भी पाई थी, पर उर्दूकी वजहसे उनके नम्बर कम हो गये और उन्हे छात्रवृत्ति नही मिल सकी। नतीजा यह हुआ कि वे आगे नही पढ सके। यह अच्छा ही हुआ, नही तो राहुलजीके बजाय हमे एक पीली शक्लके टुटरूँ-टूँ ग्रेजुएट मिल जाते। उर्दू-मिडिल पास करनेके बाद उन्होने 'लघुकौमुदी', 'सिद्धान्तकौमुदी' पढी। फिर डेढ वर्ष तक आगरेके मुसाफिर-विद्यालयमे अरबी पढते रहे। फूफाके पास सस्कृत पढी, फिर काशीमे तीन वर्ष तक सस्कृतका अध्ययन करते रहे। अँगरेजी पढनेकी धुन सवार हुई तो १९१३मे काशीके डी० ए० वी० स्कूलमे ७वे दर्जेमे भर्ती हो गये, पर तीन महीनेसे अधिक न पढ सके।

इसके बाद सीलोनमे भी बहुत दिनो तक पाली भाषाका अध्ययन किया। हाँ, एक सरकारी विश्वविद्यालयमे राहुलजीने ढाई वर्ष तक शिक्षा पाई थी और उसका भूल जाना राहुलजी तथा सरकार दोनोके प्रति कृतघ्नता होगी। १९२१ तथा १९२४-२६मे आप ढाई वर्ष तक जेलमे रहे। राहुलजी उन साधु-सन्यासियोमेसे नही है, जिनके कानो तक देशकी स्वाधीनताके सग्रामकी ध्वनि ही नही पहुँचती और जो अपने देशकी मुक्तिके प्रयत्नमे कुछ भी सहायता न देते हुए व्यक्तिगत मोक्षके लिए लालायित रहते है। 'बोधिचर्यावतार'के लेखकने आजसे १३०० वर्ष पहले लिखा था—

'मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये मे प्रामोद्यसागराः ।
ते एव ननु पर्य्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ।"

अर्थात्—"दूसरोंके मुक्त होनेसे मेरे मनमें आनन्दके जो सागर उठते हैं, वे मेरे लिए पर्याप्त हैं । मैं इस व्यक्तिगत मोक्षको, जिसमें कुछ रस नहीं है, लेकर क्या करूँगा ?"

सम्भवतः राहुलजीके जीवनका मोटो भी यही है ।

× × ×

राहुलजीकी जीवन-नदीमें हमें दो धाराएँ स्पष्ट दीख पड़ती हैं । उनके राजनैतिक विचार उग्र हैं और उनकी स्वाभाविक इच्छा उन्हें राष्ट्रिय स्वाधीनताके आन्दोलनमें भाग लेनेके लिए प्रेरित करती है । इसके साथ ही वे यह भी जानते हैं कि प्राचीन बौद्ध ग्रन्थोंके पुनरुद्धारसे वे भारतका गौरव संसारकी दृष्टिमें बढ़ा सकते हैं । हर्षकी बात है कि उनके हृदय और मस्तिष्कका यह अन्तर्द्वन्द्व अब लगभग शान्त हो चला है और उन्होंने क़रीब-क़रीब यह निश्चय कर लिया है कि वे अपना समय मुख्यतया बौद्ध ग्रन्थोंके सम्पादनमें ही लगावेंगे । 'बाईसवीं सदी' और 'साम्यवाद ही क्यों ?' नामक पुस्तकोंका लेखक यदि राजनीतिमें भाग लेता, तो किस दलमें सम्मिलित होता, यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं । पर बुद्ध भगवान् तथा मार्क्स इन दोनों देवताओंकी भक्ति एक साथ करना गंगा और मदारकी पूजा करनेके समान अत्यन्त कठिन है, और यदि अपने भक्तकी इस खींचातानीमें बुद्ध भगवान् विजयी हों, तो हमें कोई आश्चर्य न होगा । यद्यपि अन्य सब धर्मोंकी अपेक्षा बौद्धधर्म समाजवाद या कम्यूनिज़्मके बहुत निकट पहुँचता है, तथापि मार्क्सके हिंसात्मक वर्गयुद्ध (Class-war) और भगवान् गौतम बुद्धके इस उपदेशमें कि द्वेषपर प्रेमसे विजय प्राप्त करो, सामंजस्य किसी प्रकार नहीं हो सकता ।

राहुलजीके हृदयमें स्वाधीनता-संग्राममें भाग लेनेकी इच्छा बड़े प्रबल वेगसे उठती रहती थी; पर वे अपने मनको किसी-न-किसी तरह समझा

लेते थे। वे कहते हैं कि प्राचीन ग्रन्थोंके अनुसन्धानार्थ हमें समय-समयपर यात्रा करनी पड़ेगी और अपने राजनैतिक बन्धुओंके प्रति यह घोर अन्याय होगा कि उन्हें बीच संग्राममें ही छोड़कर हम इधर-उधर यात्रा करते फिरें। इस प्रकार राहुलजी मन मसोसकर रह जाते हैं। जब उनका हृदय राजनैतिक आन्दोलनकी ओर आकर्षित होता है, तभी उनका मस्तिष्क कहता है—"यदि दिङ्नागका 'प्रमाणसमुच्चय' ग्रन्थ मिल जाय तो यह जीवन सफल हो जाय।" पिछली बार जब तीसरी दफ़ा तिब्बत जानेके पहले राहुलजी टाइफाइड ज्वरसे अत्यन्त पीड़ित होकर पटना हास्पिटलमें पड़े थे और कई दिन तक उन्हें होश नहीं रहा था, तब वे सन्निपातमें धर्मकीर्तिके 'प्रमाणवार्तिक'का नाम बार-बार ले रहे थे! "जाकौ जापै सत्य सनेहू। सो तेहि मिलत न कछु सन्देहू।" बाबा तुलसीदासका यह कथन सोलह आने सत्य है और अपनी पिछली यात्रामें राहुलजीको धर्मकीर्तिका अप्राप्य ग्रन्थ 'प्रमाणवार्तिक' मिल ही गया! काश कि आज सिलवाँ लेवी जीवित होते! तृतीय तिब्बत-यात्राका ज़िक्र करते हुए राहुलजीने कहा—"यदि आज सिलवाँ लेवी जीवित होते तो वे हर्षके मारे उछल पड़ते।"

आचार्य सिलवाँ लेवी राहुलजीके कार्यके महत्त्वको समझते थे। सन् १९३२में उन्होंने अपने एक पत्रमें राहुलजीको लिखा था—"सबसे पहले मुझे आपको आपकी सरल, प्रवाहमयी और सुन्दर संस्कृतके लिए बधाई देना है। मैंने उसे बारम्बार पढ़कर आनन्द लिया। मुझे सन्देह है कि बहुत दिनोंसे—कम-से-कम एक शताब्दीसे, नेपालके पंडित अमृतानन्दके ज़मानेसे—कोई भी बौद्ध विद्वान् ऐसी सुन्दर भाषा नहीं लिख सका था—वह भाषा, जिसे अश्वघोष, नागार्जुन और बसुबन्धुने ऐसे अधिकारपूर्ण ढंगसे व्यवहार किया था। आपका 'अभिधर्म-कोश' आपकी संस्कृतकी योग्यताका एक और प्रमाण देता है। आपकी भूमिका, आपका विशाल अध्ययन और आपकी बहुभाषा-विज्ञता की सूचक

है। बूनिनकी कृतिके मौजूद होते हुए भी ग्रापकी पुस्तक विशेषकर इसलिए उपयोगी है कि उसमें ग्रापने कई सूचियाँ ग्रौर ग्रनेक नक़शे दे दिये हैं, जो बहुत व्यावहारिक जान पड़ते हैं।"

रूसकी प्राच्य-परिषद् के प्रधान डाक्टर चर्बास्की ने जबसे यह सुना है कि राहुलजीने तिब्बतके किसी दुर्गम प्राचीन मठसे धर्मकीर्तिका 'प्रमाण-वार्तिक' नामक महान् ग्रन्थ खोज निकाला है, तब से वे भारतवर्षकी यात्रा करनेके लिए ग्रत्यन्त उत्सुक हो गये हैं ग्रौर उन्होंने स्व० डा० काशीप्रसाद जायसवालजीको लिखा है— "राहुलजीने धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंका पता लगाकर उन्हें प्राप्त करनेका जो ग्राश्चर्यजनक कार्य किया है, उसका समाचार पढ़कर हम लोगोंको ग्रत्यन्त हर्ष हुग्रा। धर्मकीर्ति भारतवर्षके कैण्ट (Kant) थे। ग्रबतक हमें उनके ग्रन्थोंके ग्रनुवाद चीनी तथा तिब्बतीमें पढ़ने पड़ते थे; पर ग्रब तो मूल ग्रन्थ ही मिल गया। मैं ग्रौर मेरे सहायक डा० वस्ट्रीकोव भारतवर्ष पहुँचकर उन ग्रन्थोंको देखना चाहते हैं। कृपया विशेषज्ञोंकी एक छोटी-सी कमेटी बना लीजिए, जिसमें इन ग्रन्थोंके प्रकाशनपर विचार किया जा सके।"

यह बात ध्यान देने-योग्य है कि डा० चर्बास्की ग्राज संसारमें भारत-शास्त्रके सर्वश्रेष्ठ विद्वान् माने जाते हैं। राहुलजीको इस बातका बड़ा दुःख है कि उन्हें रूसमें भ्रमण करनेकी ग्राज्ञा नहीं मिली। रूसी सरकारने यह नियम बना रखा है कि वह धर्माचार्यों—पादरियों इत्यादि—को रूस ग्राने देना तो दूर रहा, रूसमेंसे गुज़रने तक नहीं देती। राहुलजी बौद्ध-भिक्षु हैं, ग्रौर उन्हें भी उसी कोटिका समझकर रूसी सरकारने उन्हें रूसमें उतरनेकी ग्राज्ञा नहीं दी थी! जब डा० चर्बास्कीको पता लगा कि राहुलजी मास्को होते हुए निकल गये, तो उन्हें बड़ा दुःख हुग्रा, ग्रौर उन्होंने राहुलजीको पत्र लिखा—

"I frightfully shocked when I got your letter from Moscow informing that you could not stop at

that place and have been obliged to proceed immediately to Baku. I had put so much hopes on our interview with you and on all the precious scientific information which could get from you about your tours in Tibet and Japan and the enormous results of finding the most precious original of those Sanskrit works, which we are obliged to study through the medium of translation ! Especially magnificient is your discovery of the chapter of Praman-Vartika with Pragyakar Gupta's commentary. I am expecting the issue of this most precious work with the greatest impatience. Once more please accept the expression of my greatest sorrow for not having met you. I hope that some Kusal Karma of mine might be rewarded in future by possibility of meeting you."

—'मास्कोसे आपका पत्र मिला। यह पढ़कर कि आप मास्कोमें नहीं ठहर सके और फ़ौरन् ही बाकू जानेके लिए मजबूर हुए, मुझे बड़ा धक्का लगा। मैंने आपके साथ भेंट होनेकी कितनी आशा लगा रखी थी। आपसे भेंट होनेपर मुझे आपकी तिब्बत और जापानकी यात्राओंकी कितनी ही मूल्यवान और वैज्ञानिक बातें ज्ञात होतीं। जो ग्रन्थ हमें अनुवादके द्वारा पढ़ने पड़ते हैं, उनके अत्यन्त मूल्यवान मूल संस्कृत ग्रन्थोंकी खोजके विशाल परिणाम ज्ञात होते! ख़ास तौरपर आपका 'प्रमाण-वार्तिक'के अध्याय और उसपर प्रज्ञाकर गुप्तके भाष्यका खोज निकालना बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस अत्यन्त बहुमूल्य ग्रन्थके प्रकाशित होनेकी मैं बड़ी अधीरतासे प्रतीक्षा कर रहा हूँ। आपसे भेंट न हो सकनेपर मैं एक

बार फिर खेद प्रकट करता हूँ। मैं आशा करता हूँ कि मेरे किसी 'कुशल कर्म' (पुण्य कर्म)की बदौलत भविष्यमें कभी आपके दर्शन होंगे।'

अपनी पिछली तिब्बत-यात्रामें राहुलजीने कई संस्कृत-ग्रन्थोंका, जो लुप्त समझे जाते थे, उद्धार किया है। धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर गुप्त, ज्ञानश्री, नागार्जुन, आसंग, वसुबन्धु, रत्नाकर शान्ति, रत्नकीर्ति, भव्य और गुणप्रभ नामक विद्वानोंकी कीर्ति आज इस अकेले भिक्षुके कठोर तपके कारण अमर होने जा रही है! फिर भला क्यों न डाक्टर चर्बास्की उसके दर्शनको अपने 'कुशल कर्म' या पुण्योंका परिणाम समझें?

अपनी इस यात्रामें राहुलजीको कितना परिश्रम करना पड़ा, इसका अनुमान पाठक इसीसे कर सकते हैं कि पचास हज़ार श्लोक तो उन्होंने अपने हाथसे नक़ल किये हैं और डेढ़ लाख श्लोकोंके फोटोग्राफ लिये हैं। इन ग्रन्थोंके ठीक तौरपर सम्पादन करने और प्रकाशित करनेमें ही कई वर्ष लग जायेंगे। इस बार राहुलजी सरहपाके दोहोंके भी फोटो लेते आये हैं। ये हिन्दी दोहे सन् ८५०के लिखे हुए हैं। राहुलजीके अनुसन्धानने हिन्दी-कविताको २०० वर्ष और भी अधिक प्राचीन सिद्ध कर दिया है। बारहवीं शताब्दीके बुद्धगयाके मन्दिरके माडलोंके फोटोकी गणना इस यात्राकी सबसे मूल्यवान वस्तुओंमें की जानी चाहिए।

डाक्टर चर्बास्कीने राहुलजीकी तिब्बत-यात्राके विषयमें लिखते हुए 'Fruitful result of Reverend Rahula's expedition to Tibet' (भिक्षु राहुलके तिब्बती अभियानका सफल परिणाम) इन शब्दोंका प्रयोग किया था। विलायतके विद्वान् इस प्रकारकी दुर्गम यात्राओंमें अनेकों आदमियोंको साथ ले जाते हैं, सहस्रों–लक्षों रुपये व्यय करते हैं; पर राहुलजीने जब यह यात्रा की, उनके पास कुल जमा एक सौ रुपये थे! यह है एक भिक्षुका अभियान!

भिक्षु राहुलजीके सत्साहसको देखकर हमारे मनमें एक मौलिक विचार आया है, वह यह कि यदि वे सौ-पचास हिन्दी लेखकों, कवियों और प्रचारकों-

का दल बनाकर तिब्बतकी चतुर्थ यात्रा करें, तो साहित्यका बड़ा भारी हित हो। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें कितनों ही की बीचमें ही महायात्रा हो जायगी, पर जो वहाँसे जीवित लौटेंगे, वे हिन्दी-साहित्यको अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ दे सकेंगे। इस महाप्रयाणके शुभ परिणामोंकी कल्पना ही अत्यन्त आनन्दप्रद है। सारेका सारा नायिका-भेद हिमालयके इस पार ही बर्फ़में गल जायगा और नक़ली छायावाद द्रौपदीकी तरह सबके पहले भूतलशायी हो जायगा। हाँ, असली छायावाद (रहस्यवाद) वहाँ युधिष्ठिरकी तरह सकुशल पहुँच सकेगा।

एमर्सनने एक जगह लिखा है—

"I doubt not the faults and vices of our literature and philosophy, their too great fineness, effeminacy and melancholy are attributable to the enervated and sickly habits of the literary class."

—मुझे इस बातमें कोई शक नहीं है कि हमारे साहित्य और दर्शनके दोष और दुर्गुण—उनकी अत्यधिक टीमटाम, उनका ज़नानापन और उनकी उदासी—हमारे साहित्यिकोंकी कमज़ोर और मरीज़ाना आदतोंकी बदौलत है।'

साहित्य-सेवियोंकी इन 'मरीज़ाना आदतों'का इलाज इस तिब्बत-महायात्रासे बढ़कर और क्या हो सकता है? आशा है कि राहुलजीकी आत्माको (मुश्किल तो यह है कि न तो बौद्ध लोग और न साम्यवादी ही आत्मामें विश्वास रखते हैं!) इस प्रस्तावमें हिंसाकी गन्ध नहीं आवेगी।

अन्तमें नम्रतापूर्वक एक बात हमें और कहनी है। राहुलजीके प्रशंसक होनेपर भी हम उनके अन्ध-भक्त नहीं। उनमें तथा उनकी कार्य-पद्धतिमें हमें कुछ त्रुटियाँ दीख पड़ती हैं, और यह सर्वथा स्वाभाविक है। उनकी कार्य-प्रणालीको देखकर यह प्रतीत होता है कि वे बहुत जल्दीमें हैं। 'इतने वर्षोंमें समस्त त्रिपिटक ग्रन्थोंके हिन्दी-अनुवाद हो ही जाना

चाहिए', इस प्रकारके 'पंचवर्षीय कार्यक्रम' (Five year plan) सोवियट रूसके आर्थिक तथा राजनैतिक क्षेत्रोंमें भले ही कारगर हों, साहित्य-क्षेत्रमें उनके अनुसार चलनेका अर्थ है Quantity (परिमाण)के लिए Quality (उत्कृष्टता)का बलिदान। उनके द्वारा अनुवादित ग्रन्थोंकी भूमिकाओंमें शीघ्रताके प्रति उनका मोह देखकर आश्चर्य होता है। हमें उनकी सेवामें यह निवेदन करनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है कि कृपया साहित्य-क्षेत्रमें Speed Record की भयंकर प्रथाको न चलाइये। हम मानते हैं कि किसी प्राचीन कविने बहुत ठीक कहा था--

"कालि करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब;
पलमें प्रलय होइगी, बहुरि करैगो कब्ब!"

पर यह दोहा अन्य सांसारिक आदमियोंके लिए और दुनयबी कार्यों लिए कहा गया था, भिक्षुओं तथा साहित्य-क्षेत्रके लिए नहीं।

भिक्षु राहुलजीके मांसाहारपर अत्यधिक ज़ोर देनेको भी हम अनावश्यक और हानिकारक समझते हैं। निस्सन्देह इसमें हमें वे अपनी भूतपूर्व मूर्ति (बाबा दामोदार स्वामी वैष्णव)पर प्रहार करते हुए दीख पड़ते हैं; पर उन्हें याद रखना चाहिए कि समयकी गति मांस-भक्षण के सर्वथा विरुद्ध है, और उनका इस विषयका प्रचार नये मुसलमानके अत्यधिक प्याज खानेसे अधिक महत्त्व नहीं रखता।

स्त्री-जातिकी अन्तर्निहित शक्तियोंके विषयमें भी भिक्षु राहुलजीके विचार हमें समयकी गतिसे कुछ पिछड़े हुए-से नज़र आये, और उन्हें सुनकर हमारा यह दृढ़ विश्वास हो गया कि बिना विवाह किये मनुष्यमें कोमल भावनाएँ पूर्ण रूपसे जाग्रत हो ही नहीं सकतीं। उपस्थित जन-समुदायकी, जिनमें ९९ फ़ी-सदी हिन्दू होते हैं, कोमल भावनाओंपर कभी-कभी राहुलजी इस कठोरतासे आघात कर जाते हैं कि आश्चर्य और खेद हुए बिना नहीं रहता। पर हम किसी मनुष्यसे पूर्णताकी आशा करें ही क्यों?

राहुलजीमें अनेक गुण हैं, अद्भुत परिश्रम-शक्ति है, अदम्य पौरुष है, गम्भीर विद्वत्ता है और सबसे बढ़कर बात यह है कि वे 'ग़ाफ़िल' नहीं हैं और अपनी नौजवानीमें दुनियाकी ख़ूब सैर करते हुए हमारे साहित्य और समाजका मुख उज्ज्वल कर रहे हैं। कुल मिलाकर हिन्दी-जगत्‌में वे एक बेजोड़ आदमी हैं और हम सब उनपर अभिमान कर सकते हैं। उन्हें देखकर प्राचीन बौद्ध-भिक्षुओंका स्मरण हो आता है। कुमारजीव, आचार्य शाक्य श्रीभद्र और स्मृतिज्ञानके इस वंशजकी सेवामें हमारा श्रद्धापूर्ण प्रणाम !

१९३५]

श्रीराम शर्मा

"आइये, आपका परिचय अपने एक भाई और हिन्दीके सुलेखकसे करा दूं। इन्हें आप जानते हैं ?"

प्रताप-सम्पादक स्वर्गीय गणेशशंकरजी विद्यार्थीने एक टोपधारी और बन्दूक़ लिये हुए सज्जनकी ओर इशारा करते हुए पूछा। उस वक़्त उनकी बातचीत मगरकी शिकारके बारेमें चल रही थी। मैंने कहा 'मेरा परिचय इनसे नहीं है' गणेशजीने उनका नाम बतलाया श्रीराम शर्मा। मैंने शिष्टाचारवश सिर्फ़ इतना ही कहा 'आपके दर्शन कर बड़ी प्रसन्नता हुई' और अपने काममें लग गया। मैंने समझा कि ये यूरोपियन प्रवृत्तिके कोई हिन्दुस्तानी साहब हैं और इनकी तथा हमारी मनोवृत्तिमें एक ऐसी खाई होगी ? जिसे लाँघकर गम्भीर परिचय प्राप्त करना सम्भव नहीं और यदि सम्भव हो भी तो उससे लाभ क्या ? शिकार खेलना तो रहा दूर मैंने तब तक बन्दूक़का स्पर्श भी नहीं किया था ! तब मैं प्रत्येक शिकारीको हृदय-हीन ही समझता था !

मेरे उपेक्षा-भावको स्वाभिमानी श्रीरामजी ताड़ गये और एक हल्की-सी मुस्कराहट उनके चेहरेपर दीख पड़ी, जो शायद व्यंगात्मक थी। यह लगभग तीस वर्ष पहलेकी बात है। श्रीरामजी उन दिनों भी बहुत अच्छा लिख लेते थे, पर उन्हें भिन्न-भिन्न नामोंसे लिखना पड़ता था और वे प्रताप-परिवारके तो ख़ास आदमी थे। श्रीरामजीके स्वाभिमानको शायद कुछ धक्का लगा और मेरी उस उपेक्षाका दुष्परिणाम यह हुआ कि तीन वर्ष तक बहुत निकट——सात-आठ मीलके फ़ासिलेपर ——रहते हुए भी हम लोग नहीं मिल सके और जब मैं पं० झाबरमल्लजीके साथ उनके ग्रामपर गया, तब भी उन्होंने कोई विशेष बातचीत नहीं की !

कद मझोला, शरीर सुगठित, चेहरेपर मर्दानगी, आँखोंमें लालिमा, बातचीतमें जनपदीय शब्दोंका प्रयोग, चालमें दृढ़ता और स्वभावमें अक्खड़-पन, श्रीरामजीके इस रूपमें एक पौरुषमय अदा है, निराला आकर्षण है जो उनके व्यक्तित्वको विशेषता प्रदान करता है।

पर जो भी व्यक्ति श्रीरामजीको निकटसे नहीं जानते, वे उनके विषयमें मेरी तरह अनेक भ्रमात्मक धारणाएँ बना लेते हैं! पिछले बीस वर्षोंमें मुझे श्रीरामजीके सम्पर्कमें आनेके पचासों ही अवसर मिले हैं और मैं बिना किसी संकोचके कह सकता हूँ कि वे अत्यन्त कोमल हृदयके व्यक्ति हैं और उनमें कई ऐसे गुण पाये जाते हैं, जो अब दुर्लभ हो रहे हैं।

महाकवि अकबरने कहा था :—

"मगर एक इल्तमास इन नौ-जवानोंसे मैं करता हूँ।
ख़ुदाके वास्ते अपने बुज़ुर्गोंका अदब सीखें।"

श्रीरामजी इस गये-गुज़रे ज़मानेमें भी "बुज़ुर्गोंका अदब" करते हैं। हिन्दी जगत्में उनकी अनन्य श्रद्धाके पात्र मुख्यतया तीन व्यक्ति रहे हैं। आचार्य द्विवेदीजी, पद्मसिंहजी और गणेशजी; और इस त्रिमूर्तिके प्रति उनकी श्रद्धा-भावना इतनी प्रबल रही है कि उस त्रिमूर्तिका प्रभाव उनके चरित्रपर ही चित्रित हो गया है। गीतामें भगवान्ने ठीक ही कहा है— "यो यत्श्रद्धः स एव सः" अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही उसका स्वरूप बन जाता है। वे द्विवेदीजीकी तरह "देहाती" होनेमें अपना गौरव मानते हैं (दर असल "देहाती" शब्द द्विवेदीजी तथा शर्माजीके संपर्कसे अपना दोष खो बैठा है!) पद्मसिंहजीकी तरह सहृदय हैं और यदि गणेशजीकी तरह उन्हें 'शहादत' नहीं मिली तो इसमें उनका कोई अपराध नहीं; गत १९४२के आन्दोलनमें यह गौरव उन्हें कभी भी प्राप्त हो सकता था!

इनके सिवाय एक दूसरी त्रिमूर्ति भी थी, जिसके प्रति शर्माजी अत्यन्त

श्रद्धालु हैं—महात्माजी, रामानन्द बाबू और दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़, और श्रीरामजीकी यह श्रद्धा खोखली नहीं, बिल्कुल ठोस है।

दीनबन्धुकी अन्तिम बीमारीके दिनोंमें वे कलकत्तेसे प्रति सप्ताह कई-कई दिनके लिए उनकी सेवा करने शान्ति-निकेतन जाते थे और उनके अन्तिम दिनोंमें बराबर उनकी सेवामें उपस्थित होते रहे। और बड़े बाबू (श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय) को तो श्रीरामजी पितृतुल्य ही मानते रहे हैं। कई वर्षसे 'विशाल भारत'का सम्पादन वे सर्वथा निस्वार्थ भावसे करते रहे हैं। "बड़े बाबूने जिस पत्रके कारण पच्चीस हज़ारका घाटा सहा, उसके लिए हम लोगोंका कुछ कर्तव्य तो है ही" बस इसी कर्तव्य-भावनाने शर्माजीके सहस्रों घंटे व्यय करा दिये हैं; और सो भी ऐसी परिस्थितिमें जब कि उन्हें अपने समयका प्रत्येक क्षण जीविका अर्जित करनेके लिए लगाना चाहिए था। और महात्माजीके प्रति भी श्रीरामजीकी जो श्रद्धा है, वह शुद्ध तथा चरम कोटिकी है। बापू-द्वारा निर्धारित कार्यक्रमके वे कायल हैं, और अपने समयका अधिकांश उसीकी पूर्तिमें लगाते रहते हैं।

× × ×

श्रीरामजी जन्मतः ब्राह्मण होने पर भी स्वभावतः क्षत्रिय हैं और वृत्तिके अनुसार किसान। लेखन-कार्य उनके लिए गौण है और कभी भी उसे उन्होंने प्रथम स्थान नहीं दिया, और आजकल तो मसिजीवियों-की उथली अनादर्शवादिता तथा छिछली व्यावसायिकतासे वे काफ़ी उद्विग्न हो उठे हैं। जहाँ तक पत्रकार-कला और साहित्यका प्रश्न है, श्रीरामजी भूतकालमें रहते हैं और शायद ही किसी 'प्रगतिशील' लेखकको वे अपनी ओर आकर्षित कर सकें। प्रेम-विषयक कविताओंसे उन्हें चिढ़ हो गई है (प्रेम-पयोनिधिमें धँसना तो रहा दूर, वे उसके किनारे भी नहीं गये!) और कई बार उन्होंने प्रेमी कवियोंसे बहुत ही बेजा सवाल किये हैं :—

"आपकी शादी हो गई है या नहीं? यदि नहीं तो पहले शादी

कीजिये, कविता उसके बाद"। कोई भी स्वाभिमानी लेखक इस प्रकारका उपदेश सुननेके लिए तैयार नहीं हो सकता। 'सैक्स'के विषयमें उनके विचार प्राचीनता लिये हुए हैं और प्रगतिशील महिलाओंसे वे उल्टे झेंपते हैं! 'क्रान्ति' शब्दके साथ खिलवाड़ करनेवालों अथवा अनैतिक उपायोंका आश्रय लेनेवालोंसे उन्हें अत्यन्त घृणा है। श्रीरामजीका यह स्वभाव ही है कि जिनसे वे प्रेम करते हैं, उनसे अत्यन्त प्रेम करते हैं और जिनसे घृणा उनसे घोर घृणा। श्रीरामजीका सर्वोत्तम मनोहर रूप उनकी मैत्रीमें ही दीख पड़ता है। वे उन अल्प-संख्यक व्यक्तियोंमें हैं, जो अपने मित्रोंके लिए अधिक-से-अधिक आत्मत्याग कर सकते हैं। आत्मविज्ञापनसे वे कोसों दूर हैं। उनकी परदुख-कातरता और क्रियात्मक सहानुभूतिके सैकड़ों ही दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। हाँ, दूनकी हाँकनेवाले दम्भियोंसे उन्हें बड़ी चिढ़ है। कलकत्तेमें एक बार वे हमारे यहाँ ठहरे। उन दिनों श्री रायके अनुयायी—रायिष्ट युवकोंकी मीटिङ्ग अक्सर हमारे घर पर ही होती थी। श्रीरामजीने एकाध बार उनके वादविवादोंको सुना और फिर कहा "क्या फालतू छोकरे आपके यहाँ इकट्ठे होते हैं! इनमें से एक भी 'क्रान्ति'का अर्थ नहीं समझता और ये घंटों 'क्रान्ति' 'क्रान्ति' बका करते हैं।" अपने सम्मान्य अतिथियोंके विषयमें इस प्रकारकी कटु आलोचना सुननेके लिए हम बिल्कुल तैयार न थे। हमने शर्माजीसे बहस भी की। तब उन्होंने कहा "चौबेजी! कभी हम किसी असली क्रान्तिकारीसे आपका परिचय करावेंगे" और उन्होंने अपने वचनका पालन भी किया। 'आसामी बाबू' नामक क्रान्तिकारीको हमारे यहाँ भेज दिया, जो समस्त उत्तर भारतके क्रान्तिकारियोंके नेता थे!

शर्माजी सस्ती भावुकताके बहुत विरोधी हैं। कोई भी किसान, जिसे अन्नके दानोंके लिए पृथ्वी तथा प्रकृतिसे निरन्तर संघर्ष करना पड़ा हो और उनसे भी भयंकर सरकारी मुलाज़िमों और ज़मींदारोंसे, अपने हृदयमें निरर्थक कोमलताको आश्रय नहीं दे सकता। उन्होंने अपने यहाँ

टमाटर, पपीता, मटर इत्यादिकी खेती की थी। चकोतरा इत्यादि फल भी लगाये थे। दुर्भाग्यवश वहाँ कुछ बन्दर पहुंच गये। श्रीरामजीने उन्हें अपनी बन्दूकका निशाना बनाकर परम धाम भेज दिया ! पन्द्रह वर्ष पहले एक बार उनके साथ उनके ग्राममें टहल रहा था। पीपलके एक ऊँचे पेड़को बतलाते हुए आप बोले "कुछ दिन पहले यहाँ एक 'ज्ञानगुनसागर' आ गये थे और वे इस पीपलके सबसे ऊँचे भाग पर जा बिराजे। मैं उन दिनों टाइफाइडसे बहुत कमज़ोर हो गया था, फिर भी धीरे-धीरे यहाँ आया, निशाना लिया और वे महाशय टपक पड़े ! खेतमें उन्हें गाड़ दिया। बहुत अच्छी खाद बन गई"।

मेरे मुँहसे निकल गया "बड़े हिंसक हैं आप !" श्रीरामजी बोले 'किसानोंके लिए इस प्रकारकी हिंसा क्षम्य ही नहीं, अनिवार्य भी है। या तो फिर हमीं लोग पपीते और टमाटर खालें या फिर बन्दर ! कौन खावे ? आप ही फैसला कीजिये' मैं इस प्रश्नका कोई उत्तर न दे सका। सन् १९४७ में जब 'हरिजन'में महात्माजीने भी बन्दरोंके मारे जानेका समर्थन किया, तब मुझे शर्माजीका बारह वर्ष पहलेका सवाल याद आ गया ! अभी कुछ दिन पहले आपसे एक महानुभावने कहा—'हमारे आम तो सबके सब बन्दर खा जाते हैं ! क्या किया जाय ?' श्रीरामजीने कहा "आमोंकी रक्षा हो सकती है। उपाय हम कर देंगे। पचास फ़ीसदी आम हमारे !" वे महाशय राज़ी हो गये। श्रीरामजीने जो उपाय किया, उसे बतलानेकी ज़रूरत नहीं ! मालूम नहीं कि उन महाशयने अपनी ओरसे शर्तका पालन किया या नहीं ! जब श्रीरामजी अपने ग्राम जाते हैं तो कितने ही किसान कृषि-विनाशक जन्तुओंकी अन्त्येष्टि करनेके लिए उनसे आग्रह करते हैं। अभी उस दिन उन्होंने कहा "ज़्यादा वक़्त तो हमारे पास था नहीं, फिर भी तीन नीलगाय धुनक दीं !" नीलगाय (जो वस्तुतः गाय नहीं होती) खेतीका बेहद नुकसान करती हैं और स्वर्गीय महावीरप्रसादजी द्विवेदी भी उनके विनाशके घोर पक्षपाती थे। द्विवेदीजी

श्रीरामजीकी व्यावहारिक किसानबुद्धिसे बहुत प्रसन्न हुए थे। अभी कुछ दिन पूर्व रेलसे चोरी करनेवाले कुछ भ्रष्टाचारियोंकी ख़ासी मरम्मत आपके ग्रामके निकट हो गई थी ! इससे प्रतीत होता है कि श्रीरामजीके गाँववालोंने उनसे कुछ सीख लिया है !

कुछ वर्ष पहले एक महानुभावने हमें एक मनोरंजक घटना सुनाई। 'हमने अपने गाँवके लिए इक्का किया ही था कि इतनेमें दरोगाजीके सिपाहीने इक्के वालेको डाटते हुए कहा 'कहाँ जाता है ? चल बे ! दरोगाजीने बुलाया है।' इक्केवाला होशियार था, प्रत्युत्पन्नमति था। तुरन्त बोला, 'मुझे चलनेमें कोई ऐतराज नहीं, पर पंडितजीके गाँव किरथरे जा रहा हूँ।' सिपाही झेंपकर बोला 'तो जा, रहने दे'। इक्केवाला अपनी सूझके कारण बेगारसे बच गया ! इस प्रकार शर्माजीके दृढ़ व्यक्तित्वने न जाने कितने गाँववालोंको सरकारी अनाचारोंसे बचाया है।

× × ×

पशु, पक्षी, वन, पर्वत, खेत और खलिहान, चन्दा चमार और गोविन्दा अहीर तथा पीताम्बर धोबी, इन सबके साथ श्रीरामजीकी गहरी दोस्ती है और इन्हींके द्वारा उनकी भाषा-शैलीका निर्माण हुआ है। उन्होंने अपने जीवनसे शिक्षा पाई है और वही वास्तविक शिक्षा है, और अनेक बार उन्होंने अपने खूनसे लिखा है, इसी कारण उनकी लेखनशैलीमें सजीवता है। स्वर्गीय पंडित पद्मसिंहजी शर्माने श्रीरामजीके लेखों पर मुग्ध होकर लिखा था:—

"श्रीराम शर्मा प्रसिद्ध और सिद्ध अचूक निशाना लगानेवाले शिकारी हैं, आपके लेखोंका निशाना भी सीधा पाठकोंके हृदयों पर जाकर बैठता है—पढ़नेवाला लोट-पोट हो जाता है....आप लेखोंमें शिकार [वध्यपशु] और शिकारीकी चित्तवृत्तिका ऐसा जीता जागता चित्र खींचते हैं कि देखकर सहृदय पाठक आश्चर्य चकित रह जाता है—लेखककी क़लम चूमनेको जी चाहता है। आपकी वर्णन-शैली बड़ी सजीव, भाव-विश्ले-

षण मनो-विज्ञान-सम्मत और भाषा विषयके अनुरूप बड़ी सुघड़ होती है।"

पर सबसे बढ़िया प्रमाणपत्र श्रीरामजीको , स्व० आचार्य द्विवेदीजीसे मिला था, जब हम लोगोंने साथ-साथ दौलतपुरकी तीर्थयात्रा की थी। द्विवेदीजीने एक दिन हमसे कहा "चौबेजी, तुम भाषा लिखना श्रीरामजीसे सीख लो।" श्रीरामजी इस बातसे बहुत सकुचा गये और फिर हमसे बोले "कहीं इस बातको छाप न देना।" हिन्दीके युग-निर्माता द्विवेदीजी तथा अद्वितीय शैलीकार पद्मसिंहजीके इन कथनोंके बाद श्रीरामजीकी भाषा-शैलीके विषयमें कुछ भी कहनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती।

× × ×

यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्रीरामजी अपनेको कोई बहुत अच्छा शिकारी नहीं मानते, बल्कि "शिकारी लेखक" नाम भी उनको अप्रिय है; क्योंकि उससे यह ध्वनि निकलती है कि उनकी वृत्ति ही शिकार खेलनेकी है, जो सर्वथा असत्य है। कहते हैं कि जब लैनिन काम करते-करते बहुत थक जाता था तो अपना स्वास्थ्य लाभ करनेके लिए शिकार खेलने चला जाता था और वहाँसे चित्तकी एकाग्रता तथा शारीरिक परिश्रमके कारण तन्दुरुस्त होकर लौटता था। कम्यूनिस्टोंके घोर विरोधी होते हुए भी श्रीरामजी इस विषयमें आचार्य लेनिनके अनुयायी हैं——

"भाग्य-भँवरके थपेड़ोंसे व्याकुल, शरीरसे क्लान्त और सम्बन्धियों तथा मित्रोंसे त्याज्य——एक प्रकारसे उपेक्षित और भुलाया हुआ——मैं कष्टोंके रसातलकी ओर धीरे-धीरे सरक रहा था। अधपके आम की तरह भीतर-ही-भीतर घुला जाता था।....पर युद्ध करनेकी प्रवृत्ति अथवा भगवान्की प्रेरणासे दृष्टि सर्वदा आशा प्रभातकी ओर रही है, इसलिए डेढ़ वर्ष उपरान्त उस अन्धकार कालमें एक आशा किरण दिखाई पड़ी और सबसे पहले मैंने शिकार खेलनेका प्रोग्राम बनाया और वह भी सात· आठ दिनके लिए।"

शिकार एक बहुत ही ख़र्चीला व्यसन है और श्रीरामजी-जैसे साधारण स्थितिके व्यक्तिके लिए यह कभी भी सम्भव नहीं रहा कि वह उसे स्वीकार कर सकें।

"गृहस्थी-भार-शृङ्खलासे जकड़े और चिन्ता-चितापर जलते व्यक्तिको किसी प्रकार वर्षमें दो-चार दिन मन-बहलाव और प्रकृति-दर्शनके लिए मिल जायें—और उन दिनों वह घर-द्वारको भूल सके—तो उसे भाग्यशाली समझना चाहिए। मेरी गणना ऐसे ही भाग्यशाली व्यक्तियोंमें की जा सकती है।"

साधन-सम्पन्न शिकारी व्यक्ति श्रीरामजीसे और श्रीरामजी उनसे ईर्षा करते हैं! उनके पास ठीक निशाना लगानेवाली लेखशैली नहीं और इनके पास फालतू कारतूस तथा उच्च कोटिकी बन्दूक नहीं!

जब हमारे अधिकांश लेखक नगरोंकी सकरी गलियोंमें ही चक्कर लगाया करते हैं, गल्पों तथा उपन्यासोंमें इधर सुकुमार बालिकाएँ अपने प्रेमी युवकोंका स्मरण करती हुई सूखती जाती हैं और उधर विरही प्रेमियोंकी हृत्तंत्रीके तार टूटते हुए सुनाई पड़ते हैं, तब मानो श्रीरामजी उनसे कहते हैं—

"आप भी कहाँ भटक रहे हैं! छोड़िये उन चिराभ्यस्त कूचों और गलियोंको और मेरे साथ कुछ वन्य प्रकृतिका भी अनुभव कीजिये—वहाँ स्वतंत्र आकाशके नीचे मुक्त पवनके साथ विचरण कीजिये।"

हम उन दिनोंकी याद कभी नहीं भूल सकते जब कि उनके एक-से-एक बढ़िया लेख हमें 'विशाल भारत' में छापनेके लिए मिलते थे। उनके शिकार-सप्ताहके वर्णन ने जमनाके कछारोंकी जो सैर कराई वह भी हमारे लिए स्मरणीय रहेगी।

उनके लेखोंमें कहीं आप चन्दा चमारको लंगोटा पहने, नंगे शरीर और नंगे पैर जेठकी दुपहरीमें कंकड खोदते हए पावेंगे तो कहीं हकीम

पीताम्बरको (जो जातिका धोबी था, बिल्कुल बेपढ़ा !) अपने इलाजसे सैकड़ों पशुओंकी जान बचाते हुए देखेंगे। कभी वे आपको टिहरी-मसूरी सड़कके जंगलों और झाड़ियोंकी सैर करावेंगे तो कभी उस भिलंगना नदीका दृश्य दिखलावेंगे, जिसके तटपर स्वामी रामतीर्थने अपना शरीर त्याग किया था। उनके शिकारके कितने ही वृत्तान्तोंको पढ़कर रोमांच हो आता है। कहीं आप उनकी रानपर सुअरकी काँपें पड़ती हुई देखेंगे, उन्हें कराहते हुए सुनेंगे और खूनके परनाले बहते हुए दृष्टिगोचर होंगे तो कहीं वे बाघसे बाल-बाल बचते हुए दीख पड़ेंगे। जब विशाल भारतमें उनके लिखे रोमांचकारी वृत्तान्त छपे थे तो कई व्यक्तियोंने हमसे पूछा था—क्या श्रीरामजी सचमुच बाघका शिकार करते हैं, या यों ही क़िस्से गढ़ देते हैं ?" इस प्रश्नको सुनकर हमें खेद हुआ था। बात वास्तवमें यह थी कि उन दिनों शिकार-साहित्यकी हमारे यहाँ बहुत ही कमी थी, और वह कमी अब भी ज्यों-की-त्यों विद्यमान है, यद्यपि एकाध लेख इस विषयपर कभी-कभी निकल जाता है। स्वयं अपनी तथा देशकी परिस्थितियोंने श्रीरामजीको इधर कई वर्षोंसे शहरमें रहनेके लिए मजबूर कर दिया है और इसे हम दुर्भाग्य ही मानते हैं कि देशके स्वाधीन होनेपर भी श्रीरामजीके जीवन-संघर्षमें किसी भी प्रकारकी कमी नहीं हुई। वे मर्द आदमी हैं और अपने कष्टोंका किसीसे ज़िक्र भी नहीं करते। ग्राम्य जीवनसे प्राप्त अपनी शारीरिक शक्ति तथा आत्मिक दृढ़ता से ही वे घोर-से-घोर गार्हस्थिक दुर्घटनाओंमें अविचलित रहे हैं। सन् १९४२ के आन्दोलनमें आप, आपके बड़े भाई, पुत्र और पुत्री सभी जेलमें ठेल दिये गये थे और तत्पश्चात् दो बच्चोंकी मृत्यु ही हो गई—एक तीन वर्षका था और दूसरा दस वर्षका। आज ऐसे-ऐसे व्यक्ति हमारे शासक बन गये हैं जिनका त्याग श्रीरामजीके बलिदानका सहस्रांश भी नहीं है और जिनमें श्रीरामजीकी योग्यताका शतांश भी नहीं, पर श्रीरामजीने अपने बारेमें कभी चिन्ता नहीं की। त्यागकी हुंडी भुनानेवालोंमें वे नहीं हैं।

एक बात हमें ईमानदारीके साथ कहनी पड़ेगी कि कई वर्षसे श्रीरामजीकी साहित्यिकतामें निरन्तर कमी होती जा रही है और इसे हम हिन्दी-साहित्य-क्षेत्रका दुर्भाग्य ही मानते हैं। ग़नीमत यही है कि उनकी साहित्यिक कलाके क्षीण होनेके साथ-ही-साथ उनकी जीवन कलाका उत्तरोत्तर विकास ही होता जाता है।

श्रीरामजीके पैर प्रारम्भसे ही ठोस ज़मीन पर रहे हैं और अब वे अपनेको सुदृढ़ चट्टान पर खड़ा हुआ पाते हैं। 'अधिक अन्न उपजाओ' और 'वृक्षारोपण' इत्यादिका कार्यक्रम उन्होंने शायद बीस वर्ष पहले ही प्रारम्भ कर दिया था और यदि उनको साधन और सुविधाएँ मिलें तो वे किसी भी बड़े-से-बड़े प्रान्तको और भी धनधान्य समृद्ध बनानेकी सामर्थ्य रखते हैं। श्रीरामजीका शासनमें विश्वास है; (पर उत्तर प्रदेशके शासकोंका आपमें विश्वास नहीं!) आजकल आप आगरा विकास-समितिके प्रधान हैं और उसीमें तन्मय! उनसे आप बात करें तो वे कभी हिसारकी गायोंकी चर्चा करेंगे तो कभी आलुओंकी फसलकी। कभी खादका ज़िक्र आवेगा तो कभी साग-तरकारीका। जानवरोंको अच्छा चारा कैसे मिले, गोवंशकी उन्नति कैसे हो, आगरा रेगिस्तान बननेसे कैसे रोका जाय, पशु-प्रदर्शिनीका प्रबन्ध कहाँ किया जाय, पौधोंकी नर्सरी कहाँ-कहाँ लगाई जायें, बस अब यही प्रश्न उनके दिमाग़में चक्कर काटा करते हैं। हम उनसे पत्रकारोंकी दुर्दशाका वृत्तान्त कह रहे थे; पर वे हमें बतला रहे थे कि इतने-इतने बड़े, इतने हज़ार मन आलू हमारे ज़िलेमें हुए। श्रमजीवी पत्रकार भले ही सूख कर छुआरा बन जायें, इसकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं—वे श्रमजीवी पत्रकार संगठनके भी क़ायल नहीं—उन्हें चिन्ता इस बातकी है कि हिसारसे जो साठ गायें वे लाने-वाले हैं, उन्हें यथोचित ढंग से कैसे वितरित किया जाय!

अभी उस दिन हम लोग साथ-साथ टहल रहे थे। मेरे मुँहसे एक वाक्य निकल गया "आजकल साहित्यके लिए सर्वथा समर्पित आत्माएं

नहीं दीख पड़ती ।" श्रीरामजीने गहरी दृष्टिसे मेरी ओर देखा [मानो वे मेरे पक्षके खोखलेपनको माँप रहे हों] और बोले—

"चौबेजी, मध्यकालीन युगके तुलसी और कबीरको छोड़कर आप क्या एक भी साहित्यसेवीका दृष्टान्त ऐसा दे सकते हैं, जिसने भूखे रहकर अमर साहित्यकी रचना की हो ?"

श्रीरामजी जिस उच्च कोटिकी तराजू पर साहित्यिकोंको तोलना चाहते हैं, उस पर तो अधिकांश हलके ही साबित होंगे । श्रीरामजीकी साहित्यिकताके ह्रासका एक कारण यह भी है कि अपनेसे योग्यतर साहित्यिकों या पत्रकारोंका संपर्क उनके लिए अप्राप्य है, जिनसे उन्हें कुछ प्रोत्साहन मिल सकता । और जो उनसे निचले दर्जेके हैं, उन्हें वे अपने बहुधंधीपनके कारण प्रोत्साहित नहीं कर सकते । कठिनाई यही है कि रामानन्द बाबू और सी० वाई० चिन्तामणिका अवतार इस देशमें बहुत वर्षों बाद होगा और वेल्सफोर्ड-जैसे पत्रकारके उत्पन्न होनेमें अभी देर है !

हर्षकी बात है कि श्रीरामजी शहरको छोड़कर, ग्रामजीवनको फिर अपनानेका निश्चय कर चुके हैं और फीरोज़ाबादसे (जिसे वे चूड़ी नगर कहते हैं) छ:मील दूर अपनी कुटीका निर्माण कर रहे हैं । यह समाचार आस-पासके भेड़ियोंके लिए (निकटस्थ जंगली भेड़ियोंके लिए और फीरोज़ाबादके शहरी 'भ्रष्टाचारी-भेड़ियों'के लिए भी) अत्यन्त अशुभ हैं ! श्रीरामजीका सारा क्रोध अब नष्टप्राय ज़मीदारी प्रथासे उतर कर औद्योगिकतापर आ गया है और यदि उनको कहीं अहिंसात्मक तोपें मिल जायें तो वे हमारे नगर (फीरोज़ाबाद)को धराशायी किये बिना न मानें !

हमें दृढ़ विश्वास है कि ग्राम्य-जीवनसे श्रीरामजीका खोया हुआ साहित्यिक यौवन पुनः लौट आवेगा और राजनैतिक रेगिस्तानसे निकल कर वे साहित्योपवनका निर्माण करेंगे । सार्वजनिक रूपसे हम श्रीराम-

जीको यह बतला देना चाहते हैं कि हम लोग छोटे-छोटे आलुओंसे ही सन्तोष कर लेंगे। यदि श्रीरामजी हमें 'गंगाका जीवन चरित' लिख दें और 'बोलती प्रतिमा'-जैसे दस-बीस रेखा-चित्र। दीर्घकाय आलू उगानेवाले कृषि-विशेषज्ञोंकी हमारे यहाँ कमी नहीं, पर 'बोलती प्रतिमा' और गंगा-मैयाकी जीवनी लिखनेवाले अत्यन्त दुर्लभ हैं।

जुलाई '५०]

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

"क्या यह सच है कि किसी पड़ोसिनने आपकी माताजीके पास अचार डालनेके लिए कच्चे आम भेजे थे और श्रद्धेय माताजीको फ़िक्र हो गई थी कि नमक ख़रीदनेके लिए घरमें पैसा नहीं, अचार कैसे पड़ेगा ?" मैं धृष्ठतापूर्वक माननीय श्रीनिवास शास्त्रीसे पूछ बैठा। निशाना ठीक-ठिकाने बैठा था। सहृदय शास्त्रीजीके नेत्रोंके कोने सजल हो गये, पर वह तुरन्त ही सँभल गये और उन्होंने बड़े प्रेमपूर्वक कोमल स्वरमें कहा--

"हाँ, वह घटना बिल्कुल सत्य है। नमक-करके विरुद्ध भाषण देते हुए मैंने कौंसिलमें यह बात कही थी। सर० पी० सी० राय इस घटनासे इतने प्रभावित हुए कि जब मैं कलकत्ते पहुँचा तो उन्होंने मुझे हृदयसे लगाकर कहा--"शाबाश शास्त्री ! तुम्हीं अपनी ग़रीबीका ऐसा स्पष्ट वर्णन कर सकते थे।"

अन्तःकरणसे मैंने भी शास्त्रीजीकी माताका अभिनन्दन किया।

शास्त्रीजीकी माताजीकी एक समानशीला छोटी बहन ग्राम भयाना शुजालपुर (ग्वालियर)में रहती थीं। उनके पूज्य पति पक्के वैष्णव थे और "भोजनाच्छादने चिन्ता वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः" मन्त्रके कट्टर उपासक ! वहीं एक गोशालामें आजसे पचास-बावन वर्ष पहले एक बालकने जन्म लिया था। यदि आज 'नवीन'जीमें अलल-बछेड़ों-जैसा कुछ नटखटपन पाया जाता है तो उसमें उनका कुछ भी अपराध नहीं ! वह तो उनके जन्म-स्थानकी महिमाको ही प्रकट करता है। ख़ुद नवीनजीके ही शब्दोंको सुन लीजिये--

"मेरी माताजी कहा करती हैं कि गायोंके बाँधनेका एक बाड़ा मेरे ताऊजीके घरमें था। उसीमें अपने रामने जन्म लिया। वहाँ कई गायोंने

बछड़े ब्याये होंगे। मेरी जननीने उसी गोशालामें मुझे भी जना।...
मेरे पिता बहुत ग़रीब थे—निःसाधन, किन्तु भगवद्भक्त ब्राह्मण। अतः जन्मके वक़्त सिवा थाली बजनेके कुछ धूमधाम न हुई। गाँवका सादा जीवन, ग़रीबी और अर्थाभाव मेरे चिरपरिचित मित्र हैं।...मेरे परिवारके लोग चार आने महीनेके मकानमें रहते थे, फिर शायद आठ आने महीनेकेमें रहने लगे। बरसातमें मकान टपकता था। रात-भर सोना दूभर था। मैं ख़ूब खाता था। कुछ दूधकी भी ज़रूरत महसूस होती थी, पर दूधके लिए पैसे कहाँसे आयें? तब मातारामने अनाज पीसना शुरू किया। इससे जो पैसे मिलते थे, उससे मैं दूध पीता था!"

अभी साल-डेढ़साल पहले वह सती-साध्वी तपस्विनी माता इस संसारसे चल बसी और अवश्य ही वह उस लोकको गई होगी, जो ऐसी माताओंके लिए ही सुरक्षित है। यदि भारतवर्ष आज भी जीवित तथा जाग्रत है तो वह शास्त्रीजी और नवीनजीकी माताओं और उनकी बहनोंके कारण ही।

नवीनजी लिखते हैं—"कपड़ोंकी ऐसी कोई इफ़रात नहीं रहती थी। पैबन्द लगे कपड़े पहनना और सालमें सिर्फ़ दो धोतियोंपर गुज़र करना एक मामूली और बिल्कुल स्वाभाविक बात थी।"

और हमें फिर माननीय शास्त्रीजीके जीवनकी एक घटना याद आ रही है। जब शास्त्रीजी अन्नामलाई विश्व-विद्यालयके उप-कुलपति हो गये तो वह विद्यार्थियोंपर किये हुए जुर्माने निरन्तर माफ़ कर दिया करते थे। एक बार सब प्रोफ़ेसर उनके पास गये और बोले—"देखिये, आपकी क्षमाशीलताके परिणामस्वरूप हमारे कालेजका सारा अनुशासन ही नष्ट हुआ जा रहा है। हम नियंत्रण रखनेके लिए जुर्माने करते हैं और आप उन्हें माफ़ कर देते हैं!"

इसपर शास्त्रीजीने उत्तर दिया—"असली बात यह है कि ये जुर्माने मुझे अपनी छात्रावस्थाकी एक घटनाकी याद दिला देते हैं। एक बार

एक शिक्षक महोदयने मुझे क्लासमें डाटते हुए कहा--"शास्त्री, तुम्हारे कपड़े साफ़ क्यों नहीं ? जाओ, तुमपर आठ आने जुर्माने किये गये।" उस समय आँखोंमें आँसू भरे हुए मैं क्लाससे बाहर आया और सोचने लगा, साबुनके लिए एक आना तो माताजीके पास है नहीं, अठन्नी कहाँसे लायेगी ? सो जनाब ! आप लोग जो जुर्माने करते हैं, वे प्रायः ग़रीब माता-पिताओंको भुगतने पड़ते हैं !"

हमें यहाँ शास्त्रीजी तथा नवीनजीकी तुलना नहीं करनी है, यद्यपि अनुपम सहृदयता तथा सम्मोहक भाषण-शक्ति दोनोंमें समान है। हमारा कथन केवल इतना ही है कि ये दोनों ही 'धरतीके पूत' हैं।

राजनैतिक नवीनजीसे हमारा बिल्कुल परिचय नहीं, पर साहित्यिक नवीनजीको हम तीस-तीस वर्षसे जानते हैं। सम्भवतः अक्तूबर सन् १९१७में 'प्रताप' कार्यालयमें श्रद्धेय गणेशजीने उनका सूक्ष्म-सा परिचय दिया था, पर व्यर्थाभिमानवश हमने उस विद्यार्थीकी, जो क्राइस्ट चर्च कालेजमें एफ़० ए०में पढ़ता था, बिल्कुल उपेक्षा ही की थी। और 'प्रताप'-कार्यालयमें ही उससे अधिक उपेक्षा की थी, एक बन्दूक़धारी अन्य युवककी, जिसे लोग आज श्रीराम शर्मा कहते हैं ! कहाँ राजकुमार कालेजका ख्याति-प्राप्त प्रोफ़ेसर और कहाँ ये दोनों देहाती रंगरूट ! हम भी उन दिनों अपनेको कुछ समझते थे और स्वभावतः अपने अभिमानमें मस्त रहे। अपनी उस भूलका दुष्परिणाम हमें पिछले वर्षोंमें काफ़ी भुगतना पड़ा है। यदि कोई पाठक उन हुक्मनामों, फ़रमानों और फटकारोंको पढ़े, जो इन दोनों महानुभावोंसे हमें समय-समयपर मिलते रहते हैं तो वह हमें अव्वल नम्बरका फ़ालतू आदमी समझेगा। "तुमने यह नहीं किया, वह नहीं किया, तुम प्रमादी हो, वक़्त बर्बाद करते हो" आदि-आदि अजीबोग़रीब उपदेश हमें समय-समयपर मिला करते हैं !

'प्रताप'-परिवारके सदस्य होनेके कारण नवीनजीकी रचनाओंसे हम प्रारम्भसे ही परिचित रहे और तभीसे प्रशंसक भी। जब कभी स्व०

पद्मसिंहजी शर्माका लेख या नवीनजीकी कविता 'विशाल भारत'में आ जाती तो उस दिन एक उत्सव-सा हो जाता और स्वर्गीय ब्रजमोहनजी वर्माके उत्साहका क्या कहना ! स्पेशल चाय आर्डर की जाती । उन्हीं दिनों मुझे यह बात सूझी कि नवीनजीकी कविताओंका संग्रह किया जाय । पर एक अन्य बन्धु, श्री सूर्यनारायण तकरू, हमसे भी अधिक नवीन-जीकी रचनाओंके प्रेमी थे । उन तक ख़बर पहुँची तो उन्होंने हमें लिखा—"हैंड्स आफ़ नवीनजी" (नवीनजीपर हाथ न रखिये), पर उनका यह आदेश बिल्कुल अनावश्यक था । साँडोंसे खेती कराना जितना कठिन है, नवीनजीसे कोई साहित्यिक कार्य लेना उससे भी ज़्यादा मुश्किल ।

एक दिन 'प्रताप' कार्यालयमें हमने बहुत ज़िद की तो बड़ी गम्भीरतासे बोले—"सब संग्रह बिल्कुल तैयार है; बढ़िया काग़ज़का—फ़ैंदरवेट पेपरका—आर्डर फ्रांस भेजा था, सो वहाँकी गवर्मेण्ट ही फ़ेल हो गई । अब जब वहाँ स्थायी मंत्रिमंडल बने, तब तुम्हारे मनोनीत काव्य-संग्रह के लिए काग़ज़ आवे ।"

मैंने पूछा—"क्या काग़ज़के प्रश्नपर ही फ़रांसीसी मंत्रिमंडल टूट गया है ?"

नवीनजीने कहा—"और क्या ?"

ऐसा प्रतीत होता है कि निम्नलिखित चार घटनाएँ एक साथ ही—शायद सन् १९५०में—घटेंगी :—

(१) नौ मन तेलका एकत्रीकरण, (२) राधाका नृत्य, (३) स्थायी फ्रेंच सरकारकी स्थापना और (४) नवीनजीके गद्य-पद्य ग्रन्थोंका प्रकाशन ।

हाँ, एक बार किसी शुभ मुहूर्त्तमें 'कुंकुम' अवश्य प्रकाशित हो गया था और उसमें नवीनजीने बड़ी चालाकीसे काम लिया था—यानी अपनी सर्वोत्तम रचनाएँ उसमें प्रायः नहीं ही आने दीं । शायद उनका लेखा-जोखा ही उन्होंने नहीं रखा ।

पर नवीनजीके भक्त उतने मूर्ख नहीं हैं, जितना उन्होंने समझ रखा था। सुनिये, एक जोगी महाराज क्या फ़रमाते हैं :

"ओ मेरे प्राणोंकी पुतली !
आज ज़रा कुछ कह लेने दो,
यह प्रवाह कुछ तो बहने दो।
संयम ? मेरी प्राण, ज़रा तो—
आज असंयम में बहने दो ?
ज़रा देर तो अपने द्वारे—
मुझ जोगीको रह लेने दो।
आज ज़रा कुछ कह लेने दो।'

× × ×

मेरे इन उत्सुक हाथोंको
अपने युग पद गह लेने दो।

और नवीनजीकी 'आँखकी किरकिरी'का वह अनुपम चित्रण !—

अरी पड़ गई है कँकरी-सी मेरी आँखोंमें रानी,
बहता ही आता है रह-रह, देखो बूंद-बूंद पानी,
कंकराहट है, अकुलाहट है, नैनोंमें सुर्ख़ी भी है;
आशा है, तृष्णा है, विष है, आँखोंमें है नादानी।
अपर निशाके अर्धचन्द्र-सी,
मम तममय मन-अम्बरमें
चिन्तन-क्षितिज ओटसे
प्रकटो, झलको मम दृग-निर्झरमें
चकित, थकित, अति मथित,
व्यथित है हृदय-सिन्धु जलराशि प्रिये !
आवाहन हो रहा निरन्तर,
हहर-घहरते सागरमें।"

वह देखिये, कानपुरसे इलाहाबाद जाते हुए रेलमें ही नवीनजी कोई चीज़ लिख रहे हैं––

'आज तुम्हारी आँखोंमें
आँसू देखे, तड़पन देखी,
अमित चाह देखी, रिस देखी,
लोक-लाज, अड़चन देखी,
आज तुम्हारे नयन-पुटोंमें
सपनोंको जगते देखा,
आज अचानक सजनि, तुम्हारे
हियकी सब धड़कन देखी।
आज पान देते ही देते,
छलका नयनोंसे पानी;
देख तुम्हारी यह आतुरता,
मेरी मति गति अकुलानी,
मेरे धीरजकी भी कोई,
सीमा है कुछ सोचो तो !
देख अश्रु तो भड़क उठेगी,
मेरी भावुक नादानी'।

यदि नवीनजीसे इस विषयमें कोई अधिक पूछताछ करे तो वह कह देंगे––

"रहने दो उनकी संस्मृतियाँ,
बड़ी विकट, तूफ़ानी हैं।
उनके सभी अधकहे जुमले,
गहरे हैं, दूमानी हैं।'

सुना है कि एक बार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजीने नवीनजीसे पूछा––"क्योंजी, यह तुम्हारी सजनी, रानी, सखी,

प्राण, यह हैं कौन ? ज़रा बताओ तो ।"

नवीनजीने तनिक ढिठाईसे लेकिन कुछ झेंपते हुए उनसे बैसवाड़ीमें कहा—"अब आप बूढ़ भयौ, अब इनका परिचय पूछिके का करिहौ ?"

× × ×

अगर वर्तमान भारत सरकारमें कुछ भी साहित्यिक कल्पना-शक्ति होती तो वह नवीनजीको जेलमें बन्द कर देती और यह कहती, "जब आप 'गणेशजीके साथ पन्द्रह वर्ष' लिखकर हमें देंगे और सौ दो सौ ब्रिटिश जेलोंकी तरहकी बढ़िया कविताएँ, तब आपका छुटकारा होगा !"

धन्यवाद है ब्रिटिश गवर्नमेंटको कि उसने अलीगढ़ जेलमें नवीनजीसे यह 'आरती' लिखवा ली—

सखी, सँजोती हूँ जब दीपक,
तब होती गुदगुदी हियेमें,
बाँह झटक देते हैं वह, जब
भरती हूँ मैं तेल दियेमें ।
'हटो दूर' जब कहती हूँ तो,
और पास वह आ जाते हैं,
मुझे खीजती देख हुलसते,
वह नयनोंसे मुसकाते हैं ।

उनका यह 'विप्लव गायन' तो हिन्दी साहित्याकाशको गुंजारित कर चुका है —

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधरसे आये,
एक हिलोर उधरसे आये,

प्राणोंके लाले पड़ जायें,
त्राहि-त्राहि! रव नभमें छाये,
नाश और सत्यानाशोंका
धुँआधार नभमें छा जाये।

ऐसा प्रतीत होता है कि कविकी यह भविष्यवाणी कहीं सत्य ही न सिद्ध हो जाय! पर एक बार तो वह बिल्कुल असत्य सिद्ध हो चुकी है!

कुछ ऐसा ही-सा विधान है
मेरे इस लघुजीवनका,
कि बस नहीं मिलनेका मुझको
चिरसंगी मेरे मनका।

यदि हमारे कथनमें किसीको आशंका हो तो उसे ५ नं० विंडसर प्लेस, नई दिल्लीमें हमारे कथनका साक्षात् प्रमाण मिल सकता है! विंडसर नामकी महिमा अपरम्पार है!

यद्यपि हमें नवीनजीका यही प्रेमी रूप प्रिय है, तथापि उनका एक वीर रूप भी है और जनताके लिए वही मुख्य है। क्या ही गम्भीर ध्वनिमें वह कहते हैं—

आज खड्गकी धार कुण्ठिता है,
खाली तूणीर हुआ,
विजय-पताका झुकी हुई है,
लक्ष्यभ्रष्ट यह तीर हुआ।

स्वाधीनता-युद्धके वीर सेनानीकी इस मर्मस्पर्शी वेदनाको उन दिनों जिसने पढ़ा था, नवीनजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। ऐसी दो-चार कविताएँ भी किसी कविको अमर बना सकती हैं, पर चूँकि नवीनजी के उस चिरपरिचित क्षेत्रमें जानेका सौभाग्य हमें कभी प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए हम उन रचनाओंका उचित मूल्यांकन नहीं कर सकते। पर जब नवीनजी कहते हैं—

यों ही इस सूने जीवनमें,
संग मिला है कभी-कभी,
किन्तु अचिर ही रहे हृदयके
मेरे ग्राहकवर्ग सभी,
कुछ क्रीड़ा-सी करते आये,
कुछ शरमाये, कुछ मचले,
एक मधुर सौदा तो देखो,
टूट चुका है अभी-अभी।

तो उनके इस व्यापारसे हृदयमें कुछ गुदगुदी-सी हो जाती है !

हमारी प्रिय कविताओंमें उनकी 'धरतीके पूत' नामक कविता अग्रगण्य है और जब कभी नवीनजीको हम अपनी कल्पना शक्ति द्वारा उषाकालकी चायपर बुलाते हैं तो उनसे वही कविता सुनते हैं--

तुम पृथ्वीके सुवन, अरे तुम,
ओ, मृत्तिका–प्रसूत निरे,
तुम खेतों-खलिहानोंके सुत,
तुम धरतीके पूत निरे,
घास और कड़वी-संग शैशव-
काल बितानेवाले ओ !
तुम हो मक्का, ज्वार, चनोंके
संग-संग सम्भूत निरे।
वह नंगे पैरों नित रहना,
वह निःसाधनता प्यारी,
अपर्याप्त वे वस्त्र तुम्हारे,
वह दारिद्रय कष्टकारी,
ये तो बचपनके साथी हैं,
अबतक साथ निभाते हैं

अति दारिद्रच दैन्य पीड़ाके,
तुम हो शूल-मुकुट-धारी।

पर जब हमारी कल्पित चाय-पार्टीमें नवीनजी फ़र्माते हैं——

असफल जीवनमें रहे, रहे सदा श्रीहीन।
रहे न काऊ कामके, तुम अलमस्त नवीन॥

तो हमारे मुँहसे सहसा ये शब्द निकल पड़ते हैं——

मस्ती में जीवन बसे, राग भरी ज्यों बीन।
सकल काम तब सफल हैं, ओ निष्काम नवीन॥

बन्धुवर हरिशंकरजी शर्मा, पालीवालजी और श्रीरामजी शर्माके साथ-साथ नवीनजी भी बड़ा प्रभावशाली और प्रवाहयुक्त गद्य लिखते हैं। उनके कितने ही निबन्ध हमने अपने अध्ययनके लिए रख छोड़े हैं और हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि नवीनजीके निबन्धोंका प्रकाशन साहित्य-जगत्‌की एक महत्त्वपूर्ण घटना होगी। देखें, किस प्रकाशकको वह सौभाग्य प्राप्त होता है! हिन्दी गद्यकी वह यौवनपूर्ण शैली अभी तो यत्रतत्र बिखरी पड़ी है।

नवीनजीके पत्र-लेखकके रूपको सर्वथा गोपनीय रखना ही ठीक होगा। उनके पत्रोंमें सहज स्वाभाविकता है, कृत्रिमताका नामोनिशान नहीं पर दुर्भाग्यवश वे अन्तर्राष्ट्रिय भाषामें हैं और उनमें ऐसी ऊटपटांग बातें भरी हैं कि क्या कहना!

उनकी भाषण-शक्तिके विषयमें हम इतना ही कहेंगे कि गोरखपुर-सम्मेलनपर हमें उसका बहुत कटु अनुभव हुआ। इस ख़यालसे कि घासलेट-विरोधी प्रस्ताव पर कुछ रंगत रहेगी, हमने उनसे कह दिया——"तुम हमारे प्रस्तावका विरोध करो तो कुछ मज़ा आ जाय, नहीं तो यह सर्वसम्मतिसे पास हो जायगा।" पहले तो नवीनजीने टालना चाहा, पर विशेष आग्रह करनेपर राज़ी हो गये और बिना किसी तैयारी के हमारे विरुद्ध ऐसा ज़ोरदार भाषण दिया कि हमें सारा मामला उलटता हुआ नज़र आया।

नवीनजी भाषण दे रहे थे और मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि सचमुच घासलेट-विरोधी आन्दोलन मेरे जीवनकी घोरतम मूर्खता है। तत्पश्चात् कई बड़ी-बड़ी तोपोंको सामने लाकर उस पराजयको मैंने विजयमें परिवर्तित किया! श्री कृष्णबल्देव वर्मा, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी प्रभृति कुछ व्यक्तियोंने जब मेरा समर्थन किया, तब कहीं नवीनजीके भाषणका प्रभाव कम हुआ।

नवीनजीको सर्वोच्च सार्टीफिकेट हमारे एक कम्युनिस्ट मित्रने दिया-"नवीनजी सहृदय हैं, भोले हैं और भरमाये जा सकते हैं!"

इस चालाक दुनियामें कुछ व्यक्ति तो नवीनजी जैसे होने ही चाहिएँ, जो भरमाये जा सकें! सच पूछा जाय तो वह एक निर्द्वन्द फक्कड़ 'मनुष्य' हैं—सहृदय और सहिष्णु। नवीनजीमें अपने विश्वासोंके अनुसार चलनेकी शक्ति विद्यमान है और हिन्दी-हिन्दुस्तानीके मामलेमें उन्होंने महात्माजीके विरोधमें जाकर अपने दृढ़ व्यक्तित्वका ही परिचय दिया था। यद्यपि हमारी क्षुद्र सम्मतिमें नवीनजी ग़लत रास्तेपर थे, पर ग़लती करनेकी हिम्मत भी कितनोंको होती है—ख़ास तौरपर जब कि उनके अत्यन्त श्रद्धेय और वंद्य नेता एक निश्चित मार्गपर जा रहे हों? इसी प्रकार भारतके प्रधान मंत्री पं० जवाहरलालजीके अनन्य प्रशंसक होते हुए भी नवीनजी उनके अन्धभक्त नहीं है।

नवीनजीके कवि-रूपसे हम प्रेम करते हैं—उनके लेखक रूपसे हमें ईर्ष्या है और राजनैतिक रूपसे भय (या संकोच ?), पर जिस रूपकी हम वन्दना करते हैं वह निम्नलिखित पंक्तियोंमें अंकित है—

"जब मुझे कुछ होश हुआ तो मुझे इतना याद पड़ता है—मैं कोई तीन-साढ़ेतीन वर्ष का रहा हूँगा—कि मेरी माता मुझे गोदमें लिटाकर मीठे-मीठे विहागके स्वरोंमें अष्टछापके पदोंको गाकर लोरियाँ सुनातीं और सुलाया करती थीं। उस लोरीके एक पदकी कड़ी मुझे अभी तक

याद है और याद है अपनी अच्छी माँका वह वात्सल्यपूर्ण मुख और कम्पित कण्ठ स्वर !

माँ गाती थी—

पौढ़ि रहौ घनश्याम बलैयाँ लैहों,
पौढ़ि रहौ घनश्याम !
अति श्रम भयो बन गौऐं चरावत,
धौस परत है घाम;
बलैयाँ लैहौं, पौढ़ि रहो घनश्याम !"

उस प्रात:स्मरणीय तपस्विनी माताको और उस नटखट नंगधड़ंग बालकृष्णको सादर प्रणाम !

दिसम्बर १९४९]

श्री पालीवालजी

कलकत्तेके ग्रेट ईस्टर्न होटलके एक शानदार कमरेमें अमेरिकाकी सुप्रसिद्ध पत्रिका 'एशिया'के सम्पादक मि० वाल्शसे बातचीत हो रही थी। राजनैतिक विषयोंके छिड़नेपर मि० वाल्शने कहा--"मैं साधारण जनताका दृष्टिकोण इन मामलोंपर जानना चाहता हूँ। कल ही मैं उत्तर-भारतकी ओर जा रहा हूँ। क्या किसी ऐसे नेताका नाम आप बता सकते हैं, जो Masses के भावोंको मुझे बता सके।"

तुरन्त ही हमने कहा--"आप पालीवालजीसे मिलिये।"

मि० वाल्श आगरे आये, और पालीवालजीके घरपर उनसे मिले और उनके विस्तृत राजनैतिक ज्ञान, अद्भुत क्रियात्मक बुद्धि और स्पष्ट विचारशैलीसे अत्यन्त प्रभावित हुए।

पालीवालजीके व्यक्तित्वके प्रभावका मूल कारण उनकी वह प्रबल सहज बुद्धि है, जो प्रकृतिसे युद्ध करनेवाले श्रमिकोंमें पाई जाती है, और वह स्पष्ट विचारशैली है, जिसपर कोई भी सुलझे हुए दिमाग़का तार्किक गर्व कर सकता है। राजनैतिक दाँव-पेंचके जिस जंगलमें वास्तविकतासे कोसों दूर रहनेवाले शहरी नेता आसानीसे उलझ जाते हैं, वहाँ पालीवालजीकी ग्रामीण सहज बुद्धि उन्हें अपना मार्ग स्पष्ट बतला देती है।

पुराने ढंगके किसी कांग्रेसी नेताके और पालीवालजीके व्यक्तित्वोंकी तुलना करते हुए दोनोंका अन्तर साफ़ मालूम हो जाता है, और नेतृत्वके क्रम-विकासकी तस्वीर आँखोंके सामने खिच जाती है। उन दोनोंका अध्ययन 'आरामकुर्सी' और 'कंटकाकीर्ण पथ'का तुलनात्मक अध्ययन है।

भारतकी साधारण जनता किसी ऐसे नेताको नहीं चाहती, जो साहबी

ढंगसे ऊँची स्टाइलमें रहनेवाला विचित्र जन्तु हो। वह केवल उन्हींको स्वीकार कर सकती है जो उनकी तरह रहते हों, उन्हीं-जैसा खाते-पीते हों, उन्होंमेंसे एक हों। वह 'लीडर' नहीं चाहती, बन्धु (Comrade) चाहती है, और यह कामरेडशिप या बन्धुत्व पालीवालजीमें पूर्ण मात्रामें पाया जाता है। यदि उनके साथी दो-तीन बार जेल जाते हैं, तो वे छै बार, और यदि उनके साथियोंपर आर्थिक संकट पड़ता है, तो वे भी रूखी रोटीपर गुज़रकर उनकी भरपूर सहायता करते हैं। आजसे कुछ वर्ष पहले जब इन पंक्तियोंका लेखक हिन्दीके एक अत्यन्त प्रतिष्ठित पत्रकारके सम्मुख पालीवालजीकी कटु आलोचना कर रहा था, उन्होंने कहा—

"पालीवालजीको आप शुष्क-हृदय समझते हैं! मैं आपको बतलाऊँ कि अपने साथियों तथा कार्यकर्त्ताओंके प्रति ऐसा सहृदयतायुक्त बर्ताव बहुत कम लोग करते होंगे। आर्थिक संकटके दिनोंमें मुझे उनसे कई सौ रुपयेकी मदद मिली थी, जिसका ज़िक्र भी उन्होंने किसीसे नहीं किया।" पालीवालजीने अपने सहयोगियोंकी जितनी आर्थिक सहायता की है, उतनी दानशीलताका दम भरनेवाले अनेक धनाढ्योंने भी न की होगी।

इस बातसे लोगोंको आश्चर्य होगा, पर है यह बिलकुल ठीक कि पालीवालजीकी कठोर प्रवृत्तिके पीछे एक अत्यन्त कोमल प्रेमी हृदय छिपा हुआ है। उनका बन्धुत्वपूर्ण हार्दिक आलिंगन क्या कभी भुलाया जा सकता है? पर देशकी स्वाधीनताकी बलिवेदीपर यह निर्मोही सैनिक प्रेमकी कोमल-से-कोमल भावनाओंको भी बेखटके बलिदान कर सकता है। किसी देश-विद्रोहीके लिए पालीवालजीका आलिंगन वैसा ही विघातक हो सकता है, जैसा धृतराष्ट्रका भीमकी मूर्तिके प्रति हुआ था, अथवा शिवाजीका अफ़ज़लखाँके लिए!

पालीवालजीका घर किसी कुर्सी-तोड़ स्वयम्भू नेताका बँगला नहीं

है, जहाँ जाते हुए हमारे-जैसे पढ़े-लिखे ग्रादमीको भी डर लगता हो, गँवार किसानकी बात तो दूर रही। वह तो कार्यकर्त्ताग्रोंका ग्राश्रय-स्थान है, ग्रौर ऐसे ग्रवसरोंपर भी, जब ख़ुद पालीवालजीके पास खानेको पैसा नहीं था, उन्हें ग्राठ-ग्राठ दस-दस कार्यकर्त्ताग्रोंके भोजनका प्रबन्ध करते हुए हमने देखा है। पालीवालजीके लिए राजनीति ग्रारामतलबीके साथ ब्लूबुक्स (सरकारी रिपोर्टें)का ग्रध्ययन नहीं है ग्रौर न उनकी क्रियाशीलता ग्रँगरेज़ीके Fine phrases (कोमलकान्त पदावली) के प्रयोग तक ही परिमित है।

पालीवालजी उन लोगोंमेंसे नहीं हैं, जो हाथ-पाँव बचाकर मूज़ीको टरकानेकी नीतिमें विश्वास रखते हैं; उनकी नीति सदा मूज़ीकी गर्दन पकड़नेकी रही है, चाहे इस प्रयोगमें ग्रपने हाथ-पाँव तो क्या, जान भी सही-सलामत न निकले!

भारतीय जनता ग्रब कोरम-कोर विद्वत्तासे प्रभावित नहीं हो सकती। वह त्याग ग्रौर तपकी महिमाको भलीभाँति समझ गई है, ग्रौर पालीवाल-जीका जीवन एक तपस्वी सैनिकका जीवन रहा है।

पिछली बार जब पालीवालजी जेलसे छूटकर ग्राये, तो उनसे मिलनेके लिए हम उनके घरपर गये। माईथानकी एक गन्दी गलीमें उनका मकान मिला। पालीवालजी घरपर थे नहीं। उस वक़्त हमें एक मज़ाक़ सूझा। एक दोहा लिखकर वहाँ रख ग्राये—

"कहाँ ग्राइकैं हौ बसे गन्द गलीके तीर;
जहाँ जाइबेमें परै भक्तनपै ग्रति भीर।"

जब दूसरी बार हम उनसे मिलनेके लिए गये, तो पालीवालजीने सारा मामला समझाया, जिससे हमें ग्रपने व्यंगपर मन-ही-मन ग्रत्यन्त लज्जित होना पड़ा। यदि पालीवालजी चाहते, तो किसी प्रोफ़ेसरकी भाँति सात-ग्राठ सौ रुपये पाते होते ग्रौर शहरकी गन्दगीसे दूर किसी बढ़िया कोठीमें रहते ग्रौर बैंकमें हज़ारों रुपये होते ग्रौर होती चढ़नेके

लिए मोटर। पर तब पालीवालजी निर्जीव इतिहास पढाते, और आजकल वे सजीव इतिहासका निर्माण कर रहे है।

पालीवालजीको अपनी निर्धनतापर उचित अभिमान है--उस निर्धनतापर, जिसे उन्होने स्वय ही निमन्त्रित किया है। इस दृष्टिसे वे भृगु ऋषिके असली वशज है--उन भृगुके, जिन्होने लक्ष्मीपतिके लात मार दी थी।

जब दूसरे कितने ही नेता--केवल लिबरल दलके ही नही, काग्रेमी भी--बडे आदमियोकी खुशामद करते फिरते है, पालीवालजीके अदम्य स्वाभिमान और गौरवमय अक्खडपनको देखकर अत्यन्त हर्ष होता है। लोग कहते है कि पालीवालजी कठोर भाषाका प्रयोग करते है, वे सहनशील नही है, वे कभी-कभी साहित्यिक शिष्टताका उल्लघन कर जाते है। यह सुनकर हमे अमेरिकामे गुलामी-प्रथाके विरुद्ध घोर आन्दोलन करनेवाले गैरीसनकी एक बात याद आ जाती है। जब गेरीसनसे किसीने कहा--"आप जरा माडरेट भाषाका प्रयोग किया कीजिये", तो गैरीसनने कहा--"जनाब, गुलामोकी दुर्दशा देखकर मेरा दिल जल रहा है। आप आगसे कहते है कि वह ठडी हो जाय!"

पालीवालजीकी मनोवृत्तिके विषयमे भी वही बात कही जा सकती है। किसानो और मजदूरोपर होते हुए अत्याचार उन्होने अपनी आँखो देखे है। नौकरशाहीका नगा नाच वे नित्य-प्रति देखते है (जब शायद दूसरे प्रकारके नेता साहबो और मेमोका 'बाल-नाच' देखते हो)। पुलिसके जुल्मोके सैकडो दृष्टान्त उनके सामने गुजरे है, और देशकी गुलामीके कारण उनकी अन्तरात्मामे वह अग्नि प्रज्ज्वलित हो गई है, जो उन्हे कदापि शान्त नही रहने देती।

पालीवालजीकी कठोरता एक सैनिककी कठोरता है, और जिस दिन उन्होने 'साहित्य-रत्न' होते हुए साहित्य-क्षेत्रको तिलाजलि देकर सैनिक क्षेत्रमे प्रवेश किया, उसी दिन उन्होने माडरेटपन और कोमल भाषाको

अन्तिम नमस्कार कर दिया।

जो महानुभाव पालीवालजीके उग्र स्वभावसे घबराते हैं, उनसे हमें इतना ही कहना है कि हरएक आदमीकी कुछ मानुषिक कमज़ोरियाँ हुआ करती हैं, और जिह्वापर संयम न होना पालीवालजीकी एक बड़ी भारी कमज़ोरी है। पालीवालजी सचमुच ही एक ऐतिहासिक महापुरुष होते, यदि वे ज़बानपर क़ाबू रख सकते—खानेमें भी और बोलनेमें भी ! पर पालीवालजीके इस मरखनेपनपर विजय प्राप्त करनेके कुछ उपाय हैं। एक अनुभूत प्रयोग हम यहाँ लिखे देते हैं। जब पालीवालजीसे राजनैतिक विषयोंपर वाद-विवाद किया जाय, उस समय चार पैसेकी गँड़ेरी मँगाकर रख ली जावें। हमने ऐसा ही करके फिर पालीवालजीके सामने माननीय श्रीनिवास शास्त्री और पत्रकार-शिरोमणि सी० वाई० चिन्तामणिकी दिल खोलकर प्रशंसा की है ! जिस समय अपने राजनैतिक विरोधियोंके प्रति सहिष्णुता न होनेके कारण पालीवालजी दाँत पीसते हैं, उसी समय गँड़ेरी उनकी दाढ़के नीचे दबकर जिह्वाकी सरसताको बढ़ाकर उनकी कटुताको कम कर देती है ! पर एक मुश्किल है कि गँड़ेरी हर मौसममें मिलती नहीं। अभी उस दिन पालीवालजी दो महिलाओंसे लड़ पड़े। तब हमने अपना आज़मूदा नुस्ख़ा बतलाया। चूँकि गँड़ेरीका मौसम न था, इसलिए एक महिलाके प्रस्तावपर यह निश्चित हुआ कि गँड़ेरीकी जगह 'कसेरू' ले सकते हैं।

पालीवालजी प्रगतिशील हैं। राजनैतिक क्षेत्रमें अपनेको उचित ट्रेनिंग देनेका कोई अवसर वे नहीं छोड़ते। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी पालीवालजीकी राजनैतिक सूझ की अत्यन्त प्रशंसा करते थे, और उनकी सहज-बुद्धिपर अटल विश्वास रखते थे। पालीवालजीकी प्रगतिशीलताका एक दृष्टान्त सुन लीजिये। शहरोंमें रहते हुए और पत्रोंमें लेख लिखते हुए उन्हें ज्ञात हुआ कि वे अपनी ग्रामीण भाषाका प्रयोग भूलते जाते हैं। उन्होंने शीघ्र ही अपनी इस त्रुटिको दूर करनेका

उपाय करना प्रारम्भ किया, और ग्रामवासी कार्यकर्ताओंके भाषण सुनकर उन्होंने अपनी इस कमीकी पूर्ति कर ली। आज युक्त-प्रान्तमें शायद ही कोई ऐसा नेता निकले, जो ग्रामीण जनताको अपने हृद्गत भाव इतनी आसानीके साथ समझा सके। जब गाँववाले किसी अँगरेज़ीदाँ नेताके भाषणको सुनते हैं, तो कहते हैं—"कही तौ बानै कछु जरूर, बाके ओठऊ हिले, पर जि समझिमें नई आई कि का कहि गयौ!"

यदि इस देशमें क्रान्तिका युग लाना है, तो न वह बामुहावरे अँगरेज़ीसे आवेगा और न लच्छेदार कोमल साहित्यिक भाषासे; उसके लिए तो पालीवालजीकी ठेठ गँवारी भाषा सीखनी पड़ेगी। लेनिनकी स्त्रीने अपने संस्मरणोंमें एक जगह लिखा है कि लेनिनने बहुत प्रयत्न करके मज़दूरोंकी भाषण-शैली सीखी थी।

लोग कहते हैं कि पालीवालजीने यह त्याग किया है, वह त्याग किया है; पर वे उनके सबसे बड़े त्यागको भूल जाते हैं। पालीवालजीमें अद्भुत लेखनशक्ति है, उनकी क़लममें जादू है, आश्चर्यजनक परिश्रमशीलता है, और यदि वे अपनेको राजनैतिक झंझटोंसे अलग रखकर साहित्य-निर्माणमें लगाते, तो वे भारतके 'अप्टन सिनक्लेयर' बन जाते। अपने साहित्यिक भविष्यको राजनीतिक बलिवेदीपर क़ुर्बान कर देना, एक ऐसे आदमीके लिए, जो अपनी लेखनीके प्रभावको जानता है, अत्यन्त कठिन है।

पालीवालजीके विषयमें फ़ैसला देते हुए लोग एक बात भूल जाते हैं, वह यह कि वे क्रान्तिकारी हैं। चुंगी और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, कौन्सिल और एसेम्बलीमें पदार्पण उनके जीवनका लक्ष्य न कभी था और न कभी होगा। ये सब अन्तिम लक्ष्यके साधनमात्र हैं। सरकार इस बातको अच्छी तरह जानती है, और उसने पालीवालजी, उनके सैनिक तथा उनके साथियोंको दमन करनेमें कभी रियायत नहीं की। स्वर्गीय गणेशजीके 'प्रताप'को छोड़कर स्वार्थत्याग तथा बलिदानका 'सैनिक'-जैसा दृष्टान्त हिन्दी-जगत्‌में कोई दूसरा न होगा।

युक्तप्रान्तीय सरकारने अपनी एक रिपोर्टमें लिखा था--" 'सैनिक' निरन्तर साम्यवादी सिद्धान्तोंका प्रचार करता रहा ।" आज तो साम्यवादकी चर्चा पत्रोंमें बहुत काफ़ी चल रही है; पर आजसे कितने ही वर्ष पहलेसे पालीवालजी साम्यवादका विधिवत् अध्ययन कर रहे हैं और साम्यवादी विचारोंका प्रचार भी ।

पालीवालजीके राजनैतिक विचारोंकी बड़ी-भारी कमज़ोरी वही है, जो शासन या डिक्टेटरशिपमें विश्वास रखनेवालोंकी होती है । ऐसे लोगोंकी समझमें यह बात कदापि नहीं आ सकती कि असली साम्यवाद तो अराजकवादी साम्यवाद है, और यदि किसी देवताको भी डिक्टेटर बना दिया जाय, तो वह स्वभावतः दानव बन जाता है । देवराज इन्द्र तककी डिक्टेटरीके दुष्परिणाम जानते हुए भी लोग डिक्टेटरीमें कैसे विश्वास कर लेते हैं, यह बात हमारी बुद्धिके तो परे है । एक अराजकवादी तो पालीवालजीकी निर्दय डिक्टेटरीके अधीन रहनेके बजाय उनकी जेलमें रहना अधिक पसन्द करेगा ।

पालीवालजीका राजनीतिक भविष्य क्या होगा ? यह प्रश्न ज़रा कठिन है । फिर भी इतना कहा जा सकता है कि पालीवालजी उन आदमियोंमेंसे हैं, जिनके हाथमें या तो शासनकी बागडोर होगी, या फिर जिनकी गरदनमें रस्सीका फन्दा और सच बात तो यह है कि पाली-वालजी पहली चीज़की अपेक्षा दूसरीको ही अधिक पसन्द करेंगे ।

मैनपुरी-षड्यन्त्र केसके पालीवालजी और लेजिस्लेटिव एसेम्बलीके सदस्य श्रीयुत श्रीकृष्णदत्त पालीवाल एम० एल० ए०की मनोवृत्तिमें ज़रा भी अन्तर न होगा । पालीवालजी क्रान्तिकारी थे, हैं और रहेंगे ।

दिसम्बर १९३४]

श्री पथिकजी

समाचार-पत्रोंमें जहाँ कहीं राजस्थान नाम आता, वहीं पथिकका नाम दीख पड़ता, देशी रियासतोंकी अत्याचार-पीड़ित मूक जनताका जब कभी ज़िक्र आता—लोग पथिकका नाम लेते। मित्रोंसे जब कभी बातचीत होती वे कहते "भाई, काम करनेवाला तो एक ही है, 'पथिक'।"

मैं सोचता था पथिक कौन है? पथिकका जन्म कहाँ हुआ, उन्होंने क्या और कैसी शिक्षा पाई, इत्यादि बातोंके जाननेकी उत्कंठा मेरे दिलमें न तब थी, न अब है। मैं चाहता था कि कोई आदमी मुझे पथिकके उन गुणोंका परिचय दे, जिनके कारण उनका नाम दु:खित जनताके लिए इतना आदरणीय हो गया है, उनका चरित्र-चित्रण करे। मेरी यह इच्छा कुछ दिनों बाद पूर्ण हुई और बड़े आश्चर्य्यजनक ढंगसे पूर्ण हुई।

× × × ×

देशबन्धु सी० आर० दासके मकानपर महात्मा गान्धीजी व दीनबन्धु ऐंड्रूज़ बातचीत कर रहे थे। वहीं बैठा हुआ मैं भी इस वार्तालापको सुन रहा था। कुछ देर बाद मि० ऐंड्रूज़ने कहा "महादेव भाई कहाँ हैं?" महात्माजीने उत्तर दिया "वे कहीं बाहर गये हुए हैं, क्या आपको उनसे कुछ काम है?" मि० ऐंड्रूज़ने कहा "पथिकके विषयमें उनसे कुछ पूछना था। कौन हैं, कैसे आदमी हैं?" महात्माजी मुस्कराते हुए बोले—

"I can tell you something about Pathik. Pathik is worker while others are talkers. Pathik is a soldier, brave, impetuous, but obstinate. He was

Mahadev's infallible guide in Bijaulia and the remarkable thing is that the masses of Bijaulia have implicit confidence in him."

अर्थात् "मैं आपको पथिकके बारेमें कुछ बतला सकता हूँ। पथिक काम करनेवाला है, दूसरे सब बातूनी हैं। पथिक एक सिपाही आदमी है—बहादुर है, जोशीला और तेज़ मिज़ाज है, लेकिन ज़िद्दी है। जब महादेव भाई बिजौलिया गये थे, तब पथिक उनके निर्भ्रान्त साथी थे। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि बिजौलियाकी जनताका उनपर पूरा-पूरा विश्वास है।"

मनुष्य-चरित्रके जितने उत्तम ज्ञाता महात्मा गान्धी हैं, उतना शायद ही कोई दूसरा हो। "Pathik is a soldier" "पथिक एक सिपाही है" इन चार शब्दोंमें महात्माजीने पथिकके सम्पूर्ण चरित्रका परिचय दे दिया।

× × × ×

शान्ति निकेतनके कवितामय शान्त वायुमंडलमें रात्रिके समय प्रायः मि० ऐंड्रूज़से वार्तालाप करनेका सौभाग्य मुझे मिला करता था। कभी-कभी मि० ऐंड्रूज़ राजस्थानकी पीड़ित जनताका ज़िक्र करते और स्वयं वहाँ बेगार बन्द करानेके लिए जानेका विचार करते थे। पथिकके विषयमें भी प्रायः बातचीत होती थी। वे पथिककी बहादुरी और सेवा-भावकी बड़ी प्रशंसा करते थे। उन्होंने पथिकके साथ बिजौलिया तथा दूसरे स्थानोंमें घूमनेका निश्चय भी कर लिया था। दुर्भाग्यवश वे बीमार पड़ गये और राजस्थानकी यात्रा न कर सके।

उन दिनोंकी एक घटना मुझे याद है। पहले श्रीमान् बीकानेर-नरेशने मि० ऐंड्रूज़को अपने यहाँ निमन्त्रण दिया था, लेकिन जब महाराजा साहबने सुना कि मि० ऐंड्रूज़ पथिकके बुलाये हुए आ रहे हैं तो वे डर गये और अपना निमन्त्रण वापिस ले लिया!

राजस्थानके नरेशोंके हृदयपर पथिककी कैसी धाक बैठी थी, इसका यह एक उदाहरण है।

× × × ×

पथिकजीसे मेरा अब कई वर्षसे परिचय है। जब कभी मैंने उनके दर्शन किये, उनकी राजपूती डाढ़ी, तेजस्वी नेत्र, मुस्कराता चेहरा और वीरतापूर्ण बातचीत सभीमें उनके सिपाहीपनकी झलक मुझे दीख पड़ी। मेरी हार्दिक इच्छा थी कि कुछ दिन उनकी सेवामें रहकर उनके मनोरंजक अनुभवोंको सुनता। लेकिन यह सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ।

एक साथ ही अख़बारोंमें पढ़ा कि पथिकजी गिरफ़्तार कर लिये गये। इससे मुझे कुछ आश्चर्य नहीं हुआ। एक बार आबू स्टेशनसे राजपूतानेके ए० जी० जीके आफ़िसके एक क्लार्क उसी गाड़ीमें आ बैठे, जिसमें मैं बैठा हुआ था। बातचीत होनेपर मैंने उन महाशयसे पूछा "पथिकजीके विषयमें अधिकारियोंके क्या विचार हैं ?" उन्होंने उत्तर दिया "अधिकारी लोग उनको गिरफ़्तार करानेका मौक़ा देख रहे हैं।" जब पथिकजीके पकड़े जानेका समाचार मैंने पढ़ा, मैंने समझ लिया कि अधिकारियोंने अब मौक़ा पा लिया है।

यद्यपि पथिकजीके लिए हृदयमें कुछ चिन्ता हुई, तथापि यह सन्तोष था कि महाराणा प्रतापके वंशज उनके साथ मनुष्यताका बर्ताव करेंगे। लेकिन मेरी यह धारणा निर्मूल थी। बड़े दुःखके साथ मैंने पत्रोंमें पढ़ा कि पथिकजीके शरीरमें ख़ून नहीं है, उनकी बीमारी बढ़ रही है और उनका स्वास्थ्य गिरता जाता है। लेकिन इससे भी अधिक दुःख यह जान कर हुआ कि अधिकारी लोग पथिकके विरुद्ध राजस्थानमें असत्य विचार फैलानेका प्रयत्न कर रहे हैं। वे लिखते हैं कि पथिक मानिन्द एक डाकूके राजस्थानमें गड़बड़ मचा रहा था ! सिंहको पिंजड़ेमें बन्द करके उसपर थूकना इसीको कहते हैं !

× × × ×

पथिकजी इस समय क्या विचार करते होंगे ? उन्हें किस बातकी चिन्ता होगी ? तरुण राजस्थानकी ? नहीं, वह तो योग्य हाथोंमें है। राजस्थान-सेवासंघकी ? नहीं, क्योंकि वह तो अत्याचार-पीड़ित हृदयोंका संघ है, और हृदयोंके संघको आजतक संसारकी कोई निरंकुश शक्ति नहीं तोड़ सकी। अपने स्वास्थ्यकी ? हर्गिज़ नहीं, जिस दिन पथिकने देशभक्तिके कण्टकाकीर्ण पथके पथिक होनेका निश्चय किया था, उसी दिन उन्होंने अपनी जान हथेलीपर रख ली थी।

तो फिर पथिकको चिन्ता किस बातकी होगी ? महाराणा प्रतापके वंशजोंके गौरवकी। वे सोचते होंगे कि आज प्रातःस्मरणीय वीर प्रतापके वंशज एक सिपाहीके साथ सिपाहीकी तरह बर्ताव करना भी नहीं जानते ! यदि पथिकजी महाराणा प्रतापके समयमें होते तो वे प्रतापकी सेनाके एक वीर सेनाध्यक्ष होते। आज प्रतापके वंशज उन्हें ज़िन्दा गाड़नेका सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं !

आइये, हम लोग अब उस भविष्यकी एक झलक भी देख लें जब न अत्याचारी शासक होंगे और न मुंसरिम अमृतलाल, जब निरंकुशता रूसी ज़ारके मार्गका अनुसरण कर चुकी होगी, जब भारतके संयुक्त राष्ट्रोंमें स्वतन्त्र जनता स्वाधीनताका सुख अनुभव कर रही होगी। राजस्थानके तेजस्वी बालक अपनी माताओंसे पूछेंगे 'माँ ! पथिक कौन थे ?' और वे उत्तर देंगी, 'बेटा, पथिक स्वाधीनता-संग्रामके एक सिपाही थे, कायर शासकोंने घोल-घोलकर उनके प्राण ले लिये। न वे राजा रहे न वे शासक।' लोग उस समय समझेंगे कि महात्माजीके इस वाक्यका कितना गम्भीर अर्थ है 'Pathik is a soldier' 'पथिक एक सिपाही आदमी है।'

दिसम्बर १९२३]

श्री भगवानदासजी केला

१२ जुलाई, १९१०

रेलगाड़ी सहारनपुरसे मेरठ चली आ रही थी। मेरठ आनेमें बस बीस-पचीस मिनटकी देर थी कि इतनेमें एक बीस वर्षीय युवककी, जो उसी गाड़ीसे यात्रा कर रहा था, हालत बहुत ख़राब होने लगी। हृदयकी धड़कन बेहद बढ़ गई और उसे ऐसा प्रतीत होने लगा कि जीवनका अन्त निकट है और अब प्राणपखेरू उड़ने ही वाले हैं। उसी समय उस युवकने एक दिवास्वप्न देखा; मानो श्वेत वस्त्र पहने कोई देवी सामने खड़ी है, चेहरेपर उसके तेज है, दृढ़ता है और प्रेमकी स्पष्ट भावना है, और वह उस युवकको फटकार रही है—"तू व्यर्थ ही शोक करता है कि मैं माताकी सेवा न कर सका। तेरी बड़ी माता, तेरी माँकी भी माता, भारतमाता तो मौजूद है। तेरे मनमें सेवा करनेकी भावना है, तो तू उसकी सेवा कर। मैं तो उसी बड़ी मातामें मिल गई हूँ। तू मेरे लिए इतना घबराता है! ज़रा हृदयकी आँखोंको तो खोल और अपनी माताको पहचान।"

युवक सम्हलकर उठ बैठा। स्वप्न टूट चुका था। वहाँ कोई देवी नहीं थी, पर उस देवीका सन्देश अब भी उस मातृ-प्रेमी युवकके कानोंमें गूँज रहा था। वह सन्देश ही मानो उसके लिए संजीवन बूटी सिद्ध हुआ। स्टेशनके आते-आते हृदयकी गति ठीक हो गई, शरीरमें भी कुछ चेतना शक्ति आई और ऐसा प्रतीत हुआ कि उसे नवीन जीवन मिल गया है! वस्तुतः उस युवकको जीवनका एक लक्ष्य प्राप्त हो गया था और उसी क्षण उसने यह निश्चित कर लिया कि साहित्य-सेवा द्वारा मैं भारतमाताकी अर्चना करूँगा।

यही श्रद्धेय श्री भगवानदासजी केलाके पुनर्जन्म तथा भारतीय ग्रन्थ-मालाके जन्मकी कहानी है। केलाजीके समस्त जीवनमें यही मातृ-सेवाकी भावना विद्यमान है। और कैसी सती-साध्वी माता थी वह और कितने भयंकर दुःखोंका उस ग़रीब माँने सामना किया था !

बन्धुवर केलाजीके ही शब्दोंमें उनकी पुण्यगाथा सुन लीजिए :—

"मेरे जन्मके अगले ही वर्ष पूज्य पिताजी (श्री मथुरादासजी) का देहान्त हो गया। माताजीकी उम्र उस समय लगभग चालीस वर्षकी होगी। मैं उनकी अन्तिम सन्तान था। मुझसे पहले दस-ग्यारह सन्तानें हो चुकी थीं। उनमेंसे हम तीन भाई और एक बहन ही जीवित रहे थे। सन्तानके वियोगने माताजीको बहुत दुःखित कर दिया था और उनकी आँखें कमज़ोर हो गई थीं। जब कि मैं चार वर्षका ही था, मेरे जेष्ठ भ्राता (श्री बालमुकन्द) का स्वर्गवास हो गया। पीछे मेरी बहन भी चल बसी। तत्पश्चात् मेरे बिचले भाईका भी सन् १९०८ में स्वर्गवास हो गया ! अकेला मैं ही रह गया था। पिताजी पासके गाँवमें मुनीमी (या कारिन्दे) का काम किया करते थे। कुछ लेन-देन भी होता था। थोड़ी-सी ज़मीन भी थी, जिसमें खेती कराई जाती थी। पिताजी विशेष व्यवहार-कुशल न थे, इसलिए कुल मिलाकर उनकी आमदनी बस इतनी होती थी कि घरका काम साधारण तौरपर चलता जाता था। उनके स्वर्गवासपर घरमें विशेष जमा-पूँजी न थी। बड़े भाईने तीन वर्ष पटवारीगीरी की थी और वे ज़िलेदार बनने ही वाले थे कि उनका देहान्त हो गया। अब घरमें आमदनीका कोई साधन न रहा।

"माताजी कपास ओटतीं, सूत कातती और कपड़ा सीती थीं। सर्दीके मौसममें वे सवेरे उठ जातीं और बहुधा अँधेरेमें ही चर्खा चलाती रहतीं। अक्सर रातको सोते समय रुई चर्खीके पास रख दी जाती और सब व्यवस्था ऐसी कर दी जाती कि अँधेरेमें ही काम शुरू किया जा सके। अगर किसी दिन कुछ ख़ास ज़रूरत पड़ती, तो दिया जलाकर पूरी कर ली जाती।

पीछे दिया बुझा दिया जाता। इस तरह रातको भी दिया सिर्फ़ उतनी ही देर तक जलाया जाता, जितनी देर उसकी ज़रूरत होती। कपास ओटनेसे जो बिनौले मिलते, उन्हें माताजी समय-समयपर बेंचकर रोज़मर्राका फ़ुटकर ख़र्च चलातीं। रुई जब कोई इकट्ठा मोल लेनेवाला सौदागर आता, तब बेचती थीं। कुछ रुई अपने ख़र्चके वास्ते, सूत कातनेके लिए रख लेती थीं।

"माताजीकी निगाह कमज़ोर होनेसे बारीक सिलाईका काम नहीं होता था। पर वे दोहर, चद्दर, रजाईका गिलाफ़, मिरज़ई, ओढ़ना आदि सीनेका काम ख़ूब करती थीं और गाँवमें इसकी ही विशेष ज़रूरत रहती थी। सिलाईके कामके नक़द दाम मिलनेकी कोई बात नहीं होती थी। गाँवमें बहुत-से घर जाटोंके थे। उन्हें जब जो कपड़ा सिलानेकी ज़रूरत होती थी, सी दिया जाता था। कुछ दिन आगे-पीछे उनके यहाँसे फसलकी कोई चीज़ आ जाती थी। मिसालके तौर पर किसीके यहाँसे चावल आ जाता, किसीके यहाँसे एक-दो भेली गुड़की आ जाती, किसीके यहाँसे तिल या दूसरा अन्न ही आ जाता। दूध तो समय-समयपर आता ही रहता था। यद्यपि माताजी बहुधा चना, ज्वार, बाजरा, मक्का आदि खाती थीं, मेरे लिए प्रायः गेहूँकी रोटी बनाती थीं। गुड़, तेल आदि तो मेरे लिए वर्जित ही थे।"

केलाजीके जीवन और उनके कार्यको समझनेके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उनकी मातृ-भक्तिको ध्यानमें रखा जाय। इसी धुरीपर उनका समस्त जीवन घूमता रहा है। बाल्यावस्थामें उन्होंने एक कविता पढ़ी थी और वह उन्हें इतनी पसन्द आई थी कि उन्होंने उसे कंठस्थ कर लिया और आज भी वे उसे बड़े प्रेमसे दुहरा सकते हैं—

बहुत तुमने की साथ मेरे भलाई
मेरे वास्ते बहुत महनत उठाई

प्रभू आयु-धन मुझको देते जो भाई
तुम्हारी मैं दिलसे करूँ सेवकाई
मेरी प्यारी अम्मा !
मेरी जान अम्मा !

केलाजीके जीवनका एकमात्र लक्ष्य माताजीकी सेवा करना था। किसी ज्योतिषीसे उनके साथी-संगियोंने अपने-अपने भविष्यके विषयमें अनेक प्रश्न किये थे; पर केलाजीने एक ही सवाल पूछा—'क्या मुझे अपनी माताजीकी सेवा करनेका मौक़ा मिलेगा ?' पर दुर्भाग्यवश यह अवसर केलाजीको नहीं मिल सका। जब वे परीक्षा देनेके लिए रुड़की गये हुए थे, तभी माताजीका स्वर्गवास हो गया। वे अन्त समयमें उनके दर्शन भी न कर पाये ! केलाजीके समस्त जीवनका आधार ही जाता रहा, और उनकी निराशा इतनी बढ़ गई कि वे मृत्युकी कामना करने लगे ! बार-बार उनके मनमें यही भाव आता था कि अब जीवन निष्फल हो गया, ज़िन्दा रहकर करना ही क्या है ! इसी प्रकारकी मानसिक पीड़ा तथा जन्मजात शारीरिक दुर्बलताके दिनोंमें उन्हें मातमपुर्सीके लिए सहारन-पुरके एक ग्रामकी यात्रा करनी पड़ी थी और वहाँसे लौटते हुए रेलकी यात्रामें वह दुर्घटना, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है, होते-होते बची।

इस प्रकार भारतीय ग्रन्थमाला केलाजीके लिए कोरमकोर जीविका-का साधन नहीं है और न वह सिर्फ़ व्यापारकी ही चीज़ है; वह तो मुख्यतः उनकी मातृ-पूजाका ही एक रूप है। जो मातृ-वियोग केलाजीके लिए एक अभिशाप था, वही हिन्दी-साहित्यके लिए महान् वरदान सिद्ध हुआ, और सबसे बड़ी बात यह हुई कि उपर्युक्त दुर्घटनाने केलाजीके समस्त जीवनकी दिशा ही बदल दी। यह भी अच्छा ही हुआ कि केलाजी रुड़कीकी परीक्षामें असफल हुए, नहीं तो हिन्दी-जगत् अपने एक अनन्य साधककी सेवाओंसे वंचित ही हो गया होता ! पर केलाजी इंजीनियर तो फिर भी बन ही गये—नहरोंके न सही, साहित्य-धाराके सही ! जो कार्य

एक संस्था भी आसानीसे न कर सकती, उसे उन्होंने अकेले ही कर दिखाया है ।

कितनी विनम्रता पूर्वक और विकट साधनाके साथ अपने साधारण स्वास्थ्यके बावजूद यह साधक अपने निर्दिष्ट पथपर ३५ वर्षसे चलता रहा है ! केलाजीने कोई छुट्टियाँ नही मनाई, और अब साठ वर्षकी उम्रमें छुट्टी मनानेका ख़याल ही उनके मनसे उतर गया है । हिन्दी-जगत् मे ऐसे कार्यकर्त्ताओंकी संख्या कई सौ तो होगी, जिन्हे मानसिक भोजन केलाजीके ही सद्ग्रन्थोसे मिला है और जिनकी क्षुद्रत्वकी भावनाको दूर करनेमें उनकी पुस्तकोंने अद्भुत सहायता दी है ! अभी अपनी टीकमगढ़-यात्रामे केलाजीको कई कार्यकर्त्ता ऐसे मिले, जिन्होंने उनके सामने कृतज्ञतापूर्वक यह स्वीकार किया—'हम तो बीस-बीस वर्षसे आपके ही दिये हुए साहित्यसे ज्ञानार्जन करते रहे है । आपकी किताबोंने ही हमे दिमाग़ी खुराक दी है ।' केलाजीके लिए निस्सन्देह यह सबसे बड़ा सर्टीफिकेट है; पर इसे अर्जित करनेके लिए उन्हें बहुत खपना पड़ा है । घोर-से-घोर दुर्घटनाओके समयमे भी वे अपने निश्चित कार्यपर डटे रहे हैं । केलाजीके सुपुत्र चिरजीव ओम्प्रकाशने अपने एक पत्रमें मुझे दो घटनाएँ लिख भेजी थी, जो केलाजीके जीवन पर अच्छा प्रकाश डालती है । उन्हें हम यहाँ उद्धृत करते है—

"१५ जून, १९३४ की घटना मुझे भुलाये नही भूलती । मेरे बड़े भाईकी अवस्था उस समय १४ वर्षकी थी और स्वास्थ्यको छोड़कर अन्य गुणोंमे वे पिताजीके सर्वथा अनुरूप ही थे । पिताजीका स्वास्थ्य जितना खराब है, उनका स्वास्थ्य उतना ही अच्छा था । १४ वर्षकी उम्रमें वे १८ वर्ष-जैसे हृष्ट-पुष्ट युवक प्रतीत होते थे । भाषण-शक्ति उनमे असाधारण थी; क्योंकि बचपनसे ही उन्होंने उसका अभ्यास किया था । पिताजीने उन्हें सर्वथा अपनी कल्पनाके अनुसार ही पाया था और उनसे भविष्यमें बड़ी-बड़ी आशाएँ केवल उन्होंने ही नही, उनके मित्रोंने भी बाँध रखी

थीं। उन्हें उस वर्ष मोतीभरा निकला। आरम्भसे ही योग्य चिकित्सकों-का इलाज कराया गया। १५ जूनके प्रातःकाल तक हालत काफ़ी अच्छी थी; पर दोपहरको यकायक दशा बिगड़ने लगी और फिर वह बहुत ख़राब हो गई। तीन बजेके क़रीब उन्हें शय्यासे उतारकर भूमिपर ले लिया गया। पन्द्रह मिनटमें ही चार बार 'हरि ओ३म्' कहनेके बाद उन्होंने प्राण त्याग दिये। उनका यमुनामें जल-प्रवाह कर दिया गया और ६ बजे तक पिताजी श्मशानसे लौट आये। लौटकर वे तुरन्त ही लिखनेमें लग गये। जो मित्र इस समाचारको सुनकर शोकमें धैर्य बँधाने आये थे, उन्हें यह भ्रम हुआ कि शायद उन्हें ग़लत ख़बर मिली है। कुछ लोग तो इस भ्रमसे लौट ही गये; पर जिन्हें निश्चित पता था, उन्होंने पिताजीसे कहा कि आप ऐसी अवस्थामें कुछ लिख कैसे पा रहे हैं! पिताजीका संक्षिप्त उत्तर था—'मैंने और आपने भरसक प्रयत्न किये, पर ईश्वरकी इच्छा यही थी। मुझे अपना कार्य करना ही चाहिए।' गीताका उपदेश और वैराग्यकी बातें मैंने लोगोंसे प्रायः सुनी हैं; पर पिताजीके मुँहसे मैंने ऐसे कोई उपदेश नहीं सुने किन्तु घोर वज्रपातके समय उन्होंने अपने धैर्यपूर्ण व्यवहार द्वारा जो उपदेश दिया, वह जीवन-भर स्मरण रहेगा।"

केलाजी एक रास्तेके चले हुए आदमी हैं। दुनियादारीकी या लल्लो-चप्पोकी बातें उन्हें नहीं आतीं। अपने निर्णयको वे सीधी-सादी भाषामें कह देते हैं और यही ख़ूबी उनकी लेखनशैलीमें भी है। हमारी पिछली बीमारीमें वे कई बार अस्पतालमें पधारे और अनेक साहित्यिक विषयोंपर उनसे विचार परिवर्त्तन हुआ। अपनी कई योजनाएँ हमने उन्हें सुनाईं। केलाजीने धैर्यपूर्वक सब-कुछ सुना और अन्तमें एक वाक्यमें अपना फ़ैसला दे दिया—'चौबेजी, आपने अपनी दुकान बहुत फैला रखी है; इसे समेटोगे कब?" एक ऐसे महान् परिश्रमी व्यक्ति पर, जिसका सम्पूर्ण जीवन शक्तियोंके केन्द्रीकरणपर निर्मित हुआ है, हमारी कल्पनाकी

उड़ानें कोई प्रभाव नहीं डाल सकीं और उन्होंने हमारी विकेन्द्रित शक्तियोंपर एक वाक्य द्वारा गम्भीर टिप्पणी कर दी। हम उनकी स्पष्ट-वादितासे चकित रह गये। पर इस स्पष्टवादिताका एक और भी उज्ज्वल दृष्टान्त भाई ओम्प्रकाशजीने मुझे लिख भेजा है, जो इस प्रकार है—

"सन् १९४४ में द्वितीय महायुद्ध अपनी पूर्ण भीषणतापर था। सेनाके लिए आफिसर और सिपाही भारी संख्यामें लिये जा रहे थे। यह भी प्रतीत होने लगा था कि लड़ाईका निर्णय मित्र-राष्ट्रोंके पक्षमें होगा। मैं इसी समय बी० ए० पास करके आ चुका था। भविष्यमें क्या करूँगा, इसका निश्चय नहीं था। आफिसर बननेकी चाह थी। एमर्जेन्सी कमीशन प्राप्त करनेके लिए दो इंटरव्यू पाकर अन्तिम निर्णयके लिए देहरादून पहुँचा। वहाँ सेलेक्शन-बोर्ड द्वारा चुन भी लिया गया। देहरादूनसे लौटनेके पश्चात् भी इस बातको मैंने पिताजीसे गुप्त ही रखा और जिस दिन जाना था, उसी दिन मैंने पिताजीको यह सूचना दी कि मैं युद्धमें आफिसर बननेके लिए ट्रेनिंग प्राप्त करने जा रहा हूँ। पिताजीने मुझसे एक ही प्रश्न किया—'क्या तुम यह कार्य उचित समझते हो? क्या यह देशके प्रति विद्रोहात्मक नहीं है?' मेरा भी स्पष्ट उत्तर था—'मैं तो अंग्रेज़ी सेनामें भाड़ेका सिपाही बनूँगा और मेरे लिए एकमात्र आकर्षण भावी उन्नति है।' यह सुनकर पिताजीने केवल इतना कहा—'मुझे इस बातका भय नहीं कि तुम युद्धमें मारे जाओगे। मुझे दुःख भी नहीं होगा, क्योंकि मैं सिद्धान्तहीन व्यक्तिके जीवनको जीवन ही नहीं मानता। तुम्हारी मृत्यु तो आज हो चुकी। मुझे दुःख केवल इस बातका है कि जो बच्चा बाल्यावस्थामें यह गीत गाता था—

हम सूखे चने चबायेंगे,
काँटोंपर दौड़े जायेंगे,
पर शीश न कभी झुकायेंगे!

जिसके संस्कार देशभक्तिके डाले गये थे, जो उसी वातावरणमें पला था, वही आज अपनेको साम्राज्यवादी और शोषक शक्तियोंके हाथ बेच रहा है ! समय आनेपर सम्भव है, तुम अपने भाइयोंपर गोली चलवानेमें भी न चूको !' फिर भरे हुए कंठसे उन्होंने कहा—'तुम्हारे भाईकी मृत्युसे जो दुःख मुझे नहीं हुआ, वह तुम्हारे सेनामें भर्ती होनेसे हो रहा है । यह तुम्हारी ही मृत्यु नहीं, बल्कि आंशिक रूपसे मेरी भी मृत्यु है !' यह सुनने-के बाद मैं देहरादून न जा सका ।"

केलाजीका यह एक नियम रहा है कि वे सूर्योदयसे पूर्व ही अपनी साहित्यसेवा या मातृ-पूजाके कार्यपर बैठ जाते हैं और भोजनके समय तक बराबर उसीमें संलग्न रहते हैं । केलाजीको ज़्यादा बातचीत करनेका अभ्यास नहीं और भिन्न-भिन्न प्रकारके व्यक्तियोंसे परिचय बढ़ानेकी कला उन्होंने सीखी ही नहीं ! प्रयागमें रहते हुए उन्हें इतने वर्ष हो गये, पर इस बीचमें वहाँके केवल चार व्यक्तियोंसे ही उनका घनिष्ठ परिचय हो पाया है ! वृन्दावनमें भी वे इसी प्रकारके एकाकी जीवनके अभ्यस्त थे । किसी मीटिंगमें वे एक महानुभावके पास बैठे हुए थे । अकस्मात् उनसे आप पूछ बैठे—'आप कहाँ रहते हैं ?' उन्होंने उत्तर दिया—'जनाब, बीस वर्षसे आप ही के पिछवाड़ेके मकानमें रह रहा हूँ !' केलाजी बहुत लज्जित हुए । हमने कहीं पढ़ा था कि न्यूटनने किसी लेखपर अपना नाम देना इसलिए अस्वीकार कर दिया था कि नामके प्रकाशित होते ही उनके परिचितोंकी संख्यामें वृद्धि हो जायगी, जो उनके कार्यमें विघातक होगी । ऐसा प्रतीत होता है कि इस बारेमें केलाजी न्यूटनके सिद्धान्तसे बहुत आकर्षित हो गये हैं !

केलाजीके जीवनकी एक फिलासफी है और उसमें भी माताजीके उपदेशोंका प्राधान्य है ! उनकी बातचीतमें भी यह स्पष्टतया प्रकट हो जाता है । अभी उस दिन केलाजीने कहा—'हमारी माताजी भाभीको उपदेश देती थीं कि देख बेटी, अगर दस आदमी हमसे अच्छी हालतमें हैं, तो कितने ही हमसे बुरी हालतमें भी हैं, इस बातसे हमें सन्तोष कर लेना

चाहिए।' केलाजीके जीवनकी सफलताकी कुजी उनकी परिश्रमशीलता तथा संतोषमें है। अभी कुछ दिन हुए एक बैंकमें उनके सोलह सौ रुपये डूब गये। ये रुपये किताबोंकी बिक्रीसे आये थे, जिनमें कुछ तो उन्होंने उधार लेकर भेजी थी और एक सप्ताह पूर्व ही ये रुपये उस बैंकमें जमा किये गये थे। केलाजीके छोटे-से व्यापारपर यह एक घोर विपत्ति थी; पर केलाजीने इसका ज़िक्र अपने पुत्र तर्कसे नही किया! यही नहीं अपने कारोबारमें किसीका पैसा एक दिनके लिए भी न रोका। कोई दो महीने बाद प्रसंगवश उन्होंने घरवालोको यह बात बतलाई!

सोलह सौ रुपयेकी यह चोट एक ऐसे आदमीको, जिसने एक-एक पैसेके बचानेकी कोशिश की थी, कितनी व्यापी होगी, इसकी कल्पना पाठक केलाजीके निम्नलिखित पत्रको पढकर कर सकते है, जो उन्होंने अपने पुत्रको नागपुरसे लिखा था--

"इस बार मैंने निश्चय कर लिया था कि मेरा मासिक खर्च यहाँ १५ रु० से अधिक न हो। यहाँ घी सहित भोजन-खर्च १२) है और बिना घीका ९)। इस प्रकार केवल घीके तीन रुपये माहवार होते है। हम घर पर तीन-चार रुपयेका घी सब मिलकर खर्च करते है। इसलिए मैंने यहाँ बिना घीके भोजन लेना शुरू किया और १२-१३ दिन वैसे ही लिया। फिर श्रीरामगोपालजी किलोदसे घी ले आये; पीछे मैंने मोल मँगा लिया। अब घीका खर्च औसतन रुपया-सवा-रुपया महीना होगा। दूध पहले हम रोज़ लेते थे। एक डेयरीवालेसे बाँध रखा था, तीन आदमी सेर-भर लेते थे। ७॥) का ३२ सेर मिलता था। फिर उसे गरम करने आदिका काम रहता था, परन्तु ऐसे शहरोंमें दूध तो रोज़ केवल पैसेवाले धनिक लोग ही ले सकते है। हमने उसे बन्द कर दिया। अब ४-५ दिनमें कभी बहुत इच्छा हुई, उस दिन गरम करा-कराया दूध एक प्याला ले लिया, उसके -) से -)॥ तक लगते हैं। कपड़ा धुलाईका खर्च भी शहरमें बहुत अधिक होता है। मैंने छोटे कपड़े स्वयं

धोने शुरू कर दिये हैं । -) का साबुन ले लिया । हर एतवारको =) से ≡) तककी धुलाई कर लेता हूँ । -) के साबुनसे शायद ।।।) या १) तककी बचत हो सकेगी । इस प्रकार आदमी ज़रा ध्यान दे, तो अपने ख़र्चेमें थोड़ा-थोड़ा करके भी बहुत बचत कर सकता है । एक-एक पैसेकी भी बहुत क़ीमत समझनी चाहिए ।"

केलाजीको अपनी साधनाके विषयमें कोई अत्युक्तिमय धारणा नहीं है । कोई उसका ज़िक्र भी करे, तो यही कहकर टाल देते हैं--"अरे भई, औरोंके देखे हमें तो बहुत काफ़ी विज्ञापन मिल गया है, साधन भी मिले हैं । हिन्दी-जगत्में अनेक सुयोग्य व्यक्ति ऐसे हुए हैं, जो सचमुच बड़े साधक थे और जिन्होंने जीवन-भर कष्ट ही पाये ! उनके देखे हमारा जीवन तो बहुत सुविधामय रहा है । हमने क्या साधना की है ?"

इधर दो-तीन वर्षसे केलाजीको दमेकी बीमारी हो गई है और फिर एक बार तो वे अपने जीवनसे इतने निराश हो गये थे कि उन्होंने अपनी एक पुस्तकमें यह लिख दिया था--'शायद यह हमारी अन्तिम रचना है ।' पर उनकी यह आशंका ग़लत सिद्ध हुई और केलाजी हम लोगोंके सौभाग्यसे हमारे बीचमें विद्यमान हैं । कभी दम उखड़ आता है, तो रात-रात भर तंग रहना पड़ता है ! प्रातःकालमें दम उखड़ आनेपर टहलना भी बन्द हो जाता है, पर केलाजी अपने कार्यपर डटे रहते हैं । इस विषयमें बन्धुवर सियारामशरणजी ही उनका मुक़ाबला कर सकते हैं । वे भी अपने क्षणिक विश्रामके समय में उत्तमोत्तम कविताओंका निर्माण कर लेते हैं । हिन्दीके सहस्रों पाठकोंको इस बातका पता भी नहीं कि किस विषम परिस्थितिमें इन दोनों महान् साधकोंको अपनी रचनाएँ करनी पड़ती हैं !

अपनी एकाग्रता तथा एकाकीपनसे केलाजीके जीवनमें कुछ त्रुटियाँ भी आ गई हैं, जो उनकी सांसारिक सफलताके मार्गमें बाधक बन गई हैं ! उनको 'सामाजिक प्राणी' बनाना प्रायः असम्भव ही समझिए । किसी पार्टीमें उनको भोजन कराना ख़तरेसे खाली नहीं ! चायको तो वे छूते

ही नहीं ! भोजन भी नपा-तुला तीन-चार छटाँक ही करते हैं और बकौल श्री दयाशंकरजी दुबे के, 'केलाजीने भारतीयोंकी भोजन-मात्राका औसत ही गिरा दिया है !' अभी उस दिन हम उन्हें जामुन खिलानेके लिए ले गये। साथमें डाक्टर सत्येन्द्रजी भी थे। अभी पांच-सात जामुन ही खा पाये होंगे कि केलाजी बोल उठे—'बस, तृप्ति हो गई !' हमने उस समय यही कहा—'केलाजी, आप बहुत असामाजिक जीव हैं ! हम लोगोंने अभी जामुन खाना प्रारम्भ ही किया है और आप इस प्रकारकी असंस्कृत बात कहने लगे ! आप कहीं साथ ले जाने लायक नहीं !' इसपर खूब हँसी हुई। यद्यपि केलाजी-जैसे वयोवृद्ध व्यक्तिसे मज़ाक़ करना हम लोगों के लिए धृष्टताकी बात थी; तथापि इसमें हम लोगोंका अपराध अधिक नहीं था। स्वयं उनका भोलापन ही हमें प्रोत्साहित कर रहा था !

वस्तुतः केलाजीको पैंतीस वर्ष तक इतना अधिक एकान्त वास करना पड़ा है कि वे सामाजिक दृष्टिसे पंगु बन गये हैं। रेलमें अकेले यात्रा करना उनके लिए बहुत कठिन है। जयपुर गये, तो रेलमेंसे उतरना मुश्किल हो गया, और जब उतरे, तो जेबमेंसे किसीने रुपये-पैसे तथा टिकट ही ग़ायब कर दिये थे ! अभी टीकमगढ़-यात्राके समय रेलमें अपना सन्दूक़, जिसमें उनके ग्रन्थ और कपड़े कुरता, धोती इत्यादि थे, तीन रुपये और कुछ मिठाई भी—आप खो आये। केलाजीका भोलापन उनके चरित्रमें सबसे अधिक आकर्षक वस्तु है और उनकी 'असामाजिकता'से हिन्दी-जगत्‌को बहुत लाभ हुआ है। यदि उनमें गप्प लड़ानेका शौक़ होता, निम्नकोटिकी मिलनसारी होती, तो जो महान् कार्य उन्होंने किया है, उसका दशांश भी न कर पाते।

साठवर्षीय बालक

मातृ-मन्दिरमें केलाजी चौंतीस-पैंतीस पुष्पोंकी मनोहर माला अर्पित

कर चुके हैं।[१] यद्यपि उनका शरीर जीर्ण हो गया है; पर उत्साह ज्यों-का-त्यों बना है। अपनी किसी पुस्तकमें आदिम-निवासियोंके विषयमें एक वाक्य पढ़कर आपके मनमें विचार आया कि इस विषयपर तो हिन्दीमें कोई ग्रन्थ ही नहीं है। तुरन्त ही आपने इस विषयकी पुस्तक लिखानेकी योजना बना ली। उक्त पुस्तक लगभग तैयार है। आजकल मानव-संस्कृतिपर आप एक ग्रन्थ लिखनेकी तैयारी कर रहे हैं। केलाजी यह चाहते थे कि इस ग्रन्थके लिखनेका भार कोई आदर्शवादी नवयुवक उठा लेता। उन्हें इस बातकी लालसा नहीं कि स्वयं उन्हें ही श्रेय मिले या उक्त ग्रन्थ उन्हींकी ग्रन्थमालामें छपे। मातृभाषाके भण्डारकी पूर्ति होनी चाहिए, चाहे वह किसीके द्वारा हो।

हमने किसी अमरीकन पुस्तकमें एक घटना पढ़ी थी। अठारह-बीस वर्षकी एक युवतीका अपने प्रेमीसे विछोह हो गया था। वह इस वियोगमें पागल हो गई और उस पागलपनमें वह उस प्रेमीकी निरन्तर प्रतीक्षा ही करती रही। परिणाम यह हुआ कि सत्तर वर्षकी उम्रमें भी उस वृद्धाके चेहरेपर यौवनके चिह्न स्पष्टतया लक्षित होते थे! वह लड़की-जैसी ही लगती थी। मातृ-सेवाकी उत्कट अभिलाषा और आकस्मिक मातृ-वियोगने केलाजीके स्वभावमें एक बाल-सुलभ कोमलताको चिरस्थायी बना दिया है। वस्तुतः केलाजी एक साठवर्षीय बालक हैं। यह मातृ-भक्त बालक निरन्तर स्वस्थ रहे और हिन्दी-माताकी गोदमें चिरकाल तक खेलता रहे, यही हम सबकी कामना है।

जुलाई १९५०]

---

[१] **अन्य प्रकाशकोंके लिए भी उन्होंने आठ-नौ किताबें लिखी हैं।**

श्री गोविलजी

"पंडितजी, आप हमारी मीटिंगमें कभी नहीं आते। कभी आप भी चलें, तो मैं आपकी सेवामें कुछ निवेदन करूँ", बड़ी विनम्रतापूर्वक गोविलजी इस बातको अनेक बार दुहरा चुके थे और मैं उन्हें टरकानेके लिए केवल एक उत्तर दे दिया करता था, "हमारे सहायक वर्माजी सोलह आने आपके साथ हैं। उनसे काम लीजिये।" यद्यपि गोविलजीका वृत्तान्त विशाल भारतमें छप चुका था, पर मैं उन्हें कोरमकोर एक परिश्रमी व्यापारी ही समझा करता था। दिलमें सोचता कि इनके हमारे बीचमें ऐसा कोई विषय हो ही क्या सकता है, जिस पर हम दोनों दिल खोलकर बातचीत कर सकें। शुष्क टाइपोंके विषयमें रसकी कल्पना करना मेरे लिए बालूमेंसे तेल निकालनेकी कल्पनाके समान था। मेरा यह ख़्याल भी था कि गोविलजी अपने व्यापारके लिए घूमते फिरते हैं और इनकी मुस्कराहट कृत्रिम है और उसके पीछे कोई स्वार्थभावना है। इसलिए गोविलजीके अनेकों बार हमारे कार्यालयमें आनेपर भी मैं उनसे अलग ही-अलग रहा और शिष्टाचारके सिवा और कुछ बातचीत नहीं होने पाई। पर गोविलजीने अमेरिकामें पन्द्रह वर्ष योंही नहीं बिताये हैं। वे चौबेजीकी कमज़ोरी ताड़ गये और उन्होंने कहा, "पंडितजी, एक बार ऐसा कीजिये कि सन्ध्याको हमारे यहाँ ही पधारकर बातचीत कीजिये। सूक्ष्म जलपानका प्रबन्ध भी कर लिया जायगा।" उस महान् वैज्ञानिककी तरह जो गुबरीलोंके सिवा और किसी विषयमें दिलचस्पी नहीं रखता था और उन्हींके ध्यानमें मग्न रहता था, पर जो गुबरीले शब्दको सुनकर चौंक पड़ता था, हम भी जलपान शब्दसे जागृत हो गये और गोविलजीका निमंत्रण स्वीकृत कर लिया। वहाँ पहुँचकर हमें पता लगा कि गोविलजीके व्यक्तित्वमें

रसगुल्लेसे कई गुना अधिक माधुर्य है।

गोविलजी दरअसल व्यापारी नहीं हैं, वे कवि हैं, छन्द गढ़नेवाले कवि नहीं, बल्कि कल्पनाकी ऊँची उड़ान भरनेवाले व्यक्ति। भारतवर्षकी अशिक्षित जनताकी अन्धकारमय झोंपड़ियोंमें ज्ञानका दीपक ले जानेके लिए इस देशमें जो महानुभाव प्रयत्न कर रहे हैं, उन्हें इस बातका पता नहीं है कि इस दौड़में उनका एक ज़बरदस्त प्रतिद्वन्द्वी--प्रतिद्वन्द्वी नहीं सहायक इस समय ५४ नं० चौरंगी कलकत्तेमें रह रहा है। गोविलजीका सबसे अधिक आकर्षक गुण उनका फक्कड़पन है। "कभी घी घना तो कभी मुट्ठीभर चना" के सिद्धान्तका अनुकरण करनेकी प्रवृत्ति उनमें विद्यमान है; बल्कि वे उससे आगे बढ़कर यह भी कहनेको तैयार हैं, "कभी वह भी मना।" यदि आज वे बारह-सौ रुपये महीने पाते हैं तो कल अपने आदर्शके लिए बारह आने रोज़ पर मज़दूरी भी कर सकते हैं। श्रीमती गोविलजी फक्कड़शिरोमणि थोरोकी प्रशंसक हैं और यद्यपि गोविलजी अपनेको मामूली गृहस्थ ही समझते हैं, पर हैं वे फक्कड़ ही।

हमारे यहाँ जनतामें और नेताओंमें भी लोगोंपर आशंका करने की प्रवृत्ति बहुत पाई जाती है और किसी कार्यकर्ताके हृदयकी तहतक पहुँच कर उसको समझनेका भाव बहुत कम। अपना अपराध हम ऊपर स्वीकार कर चुके हैं। इस समय हिन्दी लाइनोटाइप गोविलजीका सबसे बड़ा काम माना जाता है पर दरअसल गोविलजी उसे विशेष महत्त्व नहीं देते। उनका मस्तिष्क साधारण जनताकी सेवाके लिए नित नये उपाय सोचा करता है। हम लोग सिनेमाओंके सुधारकी बातें बका करते हैं, पर व्यावहारिक रूपसे उस प्रश्न पर विचार कभी नहीं करते। इसका परिणाम यह होता है कि सिनेमाओंके पूंजीपति संचालक हम लोगोंकी आलोचनाओं पर कुछ भी ध्यान नहीं देते। पर गोविलजी कोरमकोर कल्पनाशील नहीं हैं। वे उस कल्पनाको कार्यरूपमें परिणत करनेकी शक्ति भी रखते हैं। उनकी सिनेमाओंके सुधारकी स्कीम ऐसी है, जो व्यावहारिक है और यदि

काममें लाई जाय तो आगामी पाँच-सात वर्षमें भारतीय सिनेमाओंमें क्रान्तिकारी परिवर्तन हो सकता है। गोविलजीको एक ही धुन है, वह यह कि किसी प्रकार भारतकी साधारण ग्रामीण जनताके जीवनमें कुछ माधुर्य लाया जाय। लाइनोटाइपके आविष्कारसे वे सन्तुष्ट नहीं हैं। वे कहते हैं, लाइनोटाइप मशीनके लिए १५ हजार रुपये चाहिए। मैं तो चाहता हूँ ४००---५०० रुपये खर्च करके किसी छोटे परगनेका आदमी विना टाइपकी मददके मासिक या साप्ताहिक पत्र निकाल ले, जिसके द्वारा वह आस-पासकी ग्रामीण जनतातक अपना सन्देश भेज सके।" अपने ढंग पर हिन्दी-टाइप-राइटर बनानेके प्रयत्नमें वे लगे हुए हैं और डुप्लीकेटरकी मददसे वे उपर्युक्त कामको करना चाहते हैं!

गोविलजीके आविष्कारोंका परिणाम कितना व्यापी हो सकता है, जिसका अनुमान अभी हम नहीं कर सकते। अभी उस दिन पटनेके योगी आफिसमें जाते हुए हमने देखा कि टाइपोंके केसोंसे जगह घिरी हुई थी। उस समय हमें ख़्याल आया कि गोविलजी द्वारा सुधरी हुई लिपिमें जब ७०० भिन्न-भिन्न अक्षरोंके बदले १५० ही अक्षर रह जायेंगे तो जगहकी कितनी किफ़ायत हो जायगी, कम्पोजीटरोंका काम कितना सरल हो जायगा, और उनकी स्पीड भी ड्योढ़ी हो जायगी। गोविलजीकी व्यापक दृष्टिका अनुमान इसी बातसे हो सकता है कि टाइप-फौण्डरीका काम उनके लाइनोटाइपके कामकी सर्वथा विरोधी गतिमें है, फिर भी वे उस दिशामें काम कर रहे हैं; और टाइपराइटर तथा डुप्लीकेटरका काम और भी दूर तक जनताके निकट ले जाने वाला है, जहाँ टाइपोंका भी झंझट नहीं रहता। गोविलजीने अपने हितको सबसे अन्तमें स्थान दिया है और यही उनके चरित्रकी खूबी है।

गोविलजीके मस्तिष्कका विकास केवल एक ही दिशामें नहीं हुआ। जितनी अच्छी तरह वे अपने टाइप सम्बन्धी अनुसन्धान कर सकते हैं, उतनी ही दिलचस्पीके साथ वे सांस्कृतिक काम भी कर सकते हैं। उस दिन

जब दीनबन्धु सी० एफ० एंड्रूज हावड़ेपर रेलसे उतरे तो मैंने उनसे कहा कि गोविलजी आपको लेने आये हैं। गोविलजी उस समय पचास गजकी दूरीपर थे। मि० एंड्रूजने तुरन्त ही कहा--

"I would like to meet Govil just now. He was a most sincere worker in America."

कवीन्द रवीन्द्रके स्वागतार्थ गोविलजीने जो प्रयत्न अमरीकामें किया था, उसके लिए गुरुदेवने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। गुरुदेवने लिखा था:--

११७२, पार्क ऐविन्यू
दिसम्बर १५, १९३०

"प्रिय गोविल जी,

आपने मेरे लिए जो कुछ किया है, उसके लिए मैं आपको पर्याप्त धन्यवाद देनेमें असमर्थ हूँ। आपने जो कोई भी काम हाथमें लिया, उसका अत्युत्तम ढंगसे प्रबन्ध किया और उसे गौरवपूर्ण सफलतासे पूरा किया। मेरे प्रति और मेरे उद्देश्यके प्रति आपकी निस्वार्थ भक्तिका मेरे हृदयपर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। भगवान् आपका भला करे।

आपका प्रिय
रवीन्द्रनाथ ठाकुर

गोविलजीके व्यक्तित्वमें अजीब आकर्षण है। अमेरिकाके सुप्रसिद्ध कलाकार ऐलवर्ट स्टर्नर आपके चेहरेको देखकर इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने गोविलजीसे कहा कि हम आपका लाइफ-साइज़ पूरा चित्र बनावेंगे। गोविलजी राज़ी हो गये और गोविलजीका यह चित्र न्यूयार्क, फिलेडिलफेया, वाशिंगटन तथा अन्य नगरोंकी बड़ी-बड़ी प्रदर्शनियोंमें प्रदर्शित भी किया गया। यद्यपि अब गोविलजीके शारीरिक सौन्दर्यमें कमी आ गई है, पर उनका बौद्धिक और आत्मिक सौन्दर्य बढ़ गया है।

गोविलजी जो काम कर सके हैं, उसके श्रेयका ५१ फ़ीसदी श्रीमती गोविलजीको मिलना चाहिए, क्योंकि उन्होंने आठ वर्षतक पियानो बजानेका

काम करके गृहस्थीका खर्च चलाया था। जब गोविलजी इससे कुछ शर्मिन्दा होने लगे तो उन्होने कहा था––"मैने तुमसे इसलिए थोड़े ही प्रेम किया था कि मै तुम पर भारस्वरूप होकर रहूँ। तुम मेरी चिन्ता मत करो और जो कार्य तुम्हारी रुचिके अनुकूल हो वही करते रहो।" श्रीमती गोविलजीकी इस अनुकरणीय पतिभक्तिकी जितनी प्रशसा की जाय थोड़ी होगी।

हम उस दृश्यको कभी नही भूल सकते, जब श्रीमती गोविलने जो एक सुशिक्षित अमेरिकन महिला है, गोविलजीके कपोलपर एक मधुर हलकी-सी चपत लगाते हुए कहा, "जब मै पहले-पहल इनसे मिली थी, इनका चेहरा कितना सुन्दर था, कितना मनोहर था, कितना कोमल था; पर अब इनमे परिवर्तन हो गया है। अब ये फाइटर (लडाके) बन गये है।" इसमे सन्देह नही कि गोविलजीको कठिनाइयोसे लड़ना पड़ा है। जो आदमी केवल दो पेनी (दो आने) की पूजी लेकर न्यूयार्कमे उतर सकता है और फिर १५ वर्षतक घोर जीवन-सग्राममे प्रवृत्त रह कर विजयी होकर और गृह-लक्ष्मीके साथ घर लौट सकता है, वह कोई मामूली आदमी नही है। पर इन कठिनाइयोने गोविलजीके स्वभावमे कटुता नही आने दी। उनकी मुस्कराहटमे उनकी आत्मिक सस्कृतिका वास्तविक प्रतिबिम्ब पाया जाता है। बड़ी खूबीकी बात यह है कि गोविलजीकी उन्नति रुक नही गई है। वे एक फक्कड़ जुआरीकी तरह अपनी वर्तमान सुविधाओकी बाजी भावी कार्यक्रमकी वेदीपर चाहे जब लगा सकते है।

यदि आपको किसी पत्रके कार्यालयमे लम्बे कद, गठीले बदन, बड़ी-बड़ी आँखे और मुस्कानवाला कोई आदमी लाइनोटाइप अथवा देव-नागरी लिपिमे सुधार इत्यादि विषयोपर बातचीत करता हुआ दीख पडे तो समझ लीजिए कि आप ऐसे व्यक्तिके निकट है, जिसकी सम्भावनाएँ असाधारण है और जिसका नाम कभी देशके बालकोकी पाठ्य पुस्तकोमे स्वावलम्बनके दृष्टान्त स्वरूप लिखा जायगा।

१९३५]

श्री नाथूरामजी प्रेमी

सबसे पहले प्रेमीजीके दर्शन इन्दौरमें हुए थे। स्थानका मुझे ठीक-ठीक स्मरण नहीं, शायद लाला जुगमंदरलालजी जज साहबकी कोठीपर हम दोनों मिले थे। इन्दौरमें महात्मा गान्धीजीके सभापतित्वमें सन् १९१८में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनका जो अधिवेशन हुआ था, उसीके आसपासका समय था। प्रेमीजीकी ग्रन्थ-मालाकी उन दिनों काफ़ी प्रसिद्धि हो चुकी थी और प्रारम्भमें ही उसके बारह सौ स्थायी ग्राहक बन गये थे। उन दिनों भी मेरे हृदयमें यह आकांक्षा थी कि हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालयसे मेरी किसी पुस्तकका प्रकाशन हो, पर प्रमादवश मैं अपनी कोई पुस्तक उनकी ग्रन्थ-मालामें आजतक नहीं छपा सका। सुना है जैन-शास्त्रोंमें सोलह प्रकारका प्रमाद बतलाया है। सत्रहवें प्रकारके प्रमाद--साहित्यिक प्रमाद--का प्रेमीजीको पता ही नहीं! इसलिए पच्चीस वर्ष तक वे इसी उम्मीदमें रहे कि शायद उनकी ग्रन्थ-मालाके लिए मैं कुछ लिख सकूँगा।

प्रेमीजीका यह बड़ा भारी गुण है कि वे दूसरोंकी त्रुटिके प्रति सदा क्षमाशील रहते हैं। अनेक साहित्यिकोंने उनके साथ घोर दुर्व्यवहार किया है, पर उनके प्रति भी वे कोई द्वेष-भाव नहीं रखते।

प्रेमीजीके जीवनका एक दर्शनशास्त्र है, उसे संक्षेपमें हम यों कह सकते हैं--ख़ूब डटकर परिश्रम करना, अपनी शक्तिके अनुसार कार्य हाथमें लेना, अपने वित्तके अनुसार दूसरोंकी सेवा करना और सबके प्रति सद्भाव रखना। यदि एक वाक्यमें कहें तो यों कह सकते हैं कि प्रेमीजी सच्चे साधक हैं।

पिछले तैंतीस वर्षोंमें प्रेमीजीसे बीसियों बार मिलनेका मौक़ा मिला

हैं। सन् १९२१मे तो कई महीने बम्बईमे उनके निकट ही रहनेका सौभाग्य भी प्राप्त हुआ था और विचार-परिवर्तनके पचासो ही अवसर मुझे प्राप्त हुए हैं। प्रेमीजीको कई बार कठोर चिट्ठियाँ मैंने लिखी है, कई दफा वाद-विवादमे कटु आलोचना भी की है और अनेक बार चायके नशेमे उनके घटेपर घटे बर्बाद किये हैं। पर इन तैंतीस वर्षोमे मैंने प्रेमीजीको कभी अपने ऊपर नाराज या उद्विग्न नही पाया। क्या मजाल कि एक भी कठोर शब्द उनकी कलमसे निकला हो, अथवा कभी भूलकर भी उन्होने अपने पत्रमे कोई कटुता आने दी हो। अपनी भाषा और भावोपर ऐसा स्वाभाविक नियन्त्रण केवल साधक लोग ही कर सकते हैं, हाँ कृत्रिम नियन्त्रणकी बात दूसरी है। वह तो व्यापारी लोग भी कर ले जाते हैं। प्रेमीजीके आत्म-सयमका आधार उनकी सच्ची धार्मिकता है, जब कि व्यापारियोके सयमकी नीव स्वार्थपर होती है।

प्रेमीजीका प्रथम पत्र जो मेरे पास सुरक्षित है, आषाढ वदी १२, सवत् १९७६का है। तीस वर्ष पूर्वके इस पत्रको मै यहाँ कृतज्ञता स्वरूप ज्यो-का-त्यो उद्धृत कर रहा हूँ।

"प्रिय महाशय,

तीन-चार दिन पहले मै महात्मा गाधीजीसे मिला था। आपको मालूम होगा कि उन्होने गुजरातीमे 'नवजीवन' नामका पत्र निकाला है और अब वे हिन्दीमे भी 'नवजीवन'को निकालना चाहते हैं। इसके लिए उन्हे एक हिन्दी सम्पादककी आवश्यकता है। मुझे उन्होने आज्ञा दी है कि एक अच्छे सम्पादककी मै खोज कर दूँ। परसो उनके नवजीवनके प्रबन्धकर्ता स्वामी आनन्दानन्दजीसे मेरी भेट हुई। मैंने आपका जिक्र किया तो उन्होने मेरी सूचनाको बहुत ही उपयुक्त समझा।

उन्होने आपकी लिखी हुई प्रवासी भारतवासी आदि पुस्तके पढी है।

क्या आप इस कार्यको करना पसन्द करेगे? वेतन आप जो चाहेगे, वह मिल सकेगा। इसके लिए कोई विवाद न होगा।

मेरी समझमें आपके रहनेसे पत्रकी दशा अच्छी हो जायगी और आपको भी अपने विचार प्रकट करनेका उपयुक्त क्षेत्र मिल जायगा। गांधीजीके पास रहनेका सुयोग अनायास प्राप्त होगा।

पत्रका आफ़िस अहमदाबादमें या बम्बईमें रहेगा।

गुजरातीकी १५ हज़ार प्रतियाँ निकलती हैं। हिन्दीकी भी इतनी ही या इससे अधिक निकलेंगी। पत्रोत्तर शीघ्र दीजिये।

भवदीय—
नाथूराम

यद्यपि पत्रका प्रारम्भ 'प्रिय महाशय' और अन्त भवदीयसे हुआ है, तथापि उससे प्रेमीजीकी आत्मीयता स्पष्टतया प्रकट होती है। प्रेमीजी जानते थे कि राजकुमार कालेज, इन्दौरकी नौकरीके कारण मुझे अपने साहित्यिक व्यक्तित्वको विकसित करनेका मौक़ा नहीं मिल रहा था। इसलिए उन्होंने महात्माजीके हिन्दी 'नवजीवन'के लिए मेरी सिफ़ारिश करके मेरे लिए विचारोंको प्रकट करनेका उपयुक्त क्षेत्र तलाश कर दिया था। खेदकी बात है कि मैं उस समय नवजीवनमें नहीं जा सका। मैं गुजराती बिल्कुल नहीं जानता था, इसलिए मैंने उस कार्यके लिए प्रयत्न भी नहीं किया। आगे चलकर बन्धुवर हरिभाऊजीने, जो गुजराती और मराठी दोनोंके ही अच्छे ज्ञाता हैं, बड़ी योग्यतापूर्वक हिन्दी-'नवजीवन'का सम्पादन किया। शायद मेरी मुक्तिकी काललब्धि नहीं हुई थी। प्रेमीजीके उक्त पत्रके सालभर बाद दीनबन्धु एंड्रूजके आदेशपर मैंने वह नौकरी छोड़ दी और उसके सवा साल बाद महात्माजीके आदेशानुसार मैं बम्बई पहुँच गया, जहाँ कई महीने तक प्रेमीजीके सत्संगका सुअवसर मिला।

आत्मीयताके साथ उपयोगी परामर्श देनेका गुण मैंने प्रेमीजीमें प्रथम परिचयसे ही पाया था, और फिर बम्बईमें तो उन्हींकी छत्रछायामें रहा। कच्चा दूध अमुक मुसलमानकी दुकानपर अच्छा मिलता है, दलिया वहाँसे

लिया करो, टहलनेका नियम बम्बईमे अनिवार्य है, भोजनकी व्यवस्था इस ढगसे करो और अमुक महाशयसे सावधान रहना, क्योकि वे उधारके रुपये आमदनीके खातेमे लिखते है, इत्यादि कितने ही उपदेश उन्होने मुझे दिये थे। यही नही, मेरी भोजन सम्बन्धी असाध्य व्यवस्थाको देखकर मुझे एक अन्नपूर्णा कुकर भी खरीदवा दिया था। यदि अपने बम्बई प्रवाससे मै सकुशल ही नही, तन्दुरुस्त भी लौट सका तो उसका श्रेय प्रेमीजीको ही है।

बम्बईमे मैने प्रेमीजीको नित्यप्रति ग्यारह-बारह घटे परिश्रम करते देखा है। सवेरे सातसे बारह बजे तक और फिर एकसे छै तक और तत्पश्चात् रातमे भी घटे दो घटे काम करना उनके लिए नित्यका नियम था। उनकी कठोर साधनाको देखकर आश्चर्य होता था। अपने ऊपर वे कमसे कम खर्च करते थे। घोडा गाडीमे भी बैठते हुए प्रेमीजीको मैने कभी नही देखा, मोटरकी तो बात बहुत दूर रही। बम्बईके चालीस वर्षके प्रवासके बाद भी बम्बईके अनेक भाग ऐसे होगे जहाँ प्रेमीजी अब तक नही गये। प्रात कालके समय घरसे टहलनेके लिए समुद्र तट तक और तत्पश्चात् घरसे दूकान और दूकानसे घर, बस प्रेमीजीकी दौड-धूप इसी दायरेमे सीमित थी। और कभी-कभी तो टहलनेका नियम भी टूट जाता था। अनेक बार प्रेमीजीका यह आदेश मुझे मिला था—"चौबेजी, आज मुझे तो दुकानका बहुत-सा काम है। इसलिए आज हेम आपके ही साथ जायगा।"

प्रेमीजी प्रत्येक पत्रका उत्तर अपने हाथसे लिखते थे। इस नियमका वे अब तक पालन करते रहे है। प्रूफ स्वय ही देखते थे, अनुवादोकी भाषाको मूलसे मिलाकर उनका सशोधन करते थे और आने-जानेवालोसे बातचीत भी करते थे। बम्बई पधारनेवाले साहित्यिकोका आतिथ्य तो मानो उन्हीके हिस्सेमे आया था। मैने उन्हे सप्ताहके सातो दिन और महीनोके तीसो दिन बिना किसी उद्विग्नताके काम करते देखा था। उम्रमे—और अक्लमे भी—छोटे होनेपर भी मै उन दिनो प्रेमीजीका

मज़ाक़ उड़ाया करता था। "आप भी क्या तेलीके बैलकी तरह लगे रहते हैं, घरसे दुकान और दुकानसे घर। इस चक्करसे कभी बाहर ही नहीं निकलते !" पर उस परिश्रमशीलताका मूल्य मै आगे चलकर आँक पाया, जब मैंने देखा कि उसीके कारण प्रेमीजी हिन्दीके सर्वश्रेष्ठ प्रकाशक बन गये, उसीकी वजहसे बीसियों लेखकोंकी रचनाएँ शुद्ध छप सकीं, उन्हें हिन्दी-जगत्में प्रतिष्ठा मिल सकी और मातृभाषाके भंडारमें अनेक उपयोगी ग्रन्थोंकी वृद्धि हो सकी।

प्रेमीजी प्रारम्भसे ही मितभाषी रहे हैं और बातूनी आदमियोंसे उनकी अक़्ल बहुत घ.राती है। हमारी कभी ख़तम न होनेवाली—, हितोपदेशके यमनक दमनकके क़िस्सोंकी तरह प्रासंगिक अथवा अप्रासंगिक विस्तारसे श्रोताके मग़ज़को चाट जानेवाली—बातोंको सुनकर वे अनेक बार चकित, स्तब्ध और स्तम्भित रह गये हैं और एकाध बार बड़े दबे शब्दोंमें उन्होंने हमारे मित्रोंसे कहा भी है, "चौबेजी, इतनी बातें कैसे कर लेते हैं, हमें तो इसीपर आश्चर्य होता है।"

× × ×

प्रेमीजीके विषयमें लिखते हुए हम इस बातपर ख़ास तौरसे ज़ोर देना चाहते हैं कि अत्यन्त साधारण स्थितिसे उन्होंने अपने आपको ऊँचा उठाया है। आजका युग जनसाधारणका युग है और प्रेमीजी साधारण जनके प्रतिनिधिके रूपमें वन्दनीय हैं।

प्रेमीजीको व्यापारमें जो सफलता मिली है, उसका मूल्य हमारी निगाहमें बहुत ही कम है, बल्कि नगण्य है। स्व० रामानन्द चट्टोपाध्यायने हमसे कहा था—"यह असम्भव है कि कोई भी व्यक्ति दूसरोंका शोषण किये बिना लखपती बन जाय।" जब अर्थ-संग्रहके मूलमें ही दोष विद्यमान है तो प्रेमीजी इस अपराधसे बरी नहीं हो सकते। पर हमें यहाँ उनकी आलोचना नहीं करनी है, बल्कि अपनी रुचिकी बात कहनी है। हमारे लिए आकर्षणकी वस्तु प्रेमीजीका संघर्षमय जीवन ही है। ज़रा कल्पना

कीजिए, प्रेमीजीके पिताजी श्री टूँड़े मोदी घोड़ेपर नमक-गुड वगैरह सामान लेकर देहातमे बेचने गये हुए है, और दिनभर मेहनत करके चार-पाँच आने पैसे कमाकर लाते है। घरके आदमी अत्यन्त दरिद्र अवस्थामें है। जो लोग मोदीजीसे कर्ज ले गये थे, वे देनेका नाम नही लेते। रूखा-सूखा जो कुछ मिलता है उसीसे सब घर पेट भर लेता है। इस अवस्थामे भी यदि कोई सकटग्रस्त आदमी उधार माँगने आता है तो मोदीजीके मुँहसे ना नही निकलती। इस कारण वे कर्जदार भी हो गये थे। स्व० हेमचन्द्रने लिखा था—

"एक बारकी बात है कि घरमे दाल-चावल पककर तैयार हुए थे और सब खानेको बैठनेवाले ही थे कि साहूकार कुडकी लेकर आया। उसने वसूलीमे चूल्हेपरका पीतलका बर्तन भी माँग लिया। उससे कहा गया कि 'भाई थोड़ी देर ठहर, हमे खाना खा लेने दे फिर बर्तन ले जाना', पर उसने कुछ न सुना। बर्तन वही राखमे उड़ेल दिये। खाना सब नीचे राखमे मिल गया और वह बर्तन लेकर चलता बना। सारे कुटुम्बको उस दिन फाका करना पड़ा।"

तत्पश्चात् हम प्रेमीजीको देहाती मदरसेमे मास्टरी करते हुए देखते है, जहाँ उनका वेतन छः-सात रुपये मासिक था। उनमेसे वे तीन रुपयेमे अपना काम चलाते थे और चार रुपये घर भेजते थे। उनकी इस बातसे हमे अपने पूज्य पिताजीकी किफ़ायतशारीकी याद आ जाती है। वे पचास वर्ष तक देहाती स्कूलोमे मुर्दारस रहे, और उनका औसत वेतन दस रुपये मासिक रहा।

दरअसल प्रेमीजी हमारे पिताजीकी पीढीके पुरुष है, जो परिश्रम तथा संयममे विश्वास रखती थी और जिसकी प्रशसनीय मितव्ययितासे लाभ उठानेवाले मनचले लोग उसी मितव्ययिताको कजूसीके नामसे पुकारते है! जहाँ प्रेमीजी एक एक पैसा बचानेकी ओर ध्यान देते है वहाँ समय पड़नेपर सैकड़ों रुपये दान करनेमे भी वे नही हिचकिचाते। अपनी

किफ़ायतशारीके कारण ही वे स्वाभिमानकी रक्षा कर सके हैं। यही नहीं, कितने ही लेखकोंको भी उनके स्वाभिमानकी रक्षा करनेमें वे सहायक हुए हैं।

प्रेमीजीका सम्पूर्ण जीवन संघर्ष करते ही बीता है और जब उनके आरामके दिन आये, तब दैवी दुर्घटनाने उनके सारे मनसूबोंपर पानी फेर दिया। दैवकी गति कोई नहीं जानता। ईश्वर ऐसा दुःख किसीको भी न दे। उक्त वज्रपातका समाचार प्रेमीजीने हमें इन शब्दोंमें भेजा था——

"मेरा भाग्य फूट गया और परसों रातको १२ बजे प्यारे हेमचन्द्रका जीवन-दीप बुझ गया। अब सब ओर अन्धकारके सिवाय और कुछ नहीं दिखलाई देता। कोई भी उपाय कारगर नहीं हुआ। बहूका न थमनेवाला आक्रन्दन छाती फाड़ रहा है। उसे कैसे समझाऊँ, समझमें नहीं आता। रोते-रोते उसे ग़श आ जाते हैं। विधिकी लीला है कि मैं साठ वर्षका बूढ़ा बैठा रहा और जवान बेटा चला गया। जो बात कल्पनामें भी न थी, वह हो गई। ऐसा लगता है कि यह कोई स्वप्न है, जो शायद झूठ निकल जाय।"

आजसे चौदह वर्ष पहले यही वज्रपात हमारे स्वर्गीय पिताजीपर हुआ था। हमारे अनुज रामनारायण चतुर्वेदीका देहान्त ६ अक्टूबर सन् १९३६को कलकत्तेमें हुआ था। अपने पिताजीकी स्थितिकी कल्पना करके हम प्रेमीजीकी घोर यातनाको कुछ-कुछ अन्दाज़ लगा सके।

> "Who never ate his bread in sorrow
> Who never spent the midnight hours
> Weeping and waiting for the morrow
> He knows you not, Ye, heavenly powers"

अर्थात् "ऐ दैवी शक्तियो! वे मनुष्य तुम्हें जान ही नहीं सकने,

जिन्हें दुःखपूर्ण समयमें भोजन करनेका दुर्भाग्य प्राप्त नहीं हुआ, तथा जिन्होंने रोते हुए प्रातःकालकी प्रतीक्षामें रातें नहीं काटीं।"

× × ×

एक बातमें प्रेमीजी और हम समानरूपसे मुजरिम हैं। जो अपराध हमसे बन पड़ा था, वही प्रेमीजीसे। हमारे स्वर्गीय अनुज रामनारायणने पं० पद्मसिंहजीसे कई बार शिकायत की थी--

"दादा दुनिया भरके लेख छापते हैं पर हमें प्रोत्साहन नहीं देते।" यही शिकायत हेमचन्द्रको अपने दादा (पिताजी)से रही। प्रेमीजीने अपने संस्मरणोंमें लिखा था :--

"यों तो वह अपनी मनमानी करनेवाला अबाध्य पुत्र था, परन्तु भीतरसे मुझे प्राणोंसे भी अधिक चाहता था। पिछली बीमारीके समय जब डा० करोड़ेके यहाँ दमेका इंजेक्शन लेने बाँदरा गया, तब मेरे शरीरमें खून न रहा था। डाक्टरने कहा कि किसी जवानके खूनकी ज़रूरत है। हेमने तत्काल अपनी बाँह बढ़ा दी और मेरे रोकते-रोकते अपने शरीरका आधा पौंड रक्त हँसते-हँसते दे दिया। मेरे लिए वह सब कुछ करनेको सदा तैयार था।

"अब जब हेम नहीं रहा, तब सोचता हूँ तो मेरे अपराधोंकी परम्परा सामने आकर खड़ी हो जाती है और पश्चात्तापके मारे हृदय दग्ध होने लगता है। मेरा सबसे बड़ा अपराध यह है कि मैं उसकी योग्यताका मूल्य ठीक नहीं आँक सका और उसको आगे बढ़नेसे उत्साहित न करके उल्टा रोकता रहा। हमेशा यही कहता रहा, "अभी और ठहरो--अपना ज्ञान और भी परिपक्व हो जाने दो--यह तुमने ठीक नहीं लिखा--इसमें ये दोष मालूम होते हैं।" इससे उसे बड़ा दुःख होता था और कभी-कभी तो वह अत्यन्त निराश हो जाता था। एक बार तो उसने अपना लिखा हुआ एक विस्तृत निबन्ध मेरे सामने ही उठाकर सड़कपर फेंक दिया था और फफक-फफककर रोने लगा था। उस अपराधकी या ग़लतीकी

गुरुता अब मालूम होती है। काश, उस समय मैंने उसे उत्साहित किया होता और आगे बढ़ने दिया होता ! अब तक तो उसके द्वारा न जाने कितना साहित्य-निर्माण हो गया होता।"

जो पछतावा प्रेमीजीको है, वही मुझे भी। इन गुरुतम अपराधोंका प्रायश्चित्त भी एक ही है वह यह कि हम लोग प्रतिभाशाली युवकोंको निरन्तर प्रोत्साहन देते रहें।

प्रेमीजीने अपने परिश्रमसे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश इत्यादि भाषाओं-की जो योग्यता प्राप्त की है और साहित्यिक तथा ऐतिहासिक अन्वेषण-कार्यमें उनकी जो गति है, उनके बारेमें कुछ भी लिखना हमारे लिए अनधिकार चेष्टा होगी। मनुष्यताकी दृष्टिसे हमें उनके चरित्रमें जो गुण अपने इस तीस वर्ष व्यापी परिचयमें दीख पड़े हैं, उन्हींपर एक सरसरी निगाह इस लेखमें डाली गई है। डटकर मेहनत करनेकी जो आदत उन्होंने अपने विद्यार्थी जीवनमें ही डाली थी, वही उन्हें अब तक सम्हाले है। अपने हिस्सेमें आये हुए कार्यको ईमानदारीसे पूरा करनेका गुण कितने कम बुद्धिजीवियोंमें पाया जाता है। अशुद्धियोंसे उन्हें कितनी घृणा है, इसका एक करुणोत्पादक दृष्टान्त उस समय हमारे सम्मुख आया था, जब हम स्वर्गीय हेमचन्द्र विषयक संस्मरणात्मक पुस्तक बम्बईमें छपवा रहे थे। दूसरे किसी भी भावुक व्यक्तिसे वह काम न बन सकता, जो प्रेमीजीने किया। प्रेमीजी बड़ी सावधानीसे उस पुस्तकके प्रूफ़ पढ़ते थे। पढ़ते-पढ़ते हृदय द्रवित हो जाता, पुरानी बातें याद हो आतीं, कभी न पुरनेवाला घाव असह्य टीस देने लगता, थोड़ी देरके लिए प्रूफ़ छोड़ देते और फिर उसी कठोर कर्तव्यका पालन करते !

वृद्ध पिताके इकलौते युवक पुत्रके संस्मरण-ग्रंथके प्रूफ़ देखना ! कैसा घोर संतापयुक्त साधनामय जीवन है महाप्राण प्रेमीजीका !

बाल्यावस्थाकी वह दरिद्रता, स्व० पिताजीकी वह परिश्रमशीलता, कर्ज़की करानेवाले साहूकारकी वह हृदयहीनता, छः-सात रुपयेकी वह

मुदर्रिसी और बम्बई प्रवासके वे चालीस वर्ष, जिनमें सुख-दुःख, गार्हस्थिक आनन्द और दैवी दुर्घटनाओंके बीच वह अद्भुत आत्मनियंत्रण, बुन्देलखंडके एक निर्धन ग्रामीण बालकका अखिल भारतके सर्वश्रेष्ठ हिन्दी प्रकाशकके रूपमें आत्म-निर्माण---निस्सन्देह साधक प्रेमीजीके जीवनमें प्रभावोत्पादक फिल्मके लिए पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। उस साधकको शतशः प्रणाम !

१९४५]

पंडित जयरामजी

सन् १८७४——

कोटलेके ग्राम-स्कूलमें आज बड़ी चहल-पहल है। इन्सपेक्टर साहब मि० लाइड वार्षिक परीक्षा लेने आनेवाले हैं। मुदर्रिसोंके दिलमें बड़ी धुकधुकी मची हुई है। पं० वासुदेव सहाय सब-डिप्टी-इन्स-पेक्टर साहब उन्हें आदेश दे रहे हैं कि किस तरह परीक्षा दिलानी चाहिए। इतनेमें पं० वासुदेवसहायकी दृष्टि एक तीक्ष्णबुद्धि बालकपर पड़ी। उन्होंने अध्यापक महोदयसे कहा——"देखिये पंडितजी, इसे ऊँची दफ़ाके साथ पढ़नेको खड़ा कर दीजिए। यह बुद्धिमान् है।" यही किया गया।

इन्सपेक्टर लाइड साहबने उक्त विद्यार्थीसे कहा——"पुस्तक पढ़कर सुनाओ।"

लड़केने पढ़कर सुनाया——"दाबह 'चज' उस धरतीका नाम है, जो चिनाब और झेलमके बीचमें है।"

साहब——"इसका मतलब कह सकता है?"

विद्यार्थी——"चिनाब कौ च लयौ और झेलम कौ ज लयौ——चज बनि गयौ।"

साहबने मुँहमें उँगली दी। डिप्टी-इन्सपेक्टर चकित हुए, सब-डिप्टी-इन्सपेक्टर खुश हुए, मुदर्रिसोंके हर्षका क्या कहना और लड़के आश्चर्यमें एक दूसरेका मुँह देखने लगे। ग्राम और ज़िले-भरके मुदर्रिसी-आसमानमें शोर मच गया और यह घटना जगह-जगह दुहराई गई।

आप पूछेंगे——"यह चतुर बालक, जिसने ऐसा बढ़िया जवाब दिया, कौन था?" यह थे श्रीधर पाठक, जो आगे चलकर खड़ी बोलीके आचार्य बने, और पाठकजीकी भावी उन्नतिके मूल कारणोंमें थे उनके पूज्य गुरु

पं० जयरामजी, जो हमारे इस चरितके नायक हैं। आज स्वर्गीय पं० श्रीधर पाठकसे हिन्दी-जगत् भलीभाँति परिचित है; पर उन्हें उन्नतिके पथपर रखनेवाले पं० जयरामजीसे हिन्दी-संसार सर्वथा अपरिचित है!

जब परीक्षा-सम्बन्धी उपर्युक्त घटना घटी, पं० जयरामजी उन दिनों फ़ीरोजाबादके स्कूलमें पढाते थे। उन्हें यह सुनकर बड़ा हर्ष हुआ, और उन्होंने तुरन्त यह निश्चित कर लिया कि इस तीक्ष्णबुद्धि विद्यार्थीको अपने स्कूलमें लाना चाहिए, इसीलिए वे इस परीक्षाके पन्द्रह-बीस दिन बाद ही अपने एक नायब मुदर्रिसको लेकर पाठकजीके पिताजीसे मिलनेके लिए जौंधरी ग्रामके लिए रवाना हो गये। पाठकजीके पिता पूज्य पं० लीलाधरजी रास्तेमें ही मिल गये। परस्पर अभिवादनके बाद पं० जयरामजीने लीलाधरजीसे आग्रह किया कि आप अपने लड़केको आगे पढ़नेके लिए फीरोज़ाबादके तहसीली स्कूलमें भेज दीजिए। पं० लीलाधरजी जयरामजीके साथ जौंधरी पहुँचे। उन्होंने श्रीधरकी परीक्षा ली, भाषाभास्करमें से अनेक प्रश्न किये, जिनके उत्तर पाठकजीने ठीक-ठीक दे दिये। फिर रेखागणित आदिके सवाल किये। उनका भी ठीक-ठीक उत्तर मिला। पं० जयरामजीने श्रीधरकी पीठ ठोंकी और कहा—"चलौ हमारे साथ, तुमैं पिरोजाबादमें हम पढ़ामिङ्गे!"

पं० लीलाधरजीका विचार श्रीधरको आगे पढ़ानेका नहीं था, और पाठकजीको भी इसकी आशा नहीं थी। यह सुनकर वे बहुत खुश हुए। पाठकजी फीरोज़ाबाद पधारे। छै-सात महीने बाद उन्होंने हिन्दीकी प्रवेशिका परीक्षा पास की, और उसमें वे सम्पूर्ण पश्चिमोत्तर-प्रदेशमें अव्वल रहे। १८७९ में अंगरेज़ी मिडिल परीक्षा दी, और उसमें भी प्रान्त-भरमें प्रथम रहे। १८८० में प्रथम श्रेणीमें एन्ट्रेन्स पास किया। उसके बाद साहित्य-क्षेत्रमें आनेपर पाठकजीको जो कीर्ति तथा सम्मान मिला, उसे सब भलीभाँति जानते ही हैं।

देशके दुर्भाग्यसे अब पं० जयरामजी-जैसे आदर्शप्रेमी अध्यापक

ग्राम-पाठशालाओंमें भी नहीं रहे। अंगरेज़ी स्कूलों तथा कालेजोंके अध्यापकोंके विषयमें तो कहना ही क्या है, अपने शिष्योंके भविष्यके विषयमें उन्हें विशेष चिन्ता नहीं।

मई सन् १९२० में मुझे पद्मकोटमें स्वर्गीय पं० श्रीधर पाठककी सेवामें लगभग दो सप्ताह रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय पं० जयरामजीका ज़िक्र आनेपर पाठकजीने उनकी बड़ी प्रशंसा की। मैंने उनसे अनुरोध किया कि पं० जयरामजीके विषयमें मुझे कुछ लिखा दीजिए। उन्होंने कहा, अच्छा लिखो, और निम्न-लिखित पंक्तियाँ बोलकर लिखाईं––

"पूज्य पं० जयरामजी उन हिन्दुस्तानी ग्रामीण सज्जनोंके नमूना थे, जिनके कारण ग्राम्य समाज अपना गौरव-युक्त स्थान सुरक्षित किये हुए है। उनमें वे सब गुण थे, जो एक साधारण मनुष्यको सच्चे मनुष्यत्वकी पदवी प्रदान करते हैं। सबसे प्रथम उनके गुणोंमें गणनीय उनका स्वास्थ्य था। उनका भव्य मुखमंडल––जिसमें बुद्धिकी तीव्रता, सात्विक भावव्यंजक मस्तककी विशालता, आन्तरिक महत्त्व-प्रदर्शक नेत्रोंकी तेजस्विता, गौरवर्णकी समुज्ज्वलता-सहित अपनी-अपनी सत्ताका स्वतन्त्र रीतिसे साक्ष्य देती थीं––उनके मित्र और शिष्य-वर्गके हृदय-पर शाश्वत प्रभाव उत्पन्न करनेकी शक्ति रखता था। वे सब प्रकारकी सहनशीलताकी मूर्ति थे। मुझको उनमें कोई भी अवगुण दृष्टि नहीं आता था। वे प्रायः अपने सिरको एक सफ़ेद रंगकी बड़ी पगड़ीसे विभूषित रखते थे, लम्बा अंगा पहनते थे और जहाँ वह जा निकलते थे, प्रतिष्ठित गौरवका रूप बँध जाता था। जो उनको देखता था, रौबमें आ जाता था और उनकी इज्ज़त करता था। एक दफ़ा पंडितजीकी आगरा-कालेजके बोर्डिंग-हाउसमें वहाँके सुपरिण्टेण्डैण्ट मास्टर सालिग-रामसे मुलाक़ात हुई। मास्टरजीके पूछनेपर कि आप कब तशरीफ़ लाये, उन्होंने जवाब दिया––"हूँ सा ब चारि बजेकी गाड़ीपै आयो हो।"

वे अधिकतर ऐसी ही ग्राम्य भाषाका व्यवहार किया करते थे, और वह उनके मुखसे एक विशेष महत्त्व और रुचिरता लिये हुए श्रवणोंको आनन्द देती थी।"

पं० जयरामजीका जन्म संवत् १९०० के लगभग हुआ था। उनके पिता पं० केसरीसिंहजी बड़े धार्मिक ब्राह्मण थे, और उनका अधिकांश समय पूजा-पाठ और तीर्थ-प्रवासमें ही व्यतीत हुआ था। जयरामजी उनके इकलौते पुत्र थे। पढ़-लिखकर आप नारखीके हलकाबन्दी स्कूलमें शिक्षक हो गये, और उनका काम वहाँ बड़ा सन्तोषजनक रहा; इसीलिए जब फ़ीरोज़ाबादके तहसीली स्कूलमें हेडमास्टरीकी जगह खाली हुई, तो वे नारखीसे फ़ीरोज़ाबादको भेज दिये गये। जब वे फ़ीरोज़ाबाद पहुँचे, तो वहाँ के पुराने मुदर्रिसोंने पहले तो बड़े उत्पात मचाये, और यह कहना शुरू किया—"ये गमार आये हैं, ये क्या इन्तज़ाम करेंगे?" पर अपनी मेहनत और कोशिशसे पं० जयरामजीने मदरसेको ज़िलेका सर्वोत्तम स्कूल बना दिया, और इस प्रकार अपने विरोधियोंका मुँह बन्द कर दिया। फ़ीरोज़ाबाद नगरमें जो शिक्षा-सम्बन्धी उन्नति हुई है, उसका श्रेय अधिकांशमें श्रद्धेय पं० जयरामजीको ही मिलना चाहिए। हमारे पूज्य पिताजी पं० गणेशीलालजी चतुर्वेदीने, जिनकी उम्र इस समय ७८ वर्ष है, पं० जयरामजीके ही चरणोंके निकट बैठकर शिक्षा पाई थी। हमारी प्रार्थनापर कक्काने अपने पूज्य गुरुके निम्नलिखित संस्मरण लिखा भेजे हैं:

"जब पं० जयरामजी फ़ीरोज़ाबाद पहुँचे और उनके पढ़ानेकी कीर्ति चारों ओर फैली, तो मेरे बहनोईके भाई जमनादासजी मुझे लेकर पं० जयरामजीके पास गये और बोले, "यह लड़का अनाथ है। पढ़ाना-लिखाना आपके हाथ है, रोटी-कपड़ा हम देते हैं।" पं० जयरामजीने हमको किताबें ही नहीं ले दी थीं, बल्कि हमारी फीस भी अपने पाससे भरते थे! ऐसे कितने ही अनाथ विद्यार्थियोंको पढ़ा-पढ़ाकर उन्होंने होशियार बना दिया।

हमारे एक साथी थे, जिनका नाम था नन्दराम[१]। उनके पिताजीकी यह हालत थी कि थोड़े-से चने पोटलीमें लेकर बंजी किया करते थे और आवाज़ लगाते--"टाट, कम्बल, गुड़हर, लोहा, नामा, बीनन, दमड़ी छदाम।" न वे फ़ीस दे सकते थे और न किताबें ही मोल ले सकते थे[१]।

पंडितजीने पढ़नेका हम लोगोंको ख़ूब शौक़ दिला दिया था। आपसमें एक दूसरेसे होड़ करा दिया करते थे कि देखें कौन ज़्यादा पढ़ ले! जब छुट्टियोंमें घर जाते, तो इस प्रकारके सवाल बोल जाते थे--

(१) एक बनियेकी बरातमें बनिये, ब्राह्मण और ठाकुर आये। लड़केवालेने सौ थालियाँ इकठ्टी कीं। सौ ही बराती आये थे। ब्राह्मणोंने कहा, हम एक-एक ब्राह्मण चार-चार थाली लेंगे। ठाकुरोंने कहा, दो-दो हम भी लेंगे। तब बनियोंने सोचा कि विवाह तो हम बनियोंका बिगड़ा जाता है, इसलिए उन्होंने कहा कि हम चार-चार बनिये एक ही थालीमें खायेंगे।

---

[१]इस विषयमें पं० जयरामजीके एक अन्य शिष्य पं० हज़ारीलालजी चतुर्वेदीने लिखाया है--"पं० नन्दरामजीके माता-पिताको अकसर भूखे रह जाना पड़ता था। नन्दरामजीकी माँ अपने चूल्हेमें झूठ-मूठ आग जलाकर धुआँ कर देती थीं, जिससे मुहल्लेवाले यह न जान पावें कि उनके घरमें भोजन नहीं बना है। ग़रीबी ऐसी भीषण थी कि नन्दरामजी कभी कभी गायोंको दी हुई रोटी खाकर अपना पेट भरते थे। वे अकसर घरोंमें सीधा लेने चले जाते और मदरसे देरसे पहुँचते। एक दिन देरसे मदरसे पहुँचनेपर पंडितजीने जब कारण पूछा, तो उनको ग़रीबीका पता चला। पंडितजी उसी समय बोले, "अच्छा, आजसे तू यहीं खाइबौ कर और जो कऊँ अब देरिमें आयौ तौ गंगा धुआई ऐसी मार लगाउँगो।" तबसे नन्दरामजी पंडितजीके ही चौकेमें भोजन करते थे और वहीं पढ़ते थे। आगे पढ़-लिखकर पं० नन्दरामजी फीरोजाबादके अंगरेज़ी मिडिल स्कूलके हेडमास्टर हो गये और बड़ी शानकी हेडमास्टरी की।"

सौ थालियोंमें सौऊ आदमी जीमि गये। बताओ, हरएक जातिके कितने-कितने बराती थे ?

(२) सौ गज़ कपड़ेमें सौ कपड़े बनाओ—तीन गज़में पायजामा, आध गज़में टोपा और दस गज़में जामा।

(३) एक राजाके नौ लड़के थे और इक्यासी भैंसें थीं। पहली भैंस एक सेर दूध, दूसरी दो सेर, इसी तरह इक्यासीवीं भैंस इक्यासी सेर दूध देती थी। राजाने नौ-नौ भैंसें हरएक लड़केको बाँट दीं और दूध भी बराबर-बराबर मिला। बतलाओ, उसने किस प्रकार बँटवारा किया ?

(४) ४५ में से ४५ इस प्रकारसे घटाओ कि ४५ ही बचें।

(५) एक ज़मींदारके पाँच लड़के थे। एकको सौ मन अनाज दिया, दूसरेको ८० मन, तीसरेको ६० मन, चौथेको ४० मन और पाँचवेंको २० मन, और यह कहा कि एक भाव बेचो और बराबर-बराबर रुपये लाओ। बताओ, उन्होंने कैसे अनाज बेचा ?

(६) एक पुरुष परदेश जाते समय स्त्रीसे कह गया कि यदि तेरे लड़का हो तो ६०) ख़र्च करना और ४०) अपने काममें लाना और यदि लड़की हो तो ४०) ख़र्च करना और ६०) अपने काममें लाना। दैव-योगसे उसके लड़का और लड़की दोनों ही हुए। बताओ, वह स्त्री क्या तो खाय और क्या ख़र्च करे ?

पंडितजी गणितके गुर लीलावती आदि पोथियोंसे दोहा-चौपाइयोंमें और श्लोकोंमें भी याद कराया करते थे। उनका याद कराया हुआ एक क़ायदा है—

"श्रेणीफलादुत्तरलोचनिघ्ना -
च्चयार्धवक्रान्तरवर्गयुक्तात्।
मूलं मुखोनं चयखण्डयुक्तं
चयोद्धृतं गच्छमुदाहरन्ति।'

यह गच्छ निकालनेका क़ायदा है ।

चौबे लोगोंके विषयमें उनका एक सवाल था––

"पाव सवाये घौंटें भंग
आधे बैठे देखैं रंग
षष्ठमांशके खाग अफीम
बाइस गये जमुनके तीर
मानुष संख्या कितनी भई ।
सो तुम हमसे कहियो सही ।"

"आधी कींच, तिहाई जलमें, दसमें हिसा सिवार,
बामन गज ऊपर रही, सिला कितक विस्तार ।"

"राधिका मोहन प्रीति करी इक पंकज-राशि करी जलमें,
तीजौ हिसा शिव शीश धरे और पंचम विष्णुके पूजनमें,
चौथो हिसा जगदम्बै दयो रविको षट् भाग दयो मनमें,
शेष रहे छै फूल तहाँ सो कहौ सब कितने गिन्तिनमें ।"

पंडित जयरामजी बड़े मनोरंजक ढंगसे पढ़ाते थे । सबको हँसाते-खिलाते पढ़ा दिया करते थे । बीच-बीचमें ऐसी बातें कहते जाते थे कि हम सब बहुत खुश होते थे । एक बार उन्होंने सुनाया––"एक पटवारी जोड़ लगा रहा था । कहता जाता था––इक्यानवेकी एक, हाथ लागी ९; बहत्तरकी दो, हाथ लागी ७; पचासीकी पाँच, हाथ लगी ८ । किसानोंने देखा कि पटवारी आप तो आठ-आठ नौ-नौ हाथ लगाता है और हमें एक-एक दो-दो में टरकाता है, सो उन्होंने पटवारीको ठोंक डाला !"

रेखागणित, बीजगणित, हिसाब, पैमाइश––इन चारोंको रियाज़ी कहा जाता है, सो लोग कहा करते थे कि पं० जयरामजीने रियाज़ीको पाजी बनाके छोड़ दिया है, इस क़दर इन विषयोंमें वे होशियार थे । बीज-गणितके वर्गसमीकरण मूलसमीकरण और अनेकवर्गसमीकरण मैंने

पंडितजीसे ही पढ़े थे । अब तो पहलेकी अपेक्षा बहुत कम हिसाब हिन्दी-स्कूलोंमें पढ़ाया जाता है ।

मेरे ऊपर उनकी ख़ास कृपा थी । उनका मेरे लिए आशीर्वाद था—"जा ख़ुश रहेगा ।" उन्हीके आशीर्वादसे ७८ वर्षकी उम्रमें तन्दुरुस्त हूँ, और पंडितजीके आशीर्वादका प्रभाव यहाँ तक है कि मैंने भी जिन्हें पढ़ाया है, वह भी आनन्दसे हैं । मुझे तो उनकी वाणी सिद्ध मालूम हुई कि जिस किसीके लिए उन्होंने जो कुछ कह दिया, वही हो गया । वे कहा करते थे—'गंगा धुआई, मेरे मुँहमें बत्तीस दाँत है और मोइ हर वख़त खियाल रहतु ऐ कि मेरे मुँह तें काऊके लऐं बुरी बात न निकसै ।" जब मैं पढ़ लिखकर छै रुपये महीनेपर एक ग्राम-स्कूलका मुदर्रिस बन गया, तो मेरे लिए उनका हुक्म था—"गनेसा, जब घरसे मदरसेको जा, तब मेरे पास होकर जा और जब गाँवके मदरसेसे आवे, तो मेरे पास होकर घरको जा ।'

यदि मैं कभी भूलकर गाँवसे बिना उनके दर्शन किये सीधा घर पहुँच जाता और पीछे उनकी सेवामें हाज़िर होता, तो व्यंगमयी भाषामें वे कहते—"तुस्सिया (तुलसीराम, उनके नायब) मूँढ़ा लइये, चौबेजी महाराज आये हैं ।" और फिर मेरी ओर मुख़ातिब होकर कहते—'चौबेजी, कबसे आये है आप ? मैं उस समय अत्यन्त लज्जित होता था । उन्हें इस बातकी बड़ी चिन्ता रहती थी कि उनका कोई भी अध्यापक-शिष्य स्कूलमें ग़ैर-हाज़िरी करके कर्तव्यच्युत न हो । हाज़िरीपर ज़ोर देते हुए वे मुझसे कहा करते थे—"गनेसा, जो तू ग़ैरहाजिर रहौ, तो गंगा धुआई, हूँ तेरी अर्जी बिना दागे नहीं मानुँगो ।' फिर कहते थे—'गंगा धुआई, तू गाँवमें बैठो रहि, कोऊ आँखऊ मिलाइ जाय । पर हाजिर रहि ।" उन्हींके आदेशके अनुसार चलनेसे पचास वर्षकी मुदर्रिसीमें (१८७५ से १९२५ तक) मुझे नीची आँखें करनेका मौक़ा नहीं आया ।

विद्यार्थियोंकी स्वल्पाहारितापर बड़ा ध्यान रखते थे । गाँवके लड़-

कोंसे पूछते थे--"तू कै रोटी खाइगौ ?" उत्तरमें किसीने कहा--"चार", तो उसे तीन रोटी ही दी जाती थीं। कहा करते थे--"खाओ चाहैं चार पोत, पर थोड़ा-थोड़ा खाओ।" लड़कोंके दुख-दर्दका ख़ास ख़्याल रखते थे। उनके बीमार पड़नेपर उनके घरपर जाया करते थे। पढ़ने-लिखनेकी हालतमें उन्होंने लड़कोंको स्वतन्त्रता दे रखी थी कि धूप, छाया चाहे जहाँ बैठकर पढ़ो। डिप्टी-इन्सपेक्टर चौबे कुंजबिहारीलाल उनसे बहुत ख़ुश रहा करते थे। चौबेजीसे उन्होंने कह दिया था--"पढ़ाऊँगा मैं, और नौकरी आपको देनी पड़ेगी।"

अपने पढ़ाये हुओंके कामको अगर कुछ उन्नीस सुनते, तो उन्हें बड़ा खेद होता। एक बार उन्होंने कहा--"मैंने...को लादूखेड़में मुदर्रिस बनाकर भिजवाया है; पर उसका काम उन्नीस सुना जाता है। अगर मुझे पहलेसे ऐसा मालूम होता, तो मैं गनेसाको भेजता। वह लादूखेड़ेको देवखेड़ा बना देता।" जहाँ-जहाँ काम बिगड़ा, उन्होंने मुझे भिजवाया। कह देते थे--"भेज देउ गनेसाकौं।" उनके आशीर्वादसे हमने बिगड़े मदरसोंको बनाया और उनके आशीर्वादसे ही नाम पाया। पंडितजी बड़े प्रातःकाल ही स्नान कर लिया करते थे। मेले-तमाशेमें कभी न जाते थे। जब कभी हम लोग बहुत ज़िद करते, तो हम लोगोंको लेकर जाते और थोड़ी देर देख-भालकर हम लोगोंको पीछे छोड़ आते। अपने कामको मुख्य समझते थे।

५९ वर्ष पहलेका--सन् १८७५ का--दृश्य अब भी मेरी आँखोंके सामने है। मैं पढ़-लिखकर ६) रुपये महीनेपर मुदर्रिस हो गया था। जब मुझे पहले महीनेकी तनख़्वाह मिली, तो छुट्टीके दिन मैं पंडितजीकी सेवामें पहुँचा। उनके चरण छुए और पहले महीनेकी तनख़्वाह उनकी भेंट की। उन्होंने हाथसे छूकर मुझे आशीर्वादके साथ वापस कर दी और कहा--"जा बेटा, पहलैं डोकरा (जमनादासजी, मेरे पूज्य) को दीजे।" उसके बाद जब मैंने उन्हें उनके नायब मुदर्रिसोंके साथ निमन्त्रण

दिया, तब जो अत्यल्प भेंट उनकी सेवामें अर्पित की, वह उन्होंने सहर्ष ले ली।

अब मैं ७८ वर्षका हो चुका। पंडितजीके आशीर्वादसे स्वस्थ हूँ। उनकी याद अब भी आ जाती है। अब वैसे शिक्षक कहाँ देखनेको मिल सकते हैं?"

पूज्य कक्काने अपने संस्मरणोंमें और भी कितनी ही बातें लिखा भेजी हैं। ६०-६२ वर्ष पहलेके राजा शिवप्रसादके इतिहास 'तिमिर-नाशक' के जो अंश उनके रटे हुए थे और जो उन्हें अब तक याद हैं, उन्हें भी लिखा भेजा है!

पं० जयरामजीका देहान्त संवत् १९३६ में फ़ीरोज़ाबादके मदरसेमें हुआ। इस वर्ष देशमें विषम ज्वरकी महामारी फैली थी। उसीसे उनका ३६ वर्षकी उम्रमें स्वर्गवास हो गया।[१]

क्या फीरोज़ाबाद नगरके निवासी पं० जयरामजीके ऋणसे कभी उऋण हो सकते हैं? आज फ़ीरोज़ाबादमें सैकड़ों सुशिक्षित कहानेवाले व्यक्ति मौजूद हैं, बीसियों ग्रेजुएट हैं; कोई डाक्टर हैं, कोई वकील, कोई प्रोफ़ेसर और कोई दीवान। सेठ-साहूकारोंकी भी कमी नहीं। पर क्या कभी किसीने पंडित जयरामजीको भी याद किया है? क्या कभी उनका स्मारक बनानेकी बात भी किसीके मनमें आई है? संसार बड़ा स्वार्थी है। भारतके ग्रामोंमें अब भी जयरामजी-जैसे निःस्वार्थ अध्यापक विद्यमान

---

[१]पं० जयरामजीकी पत्नी बहुत दिनों तक जीवित रहीं। उनके दर्शन करनेका सौभाग्य हमें भी प्राप्त हुआ था। उनके विषयमें कक्का ख्यालीरामजीने जयरामजीके पौत्र हिन्दीके सुलेखक श्री मंगलदेव शर्मासे कहा था—"तुम्हारी दादी ढेर-की-ढेर रोटियाँ बनाया करती थीं। सब गरीब लड़के ही खाया करते थे।" पं० जयरामजीके पुण्यका एक अच्छा अंश उनकी प्रात:स्मरणीय महामातुश्रीको ही मिलना चाहिए।

हैं। पाँच-पाँच सौ रुपये पानेवाले प्रोफ़ेसरोंसे नहीं, हज़ार पानेवाले प्रिंसिपलोंसे नहीं, बल्कि पन्द्रह-बीस पानेवाले और बिना किसीके जाने अपने जीवनको खपा देनेवाले उन ईमानदार ग़रीब मुदर्रिसोंसे ही इस भूमिका गौरव है। वे ही इस भव्य-भवनकी आधारशिला हैं; उस शिक्षारूपी भव्य-भवनकी, जिसका आगे चलकर कभी निर्माण होगा। ऐसे पूज्य शिक्षकोंको हमारा सादर पालागन।

जून १९३४]

अमरशहीद फुलेनाप्रसाद

एक ओर थी उस अटल व्रतीकी खुली हुई छाती, दूसरी ओर दानवी शक्तियोंका जमघट। उधरसे आवाज़ हुई धाँय और इधर गोली लगी--नम्बर एक। फिर आवाज़ हुई धाँय और गोली लगी--नम्बर दो। इस प्रकार एकके बाद एक गोली चली और आठ गोलियाँ उस शरीरको बेध गईं। नवीं गोलीसे सिरके टुकड़े-टुकड़े हो गये और निर्जीव शरीर धराशायी हो गया--बल्कि यों कहिए कि रण-प्रांगणमें वह सिंह सदाके लिए सो गया। भारतीय सत्याग्रहके इतिहासमें यद्यपि अनेक सिपाहियोंने वीर-गति पाई है; पर महाराजगंज, छपरा (बिहार) के फुलेनाप्रसाद श्रीवास्तवके प्रयाणपर संसारके किसी भी अहिंसक योद्धा को ईर्ष्या हो सकती है। लाठीसे उनके हाथ चकनाचूर हो चुके थे और भाला भी लग चुका था, पर वह वीर अपने स्थलपर अटल खड़ा हुआ था। नवीं गोलीसे उसकी मृत्यु हुई।

पर क्या सचमुच उनकी मृत्यु हुई?

कौन कहता है कि फुलेनाप्रसाद मृत हो चुके? कोई कल्पनाहीन अदूरदर्शी व्यक्ति ही ऐसी भूल कर सकता है। वास्तवमें मृतक समान तो हम हैं, जो आदर्शहीन जीवन व्यतीत करते हैं, जो इस क्षणभंगुर संसारमें अपनेको चिरस्थायी समझते हैं, जो भोग-विलास और प्रमादयुक्त जिन्दगी बिताते हैं, जिनके सामने कोई ध्येय नहीं, दिलमें कोई आग नहीं, हृदयमें कोई तड़प नहीं, रगोंमें ख़ून नहीं और जिगरमें जोश नहीं। हाँ, हम लोग मुर्दे हैं और फुलेनाप्रसाद, जिन्होंने मृत्युको हँसते-हँसते वरमाल-सा अंगीकार किया, अमर हैं। पर क्या वह वीर-गति जो बड़े-से-बड़े योद्धाके

लिए ईर्ष्याकी वस्तु है, उस अमर शहीदको अकस्मात् ही मिल गई थी ? नहीं, वह तो उनकी उत्कट साधनाका परिणाम थी--मानो उनका समस्त जीवन उसकी तैयारीके लिए अर्पित था। अमरता ऐसी चीज़ नहीं, जो किसी बाज़ारमें और इतनी सस्ती मिल सके। उस महापुरुषका सजीव जीवन-चरित तो कोई उनके पथका पथिक ही लौह-लेखनीसे लिखेगा। हमारे जैसे कापुरुषके काँपते हुए हाथमें भला वह ताक़त कहाँ, जो भारतीय इतिहासकी स्मृतिमें अपनी अमिट-रेखा खींच जानेवाले उस वीर-शिरोमणिका रेखा-चित्र भी खींच सके ?

प्रात: काल चार बजेका समय है। जाड़ेके दिन हैं। फुलेना बाबू उठकर नित्यकर्मसे निवृत्त हो, सरसोंका तेल मलकर, हज़ार-डेढ़ हज़ार दंड-बैठक लगा रहे हैं। तत्पश्चात् मुग्दरों और डम्बलोंका नम्बर आता है। शरीर ख़ूब कस गया है। उन वृषभ-स्कन्ध, विशाल वक्षस्थल और मांसल भुजाओंपर कोई पेशेवर पहलवान भी मुग्ध हो सकता है। व्यायामके बाद वे चने खाते और तत्पश्चात् दूध पीते हैं। फिर अपने देशसेवा-सम्बन्धी कार्यमें लग जाते हैं। कभी किसानोंका काम है तो कभी मज़दूरोंका। दिन-भर परिश्रम करके वे अपने-आपको थका डालते हैं। ग्यारह बजे सोना और चार बजे उठ बैठना उनका नित्यका नियम है।

रातका वक़्त है। फुलेना बाबू छतपर निरन्तर टहल रहे हैं। उम्र उस समय चौबीस वर्षकी है। विवाह हुए दो वर्ष हुए और तत्पश्चात् दो वर्ष गृहस्थका जीवन व्यतीत कर उन्होंने ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर लिया है। उनका विश्वास है कि संतान-पालन और देश-सेवा दोनों एक साथ नहीं हो सकते। दोनोंको एक साथ ईमानदारीसे नहीं चलाया जा सकता। बराबर वे गुनगुना रहे हैं--'रघुपति राघव राजा राम, पतित पावन-सीताराम।' फिर कविवर मैथिलीशरण गुप्तकी कविताका पाठ करते हैं—

'न तन-सेवा न मन-सेवा
न जीवन और धन-सेवा,
मुझे है इष्ट जन-सेवा,
सदा सच्ची भुवन-सेवा।'

तत्पश्चात् वे संस्कृत-श्लोक कहते हैं:—

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनांमार्तिनाशनम्॥

इस तरह जाप करते हुए रातकी घड़ियाँ गुज़र जाती हैं। प्रातः काल नलमें पानी आते ही स्नान करके वे निर्विकार रूपमें उपस्थित हो जाते हैं। फिर वही व्यायाम आदिका क्रम चलता है।

'तेजस्विनां न वयः समीक्षते'—अर्थात् तेजस्वी आदमियोंकी उम्र नहीं देखी जाती, और—One crowded hour of glorious life, is worth an age without a name.

अर्थात्—'गौरवपूर्ण जीवनका एक व्यस्त घण्टा कीर्त्ति-रहित युगों-से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।' उस अमर शहीदने अपने जीवनमें कुल जमा तीस वसन्त ही तो देखे थे। उनके महान्, किन्तु संक्षिप्त जीवनकी कुछ झलक ही यहाँ दिखाई जा सकती है।

उस भोले-भाले हृष्ट-पुष्ट बालकको देखकर ग्रामवासियोंको परम आनन्द होता। बड़ी-बड़ी काली-काली आखें, रंग स्वच्छ, शरीर चिकना, सिर पर मनोहारी घुँघराले केश। बच्चोंमें खेलते-खेलते वे खुद पिट जाते, पर किसीको स्वयं नहीं मारते। जब आठ वर्षके थे तो आम तोड़ते वक़्त एक लड़केने उनके सिरपर एक छोटी-सी लाठी दे मारी, जिससे सिर फूट गया और गाँव भरमें कोहराम मच गया। जब घरके लोग उस अपराधी बालकपर नाराज़ हुए तो उन्होंने हँसकर कह दिया—"ग़लती उसकी नहीं, मेरी थी। जिधर आम तोड़नेको लकड़ी फेंकी जा रही थी, भूलसे मैं उधर चला गया। बस लग गई!"

एक बार पशुओंके खानेके लिए नौकर चारा काट रहे थे तो आप भी गये और लगे काटने। अँगुली काट डाली और बड़े मज़ेमें घरके पीछे बाग़में बैठकर ख़ून गिरा रहे थे कि उधरसे उनकी बुआ आ निकलीं और रो उठीं! उन्हें कलेजेसे चिपटाकर वे उस ख़ूनको देख सहमी खड़ी थीं, जब कि उन्होंने हँसकर कहा—"देख, कितना लाल है बुआ! इसमें हम अपनी माँकी धोती रँगेंगे।" मिट्टीके गढ़ेमें कटी हुई अँगुलीका ख़ून देखकर घर-भर कराह उठा, पर उनको लगता था कि कुछ हुआ ही नहीं! फिर उसमें पिताजीने पट्टी बाँधी और वे खेलने चले गये। आज भी पचलखी ग्रामके निवासी उस वीर बालककी याद कर लेते हैं।

बगलमें बस्ता दाबे उस देहाती सड़कपर अकेले, एक लाइनसे नित्यप्रति छै मील ज़मीन पार करके जाना और आना यही उनके जीवनका क्रम था। न किसीसे बोलना, न चालना। स्कूलके लड़के चिढ़ाते थे—"ओहो, योगिराज हैं आप! हम ग़रीबोंसे क्यों बोलने लगे!" इने-गिने ही साथी थे उनके। अन्य लड़के उन्हें कहते थे झेंपू! बड़े होनेपर उनका कथन था कि मेरी झेंपनेकी आदतने ही स्कूली दुराचारोंसे मेरी रक्षा कर दी।

हाईस्कूलकी परीक्षाके समय छोटा भाई इतना बीमार हो गया कि दिन-रात वे उसकी सेवामें जुट गये। उसके परिणाम-स्वरूप वे खुद बीमार पड़ गये और उसी अवस्थामें परीक्षा दी। फेल हो गये। जिस पर प्रथम बार ही वे धैर्य खो कर रो पड़े थे और फिर दूसरे सालकी परीक्षामें उत्तीर्ण हो गये।

उनकी माताजीका कहना है कि घरमें किसीके बीमार हो जानेपर तो मँझले बाबू सब काम छोड़कर उसकी सेवामें लग जाते थे। माँके सिरमें तेल लगाना तो उनका सबसे प्रिय कार्य था। उमर बढ़नेपर जिन भाभियोंसे बोलते तक नहीं थे (बड़े शर्मीले थे), वे भी यदि बीमार होतीं तो सिरमें तेल लगाना, दवा पिलाना, रात-भर जागना, यह उन्हींका काम था।

हाईस्कूल पास करनेके बाद वे पटना गये, पर एक साल एफ० ए० में पढ़कर छोड़ दिया और तब से बराबर विभिन्न स्थानोंमें रोटीका सवाल हल करते हुए अध्ययन करते रहे। जीवनके विश्वविद्यालयमें उन्होंने जो शिक्षा प्राप्त की, वह अन्यत्र दुर्लभ है। हिन्दी, अँग्रेज़ीके सिवा बँगला, गुजराती, संस्कृत इन तीन भाषाओंकी अच्छी जानकारी उन्होंने प्राप्त कर ली थी और उनका संकल्प था कि दक्षिण भारतकी भाषाओंका भी संक्षिप्त ज्ञान प्राप्त करें। जबसे होश सँभाला, अपने पैरों खड़ा होना ही उन्हें रुचिकर लगा। घरसे पैसा लेना उन्हें अच्छा नहीं लगता था; क्योंकि एक भाई पटना-कालेजमें और दो भाई हाईस्कूलमें पढ़ रहे थे। छोटी-सी ज़मींदारी पर सोलह व्यक्तियोंका बोझ था।

वे कभी किसी व्यक्तिका दुःख नहीं देख सकते थे। एक बार वे कहींसे आ रहे थे। देहातमें एक किसानके दरवाज़ेपर ठहरे। बातचीतके बाद उस किसानने कहा—"मेरी बहूके लड़का हुआ है, भइया! पर घरमें चावलका ठीक-ठिकाना नहीं।" उन्होंने अँगुलीकी अँगूठी उतारकर दे दी! घर आनेपर उन्हें बहुत बातें सुननी पड़ीं; क्योंकि वह अँगूठी शादीमें मिली थी। शादीमें ससुरालसे दो-तीन कोट भी मिल गये थे—ऊनी, रेशमी, ओवरकोट इत्यादि—जिन्हें एक-एक करके दूसरोंको दे दिया। उनकी ज़िन्दगीका साथी था कुर्ता, पायजामा और कठिन जाड़ा हो तो बंडी। स्वास्थ्य अच्छा होनेसे उन्हें कोई मौसम सताता नहीं था। युवक होकर इस तरह योगियोंका-सा कष्ट सहन करना घरवालोंको अच्छा नहीं लगता था। फिर श्रीमती श्रीवास्तव अपनी माँकी एकमात्र सन्तान ठहरीं। सासकी प्रबल इच्छा रहती थी कि दामाद बाबू अच्छी तरह खायें-पियें, पहनें-ओढ़ें। सो माँसे कुछ रुपया ले श्रीमती श्रीवास्तवने एक बार उनके लिए ओवरकोटका ऊनी कपड़ा ख़रीदा, जिसे देखकर वे उदास हो गये। शामको टहलनेके बहाने मज़दूरोंके मुहल्लेमें ले गये, जहाँ श्रीमती श्रीवास्तवने देखा कि छोटी-छोटी कोठरियोंमें आगको घेरकर

बिल्कुल नंगे बदन आदमी सो रहे हैं। भीषण दृश्य था दरिद्रताका, जिसे देखकर वे सहम गई। घर आकर श्रीवास्तवजीने उस कोटके कपड़ेको लौटा दिया और छोटे-छोटे मजदूर बच्चोंके लिए कपड़े खरीद लाये। इस सच्ची शिक्षाका वे विरोध न कर सकीं। फुलेनाप्रसादके जीवनका यही क्रम था। मुँहसे न कहकर खुद आँखोंसे वे साक्षात् परिचय करा देते थे। उनका कहना था कि जिस देशमें लाखों नर-नारी जीवनकी साधारण आवश्यकताओंसे वंचित हैं, करोड़ों आधे-पेट दम तोड़ रहे हैं, वहाँ कुछ व्यक्तियोंका ऐशो-आराममें फँसा रहना घोर पाप है, जघन्य अपराध है।

उस तेजस्वी पुरुषके असाधारण व्यक्तित्वको शब्दोंमें बाँध देना कोई आसान काम नहीं। जिस अमर-आत्माके प्रयाणके ४८ घंटे बाद भी शरीर सजीव-सा लग रहा था, चितापर रक्खे हुए भी जिनके मुँहसे ऐसा नहीं मालूम होता था कि कुछ हुआ है, मूँछे ऐंठी हुई थीं, काली आँखें खुली हुई थीं, चेहरे और आँखोंपर मुस्कराहट थी, उसके संयमकी कल्पना ही की जा सकती है। मानो उन्होंने अपने-आपको कठोर नियमों में आजके ही लिए कसा था। उनका भोजन-सम्बन्धी नियम जो किसी भी ब्रह्मचर्य-व्रतधारीके लिए अनिवार्य है, इसी पूर्णाहुतिके लिये था। वे प्रायः गेहूँका दलिया खाते थे, दूध और फलोंका सेवन करते थे और रातमें बिना नमकका खाना खाते थे। उनका मुस्कराता हुआ चेहरा उनके अन्तस्तलका प्रतीक था। संक्षेपमें इतना कहना पर्याप्त होगा कि जो अमरता उन्हें मिली, वह उनके सम्पूर्ण जीवनकी साधनाका अवश्यम्भावी परिणाम थी।

उनकी अर्द्धाङ्गिनी

अमर शहीद फुलेनाप्रसादका यह रेखाचित्र अधूरा ही रह जायगा, यदि उनकी अर्द्धांगिनी श्रीमती तारा रानीका कुछ वृत्तान्त यहाँ न दिया जाय। श्रीमती तारा रानीमें जो कुछ भी योग्यता, संगठन-शक्ति अथवा कार्यशीलता

है, उसका श्रेय सर्वांशमें उन अमर शहीदको ही है। अपने शेष जीवनका प्रत्येक क्षण श्रीमती तारा रानी उन्हींके उद्देश्यकी पूर्तिमें व्यय कर देना चाहती हैं। वे फुलेनाप्रसादको मृत नहीं मानती हैं और उनकी उपस्थिति-को निरन्तर अनुभव करती हैं। उन्हें घोर दुःख और हार्दिक मनोवेदना तब होती है, जब कोई उनकी मृत्युकी बात कहता है।

श्रीमती तारा रानी किस प्रकार अपने दिन व्यतीत कर रही हैं, बिना पतवारके अपनी नाव किस तरह खे रही हैं और किस ढंगपर अपने अत्याचार-पीड़ित प्रान्तमें आशा तथा जीवनका सन्देश भरती जा रही हैं, उसे देखकर आश्चर्य होता है। वे दो बार जेल हो आई हैं, साल भर कालकोठरीमें एकान्त रहनेका पुरस्कार भी प्राप्त कर चुकी हैं। निर्दय शासनने उनके स्वास्थ्यको चकनाचूर करनेमें कोई कोर कसर नहीं रक्खी, पर इन सबने उनकी प्रबल आत्माको प्रबलतर बनानेमें सहायता ही दी है। उनके एक हृदय है, जो दुःखितों और पीड़ितोंके अन्तःकरणके गहनतम प्रदेशमें प्रवेश कर सकता है। वही अपने स्वर्गीय पति की सर्वश्रेष्ठ स्मृति हैं। पद-लोलुपता के इस युग में शहीद फुलेनाप्रसादका कोई उपयुक्त स्मारक बन सकेगा, इसकी सम्भावना कम ही है।

श्रीयुत 'भूगोल'

अररर छप !

रातके कोई साढ़े नौ बजे होंगे। महीना सितम्बरका था। जमनाजी भरी चली जा रही थीं। अथाह जल था। बीच पुलसे कोई चीज़ जमनाजीमें गिरी और आवाज़ हुई अररर छप ! काफी अँधेरा था। एक महानुभाव जमनाजीके किनारे स्नान करनेके लिए गये हुए थे। उन्होंने समझा कि बदमाशोंने किसीको जमनाजीमें ढकेल दिया है। तुरन्त ही आवाज़ दी, "कौन है। मैं आता हूँ, डरना नहीं।" पर उसका जवाब कुछ नहीं मिला। उन महानुभावको यह डर था कि जिन बदमाशोंने उस आदमीको ढकेला है, वे कहीं हमारा भी पीछा न करें। ज़्यादा सोचने विचारनेका वक़्त नहीं था। लँगोट पहनकर आप कूद पड़े। कुरतेकी जेबमें दोसौ रुपये के नोट थे, वे आपने वहीं किनारेपर छोड़ दिये। बहुत दूर तक तैरते-तैरते कुछ न दिखाई दिया, फिर थोड़ा और आगे बढ़कर काला सिर दिखाई दिया। पर यह ज्ञात न हो सका कि आदमी है या कोई और चीज़। पीछे पहुँचकर धक्का दिया, तब मालूम हुआ कि कोई आदमी ही है। धीरे-धीरे ढकेलते-ढकेलते उसे किनारेकी ओर लानेका प्रयत्न करने लगे। साथ ही यह भी डर था कि कहीं कोई पागल न हो, और वह उन्हें भी पकड़के न डुबो दे ! आध मीलपर जाके दोनों किनारे लगे। तब पता लगा कि जिसको उन महानुभावने निकाला था, वह एक स्त्री है। सिर उसका मुड़ा हुआ था। विधवा थी। वैधव्यसे दुःखी होकर अपने गहने-पाते एक प्रयागवाले पण्डेको सौंपकर अपने प्राण देनेके लिए वह जमनाजीमें कूदी थी !

जब उस स्त्रीको होश हुआ, तो उसने उन महानुभावसे कहा तुमने

मुझे क्यों निकाला ? मैं तो अपनी जान देनेके लिए ही कूदी थी। मैं अब ज़िन्दा नहीं रहना चाहती। समझा बुझाकर वे महानुभाव उसे अपने कालेजके छात्रालयमें ले लाये, और बोर्डिंगमें जो नौकर सपरिवार रहते थे, उनके यहाँ रातके समय उसे आश्रय दिलाया।

पाठक जाननेके लिए उत्सुक होंगे कि अपनी जान जोखिममें डालकर एक अपरिचित प्राणीको मृत्युके ग्राससे निकालनेवाला कौन था। ये थे भूगोलके सम्पादक श्रीयुत रामनारायण मिश्र, अध्यापक ईविंग क्रिश्चियन कालेज, प्रयाग और उन जैसे धुनके पक्के आदमी हिन्दी जगत्में एक दर्जन भी न होंगे।

वर्षों पहलेकी बात है, अध्यापक श्री रामरत्नजीने बातचीतमें मिश्रजी-की बड़ी प्रशंसा की थी, और कहा था,' 'भई एकई आदमी है, कऊँ तुमें मिला-मिङ्गे।" अध्यापकजीने अपना वचन पूरा किया और मुझे मिश्रजीके दर्शन करनेका सुअवसर मिल गया। कोरमकोर विद्वताके लिए हमारे हृदयमें विशेष सम्मान नहीं है। इस देशमें हृदयहीन विद्वान् पचासों मौजूद हैं। लेखकों और कवियोंकी भी भरमार है, और वक्ता तथा अध्यापक भी एकसे एक अच्छे पड़े हैं, पर आदमी कितने हैं ? प्रतापके भूतपूर्व सहकारी सम्पादक श्री विष्णुदत्तजी शुक्लसे मैंने पूछा, "क्या आप हिन्दी जगत्के किसी अन्य लेखकका नाम ले सकते हैं, जो दूसरेके लिए इस प्रकार अपनी जान ख़तरेमें डाल सके।" कुछ देर सोचकर शुक्लजी बोले, "एकका नाम तो मैं बतला सकता हूँ, यानी श्रीराम शर्मा। वे इस केंड़के आदमी हैं।" शुक्लजीको इस बातका पता न था कि एक बार शर्माजीने भी हरद्वारमें इसी प्रकार एक बहती हुई बुढ़ियाकी जान बचाई थी। अस्तु, पाठकोंको हम श्री रामनारायण मिश्र 'भूगोल'का परिचय देना चाहते हैं। मज़ाक़में उन्हें कितने ही मित्र भूगोलके नामसे पुकारते हैं, और हमें भी उनका यह नाम बहुत पसन्द आया है।

श्रीयुत भूगोल महाशय ज़िला शाहजहाँपुरके रहनेवाले हैं। यात्रा

करनेमें आपको बड़ा आनन्द आता है। विद्यार्थी अवस्थामें भी आप प्रति वर्ष कहीं-न-कहींकी यात्रा अवश्य करते रहे। बी० ए० पास करने और ट्रेनिंग कालेजसे छुट्टी होनेके बाद सन् १९२० में आपने राजपूतानेकी रियासतों तथा गुजरात और काठियावाड़में पर्यटन करनेका निश्चय किया, पर दो महीनेकी इस लम्बी यात्राके लिए आपके पास केवल पचास रुपये थे। तीसरे दर्जेके किरायेके बाद शायद आठ रुपये और बचते थे। इसलिए आपने रेलके किरायेके अतिरिक्त और किसी तरहकी सवारीपर कोई ख़र्च नहीं किया! भोजनपर भी आप औसतसे दो ढाई आने रोज़से अधिक ख़र्च नहीं करते थे। यदि किसी बड़े शहरमें पेट न भरनेके कारण दो एक आने अधिक ख़र्च हो जाते तो आप उस शहरसे दो एक स्टेशन पैदल चलकर रेलगाड़ीपर चढ़ते। द्वारिकाजीके लिए उन दिनों रेल नहीं थी, इसलिए आप पोरबन्दरसे द्वारिकाको पैदल गये, और फिर वहाँसे जामनगरके रास्ते लौटे। फिसलनी ज़मीनपर पैर दबाकर चलना पड़ता था, पर पैर ज़ोरसे ज़मीनपर जमते ही कोई न कोई मज़बूत काँटा टूट जाता था। १७० मील-की पैदल यात्राके बाद रेल तक पहुँचते-पहुँचते दोनों पैरोंमें पन्द्रह-बीस काँटे चुभे पड़े थे। इस यात्राके बाद जब आप सत्याग्रह आश्रममें तीन दिनके लिए ठहरे तो आपको वहाँका जीवन वैसा ही सुखमय प्रतीत हुआ, जैसा कि एक रेगिस्तानी चरवाहेको हरे-भरे मैदानका जीवन प्रतीत होता है। इस यात्रामें आप बिल्कुल अकेले थे। इसके बाद आपने दूसरे वर्ष मध्य प्रान्त, बम्बई, मदरास और दक्षिण भारतकी यात्रा की। तीसरे वर्ष संयुक्त प्रान्त, बिहार और आसाममें घूमे और अगले वर्ष पंजाब, सिन्ध, बलोचिस्तान, सीमाप्रान्त और काश्मीरमें भ्रमण किया। इसके बाद आपने सीलोनका सफ़र किया और आजकल आप विलायतकी यात्रा पर गये हुए हैं।

इन यात्राओंने आपमें भूगोलकी ओर विशेष प्रेम उत्पन्न कर दिया। यही विषय आपको पढ़ाना भी पड़ता था। पर विद्यार्थी अंग्रेज़ीकी विवर-

णात्मक पुस्तकें ठीक-ठीक पढ़ नहीं सकते थे और हिन्दीमें भूगोल सम्बन्धी साहित्यका अभाव था। बहुत दिनोंसे आप इस अभावकी पूर्तिके विषयमें विचार करते थे। फिर आपको ख़याल आया कि केवल विचारोंमें ही पड़े रहनेसे शक्तिका ह्रास हो जायगा और मई सन् १९२४में आपने भूगोल पत्रका आरम्भ किया। प्रारम्भमें आपको लोगोंकी उदासीनता तथा ग्राहकोंकी कमीके कारण काफ़ी घाटा सहना पड़ा। लेकिन पते चिपकानेसे लेकर सम्पादन करने तकके सारे काम आपको ही करने पड़ते थे। अब तक आप भूगोलमें क़रीब आठ हज़ारका घाटा सह चुके हैं, जिसे आपने अपने वेतनमेंसे पेट काट-काटकर पूरा किया है। आपकी इस धुनसे आपके परिवारको जो कष्ट हुआ होगा, उसके विषयमें यहाँ कुछ लिखनेकी आवश्यकता नहीं। भूगोलके पहले पाँच वर्षोंमें तो आर्थिक कठिनाईके कारण आप अपने घरवालोंको केवल पाँच महीने ही अपने साथ रख सके। पर आपके इस तपका शुभ परिणाम यह हुआ है कि हिन्दीका भौगोलिक साहित्य इस समय सभी भारतीय भाषाओंके इस विषयके साहित्यसे आगे बढ़ गया है।

'भूगोल'में ज्योतिष, यात्रा, व्यवसाय, अनुसन्धान, पुरातत्त्व, वर्तमान इतिहास, राजनीति, पशु, वनस्पति, आदि भूगोलके सभी उप विषयोंका समावेश रहता है। पत्रमें संक्षिप्त समाचार जलवायु, चक्र और प्रश्नोत्तर द्वारा सामयिक साहित्यकी ओर लोगोंका ध्यान आकर्षित करनेका प्रयत्न किया जाता है। यात्रा करनेवाले और भूगोलसे रुचि रखनेवाले लेखकोंसे भी सहायता ली जाती है। गत नौ वर्षोंमें भूगोलने प्रायः साढ़े तीन हज़ार पृष्ठोंका भौगोलिक साहित्य तैयार किया है। भूगोलसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रायः सभी अंगों पर कुछ-न-कुछ प्रकाश डाला गया है। 'भू परिचय' और 'भूगोलतत्त्व' नामक पुस्तकें अधिकतर 'भूगोल' में ही प्रकाशित लेखोंकी सहायतासे रची गई हैं। यदि प्रकाशक मिल जायं तो 'भूगोल' में प्रकाशित मसालेकी मददसे और भी कई पुस्तकें तैयार हो सकती हैं। पर आर्थिक कठिनाई इस

मार्गमें बाधक है। इसी कारण योरोपकी भिन्न-भिन्न भाषाओंमें प्रकाशित इस विषयका साहित्य तथा पत्रिकाएँ नहीं मँगाई जा सकतीं। इधर तो श्रीरामनारायणजी मिश्रको धनकी चिन्ता थी, और उधर पुलिसवालोंको शायद यह शक हो गया कि उन्हें बोल्शेविक रूससे सहायता मिलती है! फिर क्या था, आपकी डाक खुफिया पुलिसके दफ़्तरमें जाँचके लिए जाने लगी। बलोचिस्तान, सीमाप्रान्त तथा वर्माकी यात्रामें आपके साथ ऐसा व्यवहार किया गया, मानो आप कोई ख़ूनी क्रान्तिकारी हों। पुलिसका यह भ्रम सम्भवतः अब दूर हो गया है, और आपको अपनी डाक वक़्त पर मिलने लगी है!

इधर हिन्दी जनताकी उपेक्षासे भी मिश्रजीको काफ़ी हानि उठानी पड़ी है। यद्यपि मध्यप्रान्त, बरार, बिहार, उड़ीसा, संयुक्त प्रान्त, पंजाब आदिके शिक्षा-विभागोंने भूगोलको अपने स्कूलोंके लिए स्वीकृत कर लिया है, पर इस स्वीकृतिसे आर्थिक लाभ तभी हो सकता है, जब हेडमास्टर और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड तथा म्यूनिसिपल बोर्डके अधिकारी लोग भूगोल खरीदें। लेखकोंकी कमी भी उनके मार्गमें बाधक रही है और कभी-कभी उन्हें ही सब लेख लिखने पड़े हैं!

पिछली बार जब मिश्रजी कलकत्ते पधारे थे, तो उनसे बहुत देर तक बातचीत करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनकी यात्राओंका मनोरंजक वृत्तान्त सुना। सीलोनकी यात्रामें जब उनकी मोटरबस बत्तीकोला जा रही थी, उलट गई। मिश्रजीके चोट आई, पर जान बच गई। मिश्रजी बड़े संकोचशील हैं, अपने विषयमें पत्रोंमें कुछ भी छपाना पसन्द नहीं करते। जब मैंने उनसे प्रार्थना की—"'लीडर'में स्थानीय ख़बरोंमें एक स्त्रीकी जान बचानेके बारे में जो चार-पाँच लाइनका नोट छपा था, उसका सारा हाल कहिए" तब बहुत आग्रह करनेपर आपने सब बातें बतलाईं। मैंने पूछा, "फिर उस स्त्रीका क्या हुआ?" मिश्रजीने कहा—"पहले तो हम लोगोंने यह विचार किया कि उसे विधवा आश्रममें रख दें। सहगलजी

उसे अपने मातृ-मन्दिरमें रखनेको राज़ी भी हो गये थे। कलक्टर साहबसे उन्होंने यह आश्वासन प्राप्त भी कर लिया था, कि उसपर आत्महत्याके लिए प्रयत्न करनेपर अभियोग न चलाया जायगा। पर वह लड़की वहाँ रहनेके लिए राज़ी न हुई। आख़िर यह तय पाया गया कि उसे अपने माता-पिताके पास पहुँचा दिया जाय। एक विद्यार्थीको साथ लेकर मैं उसके घर ग्राम करेली, ज़िला नरसिंहपुर गया। उसके माता पिताको जो हर्ष हुआ उसका क्या कहना। पिताजी कुछ जेवर लाकर मुझे देने लगे, पर मैंने कहा कि इसकी कोई ज़रूरत नहीं, उनका जेवर उन्हें वापस दे दिया। फिर वह कहने लगे हमें अपनी नौकरीमें रख लो, हम तुम्हारी सेवा करेंगे। पर हम यह भी नहीं कर सकते थे। माता अपनी लड़कीसे मिलकर बड़ी देर तक रोती रही। उसकी आँखोंमें कृतज्ञताके आँसू थे। बस यही मेरा पुरस्कार था।"

मिश्रजीने इतने सीधेसादे और बिना किसी अभिमानके यह घटना सुनाई कि उनके प्रति हमारे हृदयमें कई गुनी श्रद्धा हो गई। हमारा विश्वास है कि यदि हिन्दी साहित्यको मिश्रजीकी तरहके एक दर्जन धुनके पक्के आदमी और मिल जायें तो बेड़ा पार हो जाय।

यदि कभी कोई मामूली क़दका तीस पैंतीस वर्षका ग्रामीण आदमी आपको ईविंग क्रिश्चियन कालेजके मार्गमें मिले, जिसके चेहरेपर निरन्तर रहनेवाली मुस्कराहट हो, कपड़े खादीके हों और हाथमें एक थैला हो तो समझ लीजिए कि ये महाशय 'भूगोल' हैं!

सितम्बर १९३३]

श्री अख़्तर हुसैन रायपुरी

"मुझे याद है कि मैं बहुत छोटा था, शायद अपने पैरों पर खड़ा भी न हो सकता था। शीतकाल और संध्या वेलाकी बात है। दादी तवेपर रोटी सेंक रही थी, और मैं उसके पास बैठा लालटेनकी रोशनीमें साबुनके पानीसे बुलबुले निकालनेकी कोशिश कर रहा था। एकाएक सारा घर क्रन्दनकी गूँजसे काँप उठा और दादी अपने हाथोंको सारीमें पोंछकर बाहर भागी। मेरी समझमें बस इतना आया कि लोग किसी बातपर रो रहे हैं और समवेदना कहती है कि इनके साथ रोना चाहिए। चूल्हेके पास बैठकर मैं भी ज़ोरसे रोने लगा; पर बुलबुलों का खेल इतना मनोरंजक था कि आँखोंमें आँसू न आये। बाहर इतना अँधेरा था कि अपने आसनसे डोलनेका साहस न हुआ। रोने-धोनेका सिलसिला देर तक ज़ारी रहा, यहाँ तक कि मेरा कौतूहल बढ़ गया। कुछ देर बाद कई औरतें आई और मुझे गोदमें उठाकर फूट-फूटकर रोने लगीं। इतना तो मैं भी समझ गया कि अम्माकी बीमारीसे इसका कुछ सम्बन्ध है; सम्बन्ध किस प्रकारका है, यह मैं न भाँप सका। सच तो यह है कि इतने लोगोंको अपने लाड़-प्यारमें तत्पर पाकर मेरा हृदय अभिमानसे फूल उठा। मुझे उस रातकी सब बातें याद हैं। लकड़ीके एक सन्दूकमें अम्माका लिटाया जाना, मेरा उनके समीप जाकर कुछ पूछना, फिर मातमका हृदयविदारक दृश्य! मैंने केवल इतना समझा कि अम्मा इलाजके लिए कहीं गई हैं और अब मेरे लालन-पालनका कुल भार दादीपर है। दादीके दुर्बल हाथोंका सहारा लेकर मैंने बचपनका कँटीला रास्ता तै किया, उसकी लोरियों और कहानियोंने मेरी कल्पनाको रंगीनी दी। उसके ज्योतिर्हीन नेत्र शून्यमें न जाने किस बिछुड़े हुएको ढूंढ़ा करते थे ?"

यह है अख़्तर हुसैन रायपुरीके बचपनकी एक झलक और उन्हींके शब्दोंमें !

बन्धुवर अख़्तर हुसैनको ख़ूब अनुभव हुए हैं और खासे गम्भीर अनुभव, और इन्ही अनुभूतियोंके कारण उनकी भाषामें और उनके भावोंमें एक प्रकारका निरालापन तथा प्रवाह पाया जाता है, जो अन्यत्र बहुत कम देखनेको मिलता है। पर इन कटु अनुभवोंने अख़्तरके जीवनमें कटुता उत्पन्न नही की, दृढ़ता अवश्य उत्पन्न की है। इसका मुख्य कारण यह है कि वे अपनी विपत्तियोंपर हँस सकते है। हिन्दीप्रेमी राष्ट्रिय मुसलिम युवकका जीवन कितना संकटमय हो जाता है, इसका अन्दाज़ हम अख़्तर हुसैनको देखकर लगा सके। हिन्दी-पत्र-संचालक उसपर इसलिए आशका करते है कि वह मुसलमान है, और मुसलिम पत्र उसे इसलिए त्याज्य समझते है कि वह राष्ट्रिय है! एक बार तो कलकत्तेके मुसलिम पत्र 'स्टार आफ इंडिया' में उन्हें इसी कारणसे नौकरी नही मिली, कि उनके विचार राष्ट्रिय थे! और अलीगढ़ मुसलिम यूनिवर्सिटीसे आप इसलिए निकाले गये कि आपके विचार अन्तर्राष्ट्रिय या यों कहिए साम्यवादी थे!

अपने १४-२-३५ के पत्रमें उन्होंने स्वर्गीय व्रजमोहन वर्माको लिखा था--"पिछले चार महीने कैसे बीते, इसका ब्यौरा सुनिये। अक्टूबरमें अलीगढ़ यूनिवर्सिटीके प्रो-वाइस चाँसलरने कहा कि आप ख़ुशीसे बोरिया-बँधना न उठाइयेगा, तो निकाले जाइयेगा! अच्छा यही समझा गया कि अभी अख़बारोंकी Cheap publicity (सस्ते विज्ञापन) से बचा जाय। कांग्रेसका मेला लगनेवाला था। हम भी अपने आप गश्ती संवाददाता बने वहाँ जा पहुँचे। अगर हज़रत दिल--हाय वर्माजी, इस दिलने कहीका न रखा! कम्बख़्त किसीपर आता नहीं, यों ही धड़का करता है! बस साहिब, वहाँ हम क़रीब-क़रीब लम्बे हो चुके थे कि डाक्टर अन्सारी तक पहुँच हुई। नुसख़ा मिला, मगर इस शर्तके साथ कि दो महीने चुपचाप

पड़े रहो । नवम्बरमें एक्सरे हुआ, इंजेक्शन लिए और इस रोगसे शायद बहुत दिनोंके लिए छुट्टी मिली ।"

अलीगढ़से निकाले जानेके बाद अख़्तर हुसैनको दिल्लीमें महीने-भर फ़ाक़े करने पड़े और फिर किसी तरह लाहौर पहुँचे । लाहौरसे उन्होंने वर्माजीको एक कार्ड लिखा—

"प्रिय वर्माजी,

आपको याद होगा कि हिन्दी-संसारमें अख़्तर नामी एक आवारा कभी रहता था । अब वह पटवारीकी जरीबके समान ज़मीन नापता लाहौर चला आया है । अलीगढ़, बम्बई, दिल्ली कहीं उसे आश्रय न मिला । बीचमें बराबर बीमार और बेकार रहा । तंग आकर हिन्दीसे नाता तोड़ रहा है, उर्दूमें अधिक लिखने लगा है । इन दिनों 'उर्दू' औरंगाबादका कुछ काम करने लगा है । शायद रोटियों का कोई सामान हो जाये । कहीं मूलचन्दजी मिलें या बनारसीदासजी पूछें, तो मेरी बन्दगी कहकर यह शेर सुना दीजिये, हालाँकि दोनों महानुभावोंमेंसे किसीको 'हुस्न' या 'इश्क' से कोई वास्ता नहीं:—

क्या 'हुस्न' ने समझा है, क्या 'इश्क़' ने जाना है;
हम ख़ाकनशीनोंकी ठोकरमें ज़माना है ।

यदि आप अब भी मेरा मोल इतना समझते हैं कि 'विशाल भारत' मुफ़्त भेज दिया करें, तो अमीर मंज़िल, अलीगढ़का पता बदलकर लाहौरका पता कर दीजिए । बहुत दिनों तक यहीं रहनेका इरादा है ।

आशा है कि आप सब लोग सकुशल होंगे । जो याद करते हों उनको धन्यवाद, जो भूल गये हों उनका भी शुक्रिया । आपका—

अख़्तर हुसैन रायपुरी"

अक्टूबर सन् १९२७ में मैं 'बिशाल भारत' की सम्पादकी करनेके लिए कलकत्ते पहुँचा था और शायद जून १९२८ में अख़्तर साहब कलकत्ते आये । शिष्टशिरोमणि गर्देजीके 'श्रीकृष्ण-सन्देश' में वे कभी-कभी

लिखा करते थे, और फिर तो वर्माजीके साथ वे भी 'विशाल भारत' परिवारके एक सदस्य बन गये। गर्देजीने 'विशाल भारत' को दो लेखक दिये——वर्माजी और अख़्तर, और इसके लिए हम उनके आजीवन ऋणी रहेंगे। वे दिन क्या कभी भुलाये जा सकते हैं, जब मुंशी नवजादिक लाल, श्री ब्रजमोहन 'वर्मा' और श्री अख़्तर हुसैन रायपुरीके साथ कहीं मित्र-मंडली जुटती थी। वर्माजीको उर्दूके बहुतसे शेर याद थे, जिन्हें वे बड़े मौक़ेसे कहते थे और मुंशीजीके पास तो उनका ख़जाना ही समझिए। बस, फिर क़हक़हेपर क़हक़हे उड़ते थे और घंटे बीतते देर न लगती थी।

कलकत्तेमें मुसलमानोंके किरायेके मकान अधिक नहीं हैं, इसलिए हिन्दू मकानोंकी अपेक्षा उनका किराया ज़्यादा ही है, और उनके आसपास का वायुमंडल भी अच्छा नहीं। अख़्तर साहबको सम्भवतः ५०–५५) 'विश्वमित्र' से मिलते थे और उनमें १७) किरायेमें ही चले जाते थे! हमारे निकट बारह रुपयेपर एक अच्छा कमरा ख़ाली था; पर वह मकान एक ब्राह्मण देवताका था, और उसमें मुसलमान भला कैसे रह सकता था? रहनेकी बात तो रही दूर, कितने ही हिन्दू मकान मालिक इस बातपर भी ऐतराज़ करते हैं कि कोई मुसलमान उनके किसी भाड़ेतूके यहाँ आये! सेण्ट्रल एवेन्यू और विवेकानन्द रोडके मेलपर मैंने एक कमरा लिया, किरायेके पेशगी तीस रुपये भी दे दिये; बादको कहीं मेरे मुँहसे यह बात निकल गई कि मेरे कमरेपर मेरे ईसाई या मुसलिम मित्र कभी-कभी आया करेंगे! बस, फिर क्या था, किराया वापस कर दिया गया! पीछे पता लगा कि मेरे कमरेके ठीक ऊपर मारवाड़ी सज्जनका पूजाका कमरा था। भला, यह कैसे हो सकता था कि पूजा-घरके नीचे कोई मुसलमान या ईसाई आवे?

अख़्तर साहब पत्रकार थे और मैं भी; पर इस साम्प्रदायिकताके कारण हम दोनोंका साथ रहना असम्भव था। सन् १९३७ में मैंने, जब वे कलकत्ता छोड़ चुके थे, उनसे अनुरोध किया कि आप अपने कलकत्तेवाले

मकानोंका वृत्तान्त लिख भेजिये। उन्होंने जो कुछ लिखा, वह यहाँ उद्धृत किया जाता है--

"कलकत्तेमें मुझे जिन चार विभिन्न मकानोंमें रहनेका दुर्भाग्य प्राप्त हुआ, उन सबकी एक-एक विशेषता मेरी स्मृति में सदाके लिए अंकित हो गई है।

पहले मकानके आँगनमें सुबह-सबेरे किसी रंगरेज़की भट्टी चढ़ती थी। पत्थरके कोयलोंका धुआँ किसी परदार साँपकी तरह उड़ता हुआ मेरे कमरेकी खिड़कीमें घुस आता था। उस समय कभी-कभी मैं बड़े भयावने सपने देखता था। एक बार मुझे ऐसा भान हुआ कि पाठकजीने (जो उन दिनों 'विश्वमित्र' के प्रधान-सम्पादक थे) कम्पोज़ीटरोंको मुझे कम्पोज़ कर देनेका हुक्म दिया! और मैं सशरीर फ़रमेपर चढ़ा दिया गया। जब मैं हड़बड़ाकर उठ बैठा, तो देखा कि कमरा धुएँसे भरा हुआ है। सूरजकी पहली किरणके साथ वह कश्मीरी रंगरेज़ अपनी नाँद भट्टीपर चढ़ा देता था। अब तक मुझे उसकी तपी हुई देह और तमतमाता हुआ दढ़ियल चेहरा याद है। उसके सहकारी ऊँचे सुरोंमें कोई गीत गाया करते थे, जिसकी तान इस पदपर टूटती थी--'अय शाल! उबलते हुए पानीसे जब तू निकलेगी, तब कहीं इस योग्य होगी कि प्रियाकी सहेली बने।'

"दूसरे मकानका रास्ता एक ऐसी सड़कसे होकर गुज़रता था, जिसके दोनों ओर चमड़ेके गोदामोंके सिवा कुछ न था। पथिकोंको कच्चे चमड़ों-के ढेर लाँघकर गुज़रना होता था। मूक पशुओंकी उन सूखी हुई खालोंमें मनुष्यकी पाशविकताकी दास्तान घिनौनी दुर्गन्धसे लिखी हुई थी। मालूम नहीं कितनी बीमारियोंके कीड़े उस गलीमें बिलबिलाया करते थे। कई साल बीत गये; पर अब भी उस गलीकी नारकीय बदबू मेरी नाकमें बसी हुई है। भैंसकी बू कुछ अफराई होती थी, गोहके चामसे भुने हुए कटहलकी बू आती थी; इसी तरह विभिन्न खालोंसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी दुर्गन्धें निकला करती थीं।

"तीसरे मकानमें हर हफ़्ते मेरी आँखोंके आगे एक ऐसा दृश्य आता था, जो आजीवन मुझे न भूलेगा। शुक्रवारके प्रातःकालको भिखारियोंकी भीड़ उस विशाल अट्टालिकाके प्रांगणमें जमा होती थी। मकान-मालिक उन्हें एक-एक धेला देकर अजस्र पुण्यका संचय किया करता था। अपने कमरेके बरामदेमें खड़ा होकर हमेशा मैं कोढ़ी, लंगड़े और अन्धे भिखमंगोंके उस जमघटको देखा करता था। इसके बाद कई-कई दिन मेरी आत्मा क्षुब्ध और सन्तप्त रहती थी। ऐसा लगता था कि पददलित और लुण्ठित मानव-समाज अपने ईश्वरसे भीख माँगनेके लिए इकट्ठा होता है। और वह जगतसेठ इन अपाहिजोंको ठोकरोंके साथ कुछ झूठे टुकड़े बाँटा करता है। मेरे चित्तपर इस घटनाका प्रभाव इतना गहरा है कि मैं 'दान-वीर' पूँजीपतियोंसे तीव्र घृणा करता हूँ। मेरी एक कहनी 'भिखारी' इसी दृश्यसे प्रभावित है।

"चौथे मकानके ठीक सामने एक प्रोलितेरियन होटल (भटियारख़ाना) था। उसके तंदूरपर भोरसे लेकर आधी रात तक रोटियाँ पका करती थीं। यह भटियारा बुद्धदेवके समान पालथी मारकर तंदूरके मुँहके पास बैठ जाता था। कठौतीसे गुँधे हुए आटेका एक विशेष परिमाण नोचकर पटरेपर रखता और बेलनकी मददसे उसे एक खास गोल आकारमें लाकर फिर चौतालेकी गतपर उसे बजाकर तंदूरमें थोप दिया करता था। उसकी प्रत्येक गति इतनी जँची-तुली थी कि वह कोई पुतला जान पड़ता था। जब रोटी आख़िरी धमाकेके साथ तंदूरमें थोप दी जाती थी, तो भटियारा सन्तोषकी गहरी साँस लेकर माँथेका पसीना अंगारोंपर छिटकाता और पास रखी हुई गुड़गुड़ीका एक कश लिया करता था। दिनमें १७६० बार यही डफली बजा करती थी। उसकी हर थापके साथ मेरे दिमाग़में जैसे टहोका लगता था; यह मालूम होता था कि कोई अनाड़ी सर्जन दिमाग़की एक रगमें याद दिलानेके लिए गाँठ बाँध रहा है। आटेके गोलेकी वह अनवरत थाप—वह भैरव ताल—अब भी कभी-कभी सिरके

भीतर तबलेके चौतालेके समान गूँजा करती है। और रोटीपर मुक्कोंकी आवाज़ वर्गयुद्धकी थ्योरीके समान दिमाग़के सूने आसमानमें कड़कती रहती है।"

क्या ही अच्छा होता, यदि अख़्तर साहब अपनी डायरी लिखते। एक बार उन्होंने कोशिश की थी, और वह चीज़ लाजवाब बन पड़ी। मासिक 'विश्वमित्र' के एक अंकसे उसके कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत किये बिना नहीं रह सकते:—

१७ जुलाई—कल मुझे एक हृदयवेधक अनुभव हुआ। जब पथिकोंके धक्कोंसे पतलूनकी क्रीच बचाता हुआ होटलके आगे पहुँचा, तो एक भिखमंगेने मेरी बाँह पकड़ लीं। मेरी ठुटपुँजिया (पैटी बुर्जुआ) अन्तरात्मा रोषसे सजग हो उठी। मैं उसे धकियानेवाला ही था कि हाथ ज्यों के त्यों रह गये। उसके हाथोंको लकवा मार गया था, और वे घासके समान थरथरा रहे थे। उसकी बाँहमें रोटीके टुकड़े दबे हुए थे; पर उसमें इतनी भी ताक़त न थी कि ख़ुद उन्हें खा सकता। नाकसे रेंट बहकर दाढ़ी-मूँछके बालोंमें लिपट गया था। क्या मनुष्य इससे भी अधिक असहाय हो सकता है? वह केवल इतना चाहता था कि उसकी रोटियाँ कोई उसे खिला दे। उसी सड़कपर न जाने कितने लोग साँड़ों, कुत्तों, बिल्लियों और बटेरोंका दुलार करते थे—पर मनुष्यके दुख-दर्दपर किसीकी आँख नहीं! जब मैं उसके मुँहमें कौर भरने लगा, तो वह वनपशुओंके समान बिलबिलाकर बिना चबाये उन्हें निगलने लगा और उसकी आखोंसे आँसू मेरी उँगलियोंपर टपकने लगे।—वह मनुष्य था और मानव-प्रेमको समझ सकता था।—मेरे परिचित विस्मय और घृणाके साथ दूर खड़े मेरी हँसी उड़ा रहे थें। आह शोपेनहार और उसके हृदयहीन, भावहीन दुरंगें जानवर!

२१ जुलाई—मैं अपने दिलको कितना समझाता हूँ कि भलेमानस तू जिस आदमियतको ढूंढ़ता है, वह इस संसारकी वस्तु नहीं। मेरी स्व-

चेतनताका अब यह हाल है कि नाक हमेशा अन्याय और अत्याचारकी बू सूंघती है, आँखें समाजकी बुराइयाँ ढूंढ़नेके सिवा कुछ नहीं करतीं और ज़बान व क़लम बराबर प्रतिवाद और प्रतिकारके मौक़े ढूँढ़ती हैं। मैं कोई समाजका ठेकेदार या खुदाई फ़ौज़दार हूँ ? क्यों न आज उमर खैयामकी रुबाइयात खरीदूं और 'मैं' के नशेमें शराबोर हो जाऊँ।

आज फिर दारुण मानसिक यातना! भोरमें जब मैं स्टेशनसे लौटा, तो सेठोंकी हवेलियाँ वेश्याओंके समान स्वप्ननिरत थीं। केवल अलसाये हुए इक्के-दुक्के साँड़ और उनकी जुगाली करती हुई जीभोंको ताकनेवाले, फुटपाथपर लेटे हुए भिखारी भुवनभास्करका झण्डा लहरा रहे थे। सेठानियाँ लठबन्द दरबानोंकी छत्रछायामें नन्दी देवताको पकवानोंका भोग लगाती जाती थीं। किसी भिखारीकी जो शामत आई, तो उसने एक अघाये हुए नयनमुँदे साँड़के आगेसे थाली सरका ली। साँड़ तो अपने आसनसे हिला तक नहीं, मगर दरबानने ताबड़तोड़ कई लाठियाँ भिखारीपर बरसा दीं। उस बेचारेने मुँहमें इतनी पूरियाँ ठूंस ली थीं कि चिल्ला भी न सका। वह उस कुत्तेसे अधिक चालाक था, जो पानीमें मुँहके मांसकी परछाईं देखकर उसपर झपटा और अपनी जमा भी गँवा आया। यही नहीं, गंगामाईकी ओर क्षमा-प्रार्थियोंके समान देखकर कीचड़से वह उन पूरियोंको उठाने लगा, जो इस छीना-झपटीमें गिर गई थीं।...

४ अगस्त--फिर रेलका सफर ! मेरा जीवन ड्राइंगमास्टरकी परकार या पटवारीकी जरीबके समान हो गया है। सचमुच सिन्धबाद जहाजी हो गया हूँ; पर न कहीं सोने-रूपेकी बारिस होती है, न हीरे-मोतीके खजाने मिलते हैं, और मैं इनकी खोजमें भागा-भागा अपनी दुरवस्थाको और भी दयनीय बनाता जाता हूँ।

अब तो माँका पेट रेलका डिब्बा या होटल हो गया है, जिसमें भाई-बहन मुसाफिरोंके समान कुछ समयके लिए जमा होते और फिर अपनी-

अपनी राह लेते हैं। केवल यही एक स्थान है, जो हमारे देशमें अन्तर्जातीय मेल-मिलाप और अछूतोद्धारका प्रतीक है। यहीं हिन्दू-मुसलमान मिलते हैं, यहीं छूत-अछूतका झगड़ा मिटता है, यहीं परदेकी कठोरता कम होती है, यहीं स्त्री-पुरुषकी समानताका विज्ञापन होता है, यहीं हिन्दुस्तानी रोमांस शुरू होता है! धन्य है भारतीय रेलका डिब्बा और उसकी महिमा।

विशाल भारतकी इस छोटी-सी आवृत्तिमें दो चीज़ें सबसे दिलचस्प हैं। एक तो वह बोहरा, जो तकियेके ख़ाली खोलमें रुपयोंकी थैली भरे उसे सिरहाने रखे आँखें बन्द किये है। दूसरे यह लालाजी, जो अपनी धर्मपत्नीको बेंचपर सुलाकर स्वयं नीचे सो रहे हैं। थोड़ी-थोड़ी देरमें वे सिर निकालकर देख लेते हैं कि श्रीमतीजी सकुशल हैं या नहीं, और फिर वही ख़र्राटेका चौताला!

लालाजीके चिरंजीवीके रोनेकी आवाज़! ललाइनने अपने पयोधर उसके मुँहसे लगाये, फिर भी यह अभागा चुप न हुआ। तंग आकर माँने उसे धमकानेके लिए कहा—'पीता है तो पी, नहीं इन बाबूजीको दे दूँगी!'

क्या मैं इतना भूखा मालूम होने लगा हूँ?

११ सितम्बर—आज ठाकुर...से भेंट हुई। पक्के राष्ट्रवादी, जेलयात्री और आध्यात्मिकताके रसिया हैं। मकानोंकी मरम्मत हो रही है, अपनी निगरानीमें मज़दूरोंसे काम लेनेके लिए सुबहसे शामतक बैठकमें जमे मोटी ऐनकके भीतरसे उनकी गतिविधिका निरीक्षण करते हैं। आज ज़मींदारीके कुछ किसान पावना चुकाने भी आये हैं। मुझे देखते ही उन्होंने हाथों-हाथ लिया और बातचीतका सिलसिला शुरू हो गया। नेपोलियन और हैदरअली अगर एक साथ कई काम कर सकते थे, तो यह महोदय कम-से-कम एक साथ किसान, मज़दूर और आत्मासे तो निबट सकते हैं!

वे—जी हाँ, आप ऐसे भयंकर भौतिकवादीके लिए कबीरकी साखीको

समझना कठिन है। कहिये तो सही, कायाको माया न कहें तो क्या कहें और—अरे बिसाखू, कम्बख़्त डेढ़ घंटा देरसे आ रहा है? ऐं—बच्चेके लिए दवा लेने गया था! हमने तो उसे पैदा नहीं किया। मुन्शीजी एक पहरकी मजदूरी काट लीजियेगा!—जी हाँ, और मौलाना रूमने भी अपनी मसनवीमें एक समानार्थक शेर कहा है, सुनिये:—(थोड़ी देर बाद)

साहब, अहिंसाके सिद्धान्तपर ठण्डे दिलसे तो सोचिये। यही मानव-धर्म है, यही मनुष्य और पशुका वास्तविक भेद है। जिसे आप जिला नहीं सकते, उसे मारनेका अधिकार—सुनो जी बोधराम, तुम्हारे जिम्मे जो तीसरे सालका १६ रु० आता था, वह अब सब मिलाकर ३३॥=)॥ हो गया। चलो ॥=)॥ छोड़ देते हैं, अगर पूरा भुगतान अभी कर दो।—क्या कहा?—ज़मीन बन्धक रखकर, हें, तो हमपर क्या अहसान किया!—लड़केका क्रिया कर्म? तो बाबा हमने इसका कुछ ठेका ले लिया है—न खाओ सिर हमारा!—जी हाँ, यही है महात्माजीकी शिक्षा....

मेरा सिर घूमने लगा, मैं भागा। आत्माके साथ दरिद्रोंका शोषण और अहिंसाके साथ किसानोंकी हिंसा मुझे अनुलिप्त दिखाई देने लगी।

२९ सितम्बर—यह वातावरण कितना ज़हरीला है, इसमें मेरा दम घुटा जाता है, जैसे इसके नागपाशमें मेरे व्यक्तित्वका खून जल रहा है। मेरा शरीर ही रुग्ण नहीं, मेरी आत्मा भी रुग्ण हो गई है। यह स्थान गोबरका ढेर है, जिसमें शिक्षाके प्रकाश-पुंजसे कीड़ोंके समान इतने आदमी बिलबिला रहे हैं। इनके बीचमें मेरी आत्मा जुगनूके समान कभी जलती और कभी बुझ जाती है। मैं यहाँसे भागना चाहता हूँ; लेकिन संसार मेरे लिए या तो बहुत तंग है या इतना बड़ा कि उसके द्वन्द्वमें घुनके समान मैं पिस रहा हूँ।

कुछ दिनोंसे फिर हृदयकी धड़कन शुरू हो गई है। कल पढ़ते-पढ़ते एकाएक मेरे हाथ थर्राने लगे, दिल पंखेके समान घूमने लगा, कान

भाँय-भाँय करने लगे, मुँह रक्त-प्रवाहकी तेज़ीसे लाल हो गया। मैंने साँस रोक ली कि कहीं इस कम्प-विकम्पमें रुक ही न जाये ! ऐसा दौरा कभी न हुआ था। फिर प्रतिक्रियासे हाथ-पैर निढाल हो गये—अँधेरा और सन्नाटा !

३० सितम्बर—क्या मनुष्य रोटी कमाने और खानेवाले जानवरके सिवा कुछ नहीं ? क्या यही जीवनका अर्थ और इति है, क्या यही इस शब्दका अन्तिम अर्थ है ? अगर काम करने और जीनेमें कोई भेद नहीं, तो मैं हरगिज़ काम न करूँगा। क्यों न इन पक्षियोंके कूजन और समीरके विलापको सुनते हुए निश्चल पड़ा रहूँ और इसी प्रकार मर जाऊँ। संसारको मेरे जीवनकी ज़रूरत नहीं, तो मुझे इस संसारकी क्या आवश्यकता ?

२९ अक्तूबर—कौन-सी वह तीन चीज़ें हैं, जो मुझे ईश्वरकी सुरुचि-का कायल बनाने लगी हैं ?—समुद्र, नारी और टोमेटो ! एक विशाल है, दूसरा अबूझ पहेली है, तीसरेमें पंजाबी खोनचेके '१२ स्वादों'का मज़ा है !

१३ नवम्बर—रुपयेपर शासकोंकी मोहर क्यों दी जाती है ? क्यों नहीं साक्षात् भगवान्‌की छवि इसपर अंकित कर दी जाती। यही मेरुदण्ड है, यही शेषनागका मस्तक है, यही अल्ला मियाँका सिंहासन है। छत्तीसों रागि-रागनियोंकी मधुरता रुपयेकी झनकारमें सिमट आई है, सत्यके सारे प्रयोगोंका अर्थ है—भज कल्दारम् ! नैतिकता और धर्मकी आत्मा पिघली हुई चाँदीमें समा गई है। आइन्सटीन क्यों कहता है कि ब्रह्माण्ड विद्युत्-कणोंका ढेर है; वह क्यों नहीं कहता कि यह विश्व रुपया और रुपया पैदा करनेवालोंका अखाड़ा है ? ईश्वर चाँदीकी खानोंका मालिक और पूँजीपति उसके दलाल हैं। तूरकी पहाड़ीपर मूसा किसकी प्रभासे चौंधियाकर अचेत हो गया था ? ईश्वरके तेजसे या रुपयेकी झलकसे !"

अख्तर साहबने कितनी ही कहानियाँ लिखी हैं, जो अपने ढंगकी

अद्वितीय हैं। उनका दृष्टिकोण समाजवादियोंका है। अपने २।३।३५के पत्रमें उन्होंने लिखा था—

"मेरे आपके दृष्टिकोणमें जो भेद है, वह आपके 'कस्मै देवाय' और मेरे 'साहित्य और क्रान्ति' नामक लेखोंसे स्पष्ट हो जाता है। आपने केवल प्रत्यक्षवादका समर्थन किया था, और मैंने एक क़दम आगे बढ़कर कहा कि क्रान्तिकारी प्रत्यक्षवादकी आवश्यकता है, क्योंकि ट्राटस्कीके शब्दोंमें "Art is not only a mirror, it is a hammer as well." यानी—(कला केवल दर्पण ही नही, बल्कि वह एक हथौड़ा भी है।' जब युद्ध छिड़ा हो, तो साहित्यिक 'सत्यं शिवं सुन्दरं'का केमरा लिये प्रत्यक्षवादकी फ़सीलपर नहीं बैठ सकता। या तो वह प्रतिक्रियाके क़िलेमें होगा या क्रान्तिके मैदानमें। केवल किसानका दुखड़ा रोने और ज़मींदारके उत्पीड़नपर दीदे निकालनेसे कुछ न होगा। ऐसी भावुकताका अन्त रवि बाबू और प्रेमचन्दजीके सुधारवादमें होता है। आप 'भविष्य किनका है?' इस विषयपर लिखना चाहते हैं। इस प्रश्नका व्यापक उत्तर इतिहाससे माँगिये, तो वह कहेगा कि भविष्य किसानों और मज़-दूरोंका है। भविष्य उन साहित्यिकोंका है, जो उन्हें जगानेके लिए अभि-यान करते हैं। मैं साहित्यको फोटोग्राफ़ी नहीं समझता, यह भी एक हथियार है, जो किसी एक श्रेणीके स्वार्थोंकी रक्षा परोक्ष या प्रत्यक्ष रूपसे कर रहा है। जिन 'साहित्यबाज़ों'की आँखका शहतीर आप निकालना चाहते हैं, उनके विषयमें टाल्सटायने What is art में बड़े चुभते हुए फ़िक़रे लिखे हैं।...आवश्यकता इस बातकी है कि पददलितोंको बतलाया जाय कि शोषण क्यों होता है और उसका अन्त किस प्रकार हो सकता है। यह कहना काफ़ी नहीं है कि शोषण कैसे होता है—हालाँकि आवश्यकता इसकी भी है। जब आप किसानों और मज़दूरोंके लिए लिखना चाहते हैं, तो उन्हींसे उनकी हालत कहना कितना बेमानी है। उनसे अधिक उनकी पीरको कौन समझ सकता है? उन्हें तो यह बतलाना है कि

यह काँटा इस प्रकार निकाला जा सकता है। तब साहित्यिक नेता और पथ-प्रदर्शक होगा। जन-समुदायको भविष्यका मार्ग दिखलानेका अर्थ आज है क्रान्तिकारी कहलाना। इसे सुनकर इलाचन्द्रजी बिगड़ेंगे और कहेंगे--"क्रान्तिभ्रान्ति है, 'चिरसुन्दर' ही सब-कुछ है।"

हमें खेद है कि अख़्तर साहबका दृष्टिकोण कुछ संकुचित-सा हो गया है। इसमें उनका अपराध अधिक नहीं है, क्योंकि जिन परिस्थितियोंमें होकर उन्हें गुज़रना पड़ा है, उन्होंने अख़्तर साहबके दिलपर ज़बरदस्त छाप छोड़ दी है।

'विश्वमित्र'में उन्हें अक्सर रातकी सम्पादकी करनी पड़ती थी, और यह भी उन दिनों, जब उनको दिलकी कमज़ोरीकी बीमारी थी। एक बार तो रातके वक़्त लौटते हुए और अपने कमरेपर कुमार्गसे चढ़ते हुए उन्हें किसीने चोर समझ लिया था! और कैसे मकानोंमें रहना पड़ता था, इसका वृत्तान्त पाठक पढ़ ही चुके हैं। इन संकटोंने उनके सारे दृष्टिकोणको अतिरंजित कर दिया है, रंगीन बना दिया है। हृदयकी धड़कनके दिनोंमें वे बम्बई गये थे, और वहाँके समुद्रको देखकर आपके मनमें जो भाव उठे, उनसे एक गद्यकाव्य ही बन गया!

"समुद्र--

मेरे सामने आँसुओंकी अनगिनत बूँदें थिरक रही हैं, और हर बूँदमें शोक और विषादकी मौजें सिसक रही हैं।

मुझे इन ख़ामोश पहाड़ियोंसे आनेवाली प्रतिध्वनिमें, बादलोंकी डगमगाहटमें, हवाके झोंकोंकी तकरारमें और समुद्रके हुलस-हुलसकर तड़पनेमें--विलाप और क्रन्दनकी आवाज़ें सुनाई देती हैं।

यह नौका मेरे दिलकी तरह बेचैन है, ये तारे मेरे भावोंके समान आकुल है, ये चाँद मेरे भविष्यके समान धुँधला है।

तट समुद्रकी असीमताको परिमित करना चाहता है, कुहासा चाँदनीको शृंखलाबद्ध कर रहा है और मैं आप अपनी असहायताका बन्दी बन गया हूँ।

मेरे दुर्भाग्यके समान अँधेरा बढ़ता जाता है, मेरे जीवनके सूनेपनके समान सन्नाटा बढ़ता जाता है, दिलकी धड़कनके समान समुद्रकी व्याकुलता बढ़ती जाती है।"

अख़्तर साहब स्पष्टवादी भी बड़े हैं। हिन्दू-मुसलमानोंके सांस्कृतिक मेलके लिए जब मैंने छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ छपाना प्रारम्भ किया, तो उन्होंने कहा—"चौबेजी, क्यों पैसा बरबाद कर रहे हो ?" फिर वर्मा-जीको उन्होंने एक पत्रमें लिखा—"अलीगढ़, दिल्ली, और लाहौर तीनों उर्दूके केन्द्र हैं। इनमें रहनेके बाद मुझे मालूम हुआ कि मुसलमान साहित्यिकोंका मानसिक धरातल (intellectual level) कैसा है। इस ऊँटकी कोई कल तो सीधी हो ! चतुर्वेदीजीसे पूछिए, आप किनकी संस्कृतिका गुणगान करते हैं। वह और कोई मुसलमान होंगे—

जो कि बेचते थे दवाए-दिल,
वह दूकान अपनी बढ़ा चुके।

बाक़ी नाम अल्लाहका !"

अख़्तर साहब एक साफ़ दिमाग़ आदमी हैं, और उन्होंने अपने मस्तिष्क-में कूड़े-करकटको इकट्ठा नहीं होने दिया। उनकी भाषाके विषयमें क्या कहना है ! जब 'विशाल भारत'में उनके लेख 'मुग़ल राज-वंशकी अन्तिम झलक', 'रंगूनमें अन्तिम मुग़ल सम्राट्' और 'फूलवालोंकी आख़िरी सैर' छपे, तो कितने ही पाठकोंके पत्र हमारे पास उन लेखोंकी प्रशंसामें आये। उन लेखोंके कारण अख़्तर साहबके विषयमें कितने ही आदमियों-को बड़ा धोखा हो गया। उन्हें पढ़कर लोगोंने अन्दाज़ लगाया कि उनके लम्बी दाढ़ी होगी, पगड़ी बाँधते होंगे, कुबड़ी टेककर चलते होंगे ! अख़्तर साहब अपना चित्र छपानेके सख़्त ख़िलाफ़ हैं; पर दाढ़ीवाली बातसे उनके दिलको इतना धक्का पहुँचा कि इस ग़लतफ़हमीको दूर करनेके लिए ही चित्र छपाना स्वीकार कर लिया और वर्माजीको लिखा— "हम और दाढ़ी ! जी चाहता है कि आत्मघात कर लें !"

पाठकोंको यह बतला देना ज़रूरी है कि अख़्तर साहबका जन्म सन् १९१२में रायपुर (मध्यप्रदेश)में हुआ था, और वे कुल जमा २७ वर्षके हैं !

यदि किसी भोलेभाले पाठकने उन्हें भलामानस समझ रखा हो, तो उसे अपना यह भ्रम तुरंत दूर कर लेना चाहिए। आजकल अख़्तर साहब निज़ाम सरकारकी छात्रवृत्ति लेकर पेरिस गये हुए हैं "ऐसी आशा की जाती है कि वे कोई डाक्टर होकर लौटेंगे—पी-एच० डी० या डी० लिट० इसका हमें पता नहीं; पर एक बात प्राइवेट तौरपर हमें मालूम हो गई है, वह यह कि हिन्दुस्तानकी ज़मीनपर पैर रखते ही वे गिरफ़्तार कर लिये जायेंगे और उनपर तीन मुक़दमे चलेंगे—एक चोरीका, दूसरा उठाई-गीरीका और तीसरा डकैतीका ! इन अभियोगोंका सारा मसाला तैयार हो चुका है।

चोरी—हाली-शताब्दीके अवसरपर मौलवी अब्दुलहक़ साहबके साथ हम पानीपत गये हुए थे। वहाँ जो डेरा मिला, उसमें सिर्फ़ एक खाट थी और आदमी थे तीन। जब अख़्तर साहबको यह पता लगा, तो बजाय इसके कि स्वागतकारिणी सभाके किसी सदस्यसे रिपोर्ट करते, ज़रा झुटपुटा होते ही पासके ख़ेमोंसे दो खाट चुरा लाये ! उन बेचारे उर्दू-कवियोंको रातको जो तकलीफ़ हुई होगी, उसका अन्दाज़ा पाठक लगा सकते हैं।

उठाईगीरी—इस बारेमें ख़ुद अख़्तर साहबने इक़बाल किया था और डाक्टर अन्सारी साहबके सामने, उन्हींके बँगलेपर। एक बार अलीगढ़के कितने ही मुसलिम विद्यार्थी रेलके एक डिब्बेमें यात्रा कर रहे थे, और उसमें एक चौबेजी भी जा रहे थे। उनकी चौबाइनजी तथा एक छोटा बच्चा उनके साथ थे और पासमें थे एक टोकरी-भर मथुराके पेड़े। उन विद्यार्थियोंने अख़्तरसे कानमें कहा—"भाई, किसी तरह ये पेड़े खिलवाओ, तब जानें।' अख़्तर साहबने एक तरकीब सोची। आपने चौबेजीके बच्चेको अपनी गोदमें ले लिया और उसे ख़ूब खेलाने लगे। बच्चा बहुत

खुश था, और उसके माता-पिता भी इस आकस्मिक स्नेहस गद्गद हो रहे थे ! मौक़ा देखकर अख़्तरने उसे थोड़ा-सा नोच दिया ! फिर क्या था, वह रोने-चिल्लाने लगा। बस, झट आपने कहा—"अरे ! अरे ! लल्ला रोता क्यों है ? ले एक पेड़ा खा ले।' और तुरन्त टोकरीमेंसे एक पेड़ा निकालकर उसे दे दिया। अब चौबेजी घबरा गये—'अरे ! जि का करौ ! मलेच्छने सब पेड़ा खराब कद्दए ! फैंकौ इनैं !' अख़्तर साहब भूरि-भूरि क्षमा-याचना कर रहे थे, और चौबेजी टोकरीको रेलके बाहर फेंकनेको आमादा थे। बाक़ी विद्यार्थियोंमेंसे, जो दूर बैठे थे, किसीने कहा—'चौबेजी, जो-कुछ हो गया, सो हो गया, अब इन पेड़ोंको बाहर फेंकनेसे तो यही अच्छा है कि इन्हीं लोगोंको दे डालो।' आख़िर यही हुआ, और सब लड़के मिलकर चौबेजीके टोकरी-भरे पेड़े चट कर गये ! डाक्टर अन्सारी साहबने ही यह क़िस्सा हमें सुनवाया था। उठाईगीरी और किसे कहते हैं ?

डकैती का जुर्म इन सबसे अधिक संगीन है। हमारे पाठकोंने कालपी-का नाम सुना होगा, उस कालपीका जो तीन महापुरुषोंकी जन्मभूमि होनेके कारण प्रसिद्ध है—एक स्वर्गीय व्रजमोहन वर्मा, दूसरे अमीरअली 'ठग' और तीसरे लाला मूलचन्दजी अग्रवाल ('विश्वमित्र'वाले)। हाँ, तो उसी कालपीके एक पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्टके यहाँ डाका पड़ा। किसी साहित्य-सेवीको इसकी ख़बर भी नहीं दी गई; कोई बारातमें जा भी कैसे सकता था ! नतीजा यह हुआ कि अख़्तर साहबके कितने ही साथी-संगियों-ने यह ख़बर फैला दी—'हम तो पहलेसे ही कहते थे कि अख़्तर सी० आई० डी०का आदमी है, नहीं तो पुलिस आफ़िसरके यहाँ क्यों उसकी शादी होती !'

हाँ, तो ये तीन मुक़द्दमे अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-पत्रकार-सम्मेलनके काशीवाले अधिवेशनमें 'जर्नलिस्ट सोवियत'के सामने पेश होंगे। सज़ाएँ भी तय हो चुकी हैं :—

(१) अख़्तर साहब अपनी कहानियों और लेखोंका एक संग्रह तुरन्त छपावें।

(२) भविष्यमें मुख्यतया हिन्दीमें ही लिखनेकी प्रतिज्ञा करें।

(३) अपने पेरिस-प्रवासका वृत्तान्त चौबेजीके 'विशाल भारत'के लिए लिखें, क्योंकि मथुराके वे चौबे हमारे रिश्तेदार थे !

और चौथी यह कि सब हिन्दी-पत्रकारोंको एक भोज देकर चौबेजीके पेड़ोंका प्रायश्चित्त करें ! यदि ऐसा न किया गया, तो यह निश्चित समझिए कि वे पत्रकार-जातिसे बहिष्कृत हो जायेंगे। डाक्टर अख़्तर हुसैन रायपुरीका यही माक़ूल इलाज है। उन्होंने समझ क्या रखा है ! वह तो ख़ैरियत हुई कि रेलके उस डिब्बेमें कोई धर्मात्मा हिन्दू उपस्थित न थे, नहीं तो इसी बातपर फ़ौजदारी हो जाती--फ़ौजदारी क्या, जनाब साम्प्रदायिक दंगा, और फिर भारत दो भागोंमें बँट जाता--हिन्दू भारत और मुसलिम पाकिस्तान ! हाँ।

मई १९३९]

मुंशी जगनकिशोर 'हुस्न'

संसार विज्ञापनबाज़ोंका है। विज्ञापनके अभावमें अच्छी-से-अच्छी वस्तु जहाँकी-तहाँ पड़ी रहती है, उसे कोई जानता भी नहीं; और विज्ञापनके द्वारा बुरी-से-बुरी वस्तु भी जनताके आदरका पात्र बन जाती है। कवि और उनकी कीर्तिके विषयमें भी यही बात कही जा सकती है। हाँ, जो महाकवि तुलसीदासकी तरह अत्यन्त उच्चकोटिके हैं, उनके बारेमें हम ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि उनकी प्रतिभा-रूपी नदी अनेक कृत्रिम बाधाओं और चट्टानोंको दूर करती हुई, धाराप्रवाह रूपमें बहती और सहस्रों-लक्षों हृदय-क्षेत्रोंको अपने अमृतोपम रससे प्लावित कर देती है। विज्ञापनके बिना ही गोस्वामीजीकी रामायणका जितना प्रचार हुआ है, उतना भारतकी किसी भी देशी भाषाकी किसी भी पुस्तकका नहीं हुआ। परन्तु आधुनिक कवियोंको जनताके सम्मुख लानेके लिए अनेक साधनोंकी आवश्यकता है, और इन साधनोंके अभावके कारण कितने ही अच्छे-अच्छे कवि उस सम्मान और कीर्तिसे वंचित रह जाते हैं, जिसके वे पूर्णतया अधिकारी थे। फ़ीरोज़ाबादके उर्दू भाषाके कवि मुंशी जगनकिशोर 'हुस्न' की गणना ऐसे ही कवियोंमें की जा सकती है, जिनकी कीर्ति उपर्युक्त कारणोंसे परिमित रही, यद्यपि उनके काव्योपवनमें वह सौन्दर्य विद्यमान है, जो उनके यशःसौरभको दूर-दूर तक फैलानेमें समर्थ हो सकता था।

मुंशी जगनकिशोरका जन्म सन् १८६६ ई०में फ़ीरोज़ाबादमें एक प्रतिष्ठित भटनागर (कायस्थ) कुलमें हुआ था। उनके पिताका नाम मुंशी रूपकिशोर था। उर्दू और फ़ारसीकी पहली शिक्षा आपने शेख़ कल्लनसे और फिर मौलवी उमरावबेगसे पाई थी। बुद्धि तीव्र होनेके कारण अपनी कक्षाके सब विद्यार्थियोंसे आप योग्य थे। ज़हीन इस क़दर

थे कि सारे दिन खेलते रहनेपर भी, जो पाठ्य-विषय एक दफ़े सुन लेते या पढ़ लेते, वह सदाके लिए कंठस्थ हो जाता। मिडिलकी परीक्षाके थोड़े ही दिन रहे थे कि आपको उसमें शामिल होनेकी उमंग पैदा हुई। पिताजीसे कहा। वे समय कम रह जानेकी वजहसे पहले तो सहमत न हुए, परन्तु बालक जगनकिशोरके विशेष अनुरोध करनेपर अनुमति देनी ही पड़ी। परीक्षा हुई और आप उसमें बैठे। पर्चे अच्छे हुए थे, और आप सन्तुष्ट ही नहीं, बल्कि खुश थे; परन्तु जब नतीजा आया, तो आपका नाम उत्तीर्ण विद्यार्थियोंमें न था! आपने तुरन्त परीक्षा विभागको लिखा। लिखा-पढ़ी होते-होते ही दूसरी परीक्षाका भी समय आ गया। आप उसमें भी शामिल हुए। इस बार आप प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण हुए। उसके कुछ दिन पीछे ही, गत वर्षवाली परीक्षाका भी नतीजा निकल आया—और आप इतनी थोड़ी तैयारीके बाद भी दूसरी श्रेणीमें पास हुए थे, परन्तु किसी ग़लतीकी वजहसे नाम रह गया था! इस तरह मुंशीजीको दो सार्टिफिकेट प्राप्त हुए।

इसके बाद वकालतका इरादा हुआ और आप फ़तहाबादमें स्व० मुंशी कालकाप्रसादके पास रहकर वकालतकी तालीम लेने लगे, और मुख़्त्यारीकी परीक्षा पास की। इनकी मुख़्त्यारी फीरोज़ाबादमें खूब चली, और आगरेमें प्रैक्टिस करते हुए आप राजा साहब अवागढ़के ख़ास वकील भी रहे।

'कवि बनाये नहीं बनता'—मुंशीजी भी जन्मसे ही कवि थे। सचमुच ही, उनकी कविता-प्रारम्भका समय निर्धारित करना कठिन है। बचपनमें चुटकले 'मिसरों' के रूपमें प्रकट होते थे; फिर ज्यों-ज्यों समझ आती गई, त्यों-त्यों उन चुटकुलोंमें भी रंग आने लगा। केवल २१ वर्षकी उम्रमें 'बहारे-अजुध्या'—जैसे गम्भीर काव्य-ग्रन्थकी रचना करना निश्चय ही असाधारण कार्य है। यह उनका प्रथम ग्रन्थ था, पर उससे उनकी प्रतिभा यथेष्ठ मात्रामें प्रकट होती है।

कवितामें उनके गुरु कोई नहीं थे। महाकवि ग़ालिबके काव्यमें उनको बड़ी रुचि थी, और उसको वे बहुधा पढ़ते भी थे। एक दिन 'दीवाने ग़ालिब' पढ़ रहे थे और उसमें मग्न थे। मित्रगण सामने बैठे हुए थे। उनको ग़ालिबके काव्यकी ख़ूबियाँ समझा रहे थे। उस समय वे इतने उत्साहित हुए कि बहुतसे बताशे मँगवाकर उस पुस्तक ('दीवाने ग़ालिब') पर चढ़ाये, जिनसे सारी पुस्तक ढक गई। यही उनकी दीक्षा थी। आगे चलकर एक दिन मित्रोंके अनुरोधसे आपने 'अमीर' मीनाई लखनवीके पास संशोधन (इसलाह) के लिए एक ग़ज़ल भेजी। उत्तरमें महाकवि अमीरने लिखा कि इसलाहकी गुंजाइश तो थी नहीं, परन्तु आपकी इच्छानुसार इधर-उधर क़लम चला दिया है।

ऊपर जिस काव्य-ग्रन्थ 'बहारे-अजुध्या' का उल्लेख किया गया है, वह फ़ारसीमें है। इसमें भगवान् रामचन्द्रजीके चरितका वर्णन है। यह ग्रन्थ उन्होंने २१ वर्षकी उम्रमें लिखा था, जैसा कि निम्नलिखित पद्यसे ज्ञात होता है—

"गुज़स्त अज़ उम्रे आजिल बिस्तो यक साल,
तुरा ऐ वा हमें बीनस दरीं हाल।"

यह पुस्तक छप चुकी है।

उनका द्वितीय काव्य था 'नौहा हज़रत नासिरअली शाह'। यह एक शोक-प्रकाशक कविता थी, जो उन्होंने अपने उस्ताद मौलवी उमरावबेगके गुरु नासिर शाहकी मृत्युके अवसरपर लिखी थी। यह पुस्तक भी छप चुकी है। अपना दुःख वर्णन करते हुए कविने लिखा है—

"ज़ब्त कर नालये पुरदर्दको ऐ हुस्ने हज़ीं !
एक आलमको रुलायेगा जो लबपर आया।"

'मुसद्दसे-हुस्न'—मुंशीजीके काव्य-ग्रन्थोंमें इस मुसद्दसका स्थान सर्वोच्च है। इसका पूरा नाम है 'आईन-ए-इबरत' यानी 'मुसद्दसे

हुस्न मौसूम व मद्दो जज़र हिन्द'। यह मौलाना हालीके सुप्रसिद्ध मुसद्दस-के जवाबमें लिखा गया था।

मौलाना हाली साहबने अरबकी उन्नतिका चित्र खींचते हुए लिखा था—

"इधर हिन्दमें हर तरफ़ था अँधेरा,
उधर था जहालतने फ़ारसको घेरा;
न भगवानका ज्ञान था ज्ञानियोंमें,
न यज़दाँपरस्ती थी यज़दानियोंमें।"

यह भ्रमात्मक वर्णन मुंशी जगनकिशोरको पसन्द नहीं आया, और इसी कारण आपने मौलाना हाली साहबके मुसद्दसके उत्तरमें अपना मुसद्दस लिख डाला। हिन्दुस्तानकी तारीफ़ करते हुए आपने उसमें लिखा है—

"अरब ले गया इसके ख़िरमनसे ख़ोशा
मिला इसके भण्डारसे सबको तोशा।"

मुंशीजीका यह काव्य देशभक्तिके भावोंसे परिपूर्ण है। इसके कुछ पद्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं:—

"जिसे आज सब हिन्द कहते हैं क्या था,
जहाँसे निराला जज़ीरानुमा था,
लताफ़तसे शक्ले—जिना दिलकशा था,
शुजाअतसे आलम पै फ़र्मारवा था।
हरएक जा तहव्वुर नुमायाँ था इसका,
सितारा बलन्दी पै ताबाँ था इसका।
इसीकी ज़मींमें शफ़ाका असर था,
इसी ख़ाकमें कीमियाका असर था,
इसीकी दवामें बलाका असर था,
इसीकी दुआमें दवाका असर था।

तबीबे-मरीज़ान आलम यही था,
अज़ीज़े-दिलोजान आलम यही था।

ख़िरदमन्द चीनी हैं जिसके सिनाख़्वाँ,
सितारा हुआ जिससे यूरोपका ताबाँ।
किया मिश्र यूनानको जिसने बुस्ताँ,
रहा जिससे ख़ुरशीद हिकमत दुरख़शाँ।

फज़ायलके आदाब जिसने बढ़ाये,
रज़ायलके असबाब जिसने घटाये।

करिश्माँ वह इक हिकमते-हिन्दका है,
नतीजा वह इक ख़िदमते-हिन्दका है,
नमूना वह इक फितरते हिन्दका है,
नसीबा वह इक दौलते-हिन्दका है।

बिछा फ़र्क़े-आलम पै दामाँ इसीका,
रहा सबकी गर्दन पै अहसाँ इसीका।

इसी बाग़े-रंगींसे आलम था रंगीं,
इसी रश्के-जन्नतका हर इक था गुलचीं,
इसी गंजे-हिकमतकी होती थी तहसीं,
इसी काने-पुरज़रसे थी सबको तस्कीं।

मगर आजकल इनक़लाबे-ज़माँसे,
फज़ीलतके जौहर हुए गुम यहाँसे।

मुक़ामे तअस्सुफ़ है, इबरतकी जा है,
कि ये क़ौमें मुमताज़ दरदर गदा है,
न दरबारमें इसकी वक़अत ज़रा है,
न महफ़िलमें ताज़ीम इसकी रवा है।

न कोई फज़ीलतका दर्जा है हासिल,
न मुमताज़ है अब ये बैनुल अमातिल।

ताम्मुलसे बरबादियाँ इसकी देखो,
ख़राबीमें आबादियाँ इसकी देखो,
असीरीमें आज़ादियाँ इसकी देखो,
ग़मो-दर्दमें शादियाँ इसकी देखो।
फ़क़ीरी है लेकिन अमीरीकी बू है,
फ़िताादा है पर दस्तगीरीकी बू है।

बिगड़कर न बननेको तैयार हैं हम,
फिसलकर न उठनेको नाचार हैं हम,
सम्हलकर न चलनेको बीमार हैं हम,
बनावटकी बातोंमें हुशियार हैं हम।
तनज्जुलको इक खेल जाना है हमने,
बिगड़नेको तक़दीर माना है हमने।

कहाँ हैं वे अहले-नज़रके खज़ाने,
कहाँ हैं वे ख़ूने-जिगरके खज़ाने,
कहाँ हैं वे इल्मो-हुनरके खज़ाने,
कहाँ हैं वे अब मालो-ज़रके खज़ाने।
यकायक ही ग़ैरोंके क़ाबूमें पहुँचे,
वो किसके थे और किसके पहलूमें पहुँचे।

जहाँमें अगर हर मरज़की दवा है,
तो अज़मतकी तदबीर क्यों नारवा है,
हर इक दर्दे-इन्सांका दरमाँ लिखा है,
मगर नाउमेदीका रहना बुरा है।
अलालतमें सेहतकी उम्मेद खुश है,
फलाकतमें दौलतकी उम्मेद खुश है।

वह असलाफ थे जिनकी शमशीरें बुर्रां,
उदूपर बबख़्ते विग़ा शौला अफ़शाँ,

वह असलाफ थे जिनकी हैबतसे लरजाँ,
सरे चर्ख़ हर लहज़ा मिर्रीख़ो-कैवाँ ।
जो देखें कहीं आज नसलोंको आकर,
तो रह जायँ दाँतोंमें उँगली दबाकर ।
जो मोहताजो बेज़र हो रुसवा तो सच है,
जो मुफ़लिसको हो जाय सौदा तो सच है,
जो मख़लूक हो ख़्वारे-दुनियाँ तो सच है,
जो मायूस हो ग़र्क़े-दरिया तो सच है ।
मगर जब कि बेआबरू हों तवंगर,
तो समझो कि अब बस उलटता है दफ़्तर ।

× × × ×

खेद है कि यह उत्तम काव्य-ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित पड़ा हुआ है !

'मुबाहिसा फ़ीरोज़ाबाद'—सन् १८८३ में आर्यसमाज फीरोज़ाबादने जैनियोंसे शास्त्रार्थ किया था। मुंशीजीने इस शास्त्रार्थका यथार्थ वर्णन बड़ी रोचक कवितामें किया था । आप आर्य-समाजी विचारोंके थे । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह पुस्तक आर्य-समाजी दृष्टिकोणसे लिखी गई थी ।

'नाटकावली'—आपको नाटक लिखने और खेलनेका बड़ा शौक़ था । आपके मित्रोंने भारत डिम-डिमा नाटक खेला था, जो लोगोंको बहुत पसन्द आया था। रातोंरात आपने विद्या-अविद्या नाटक लिख डाला । इसमें भारतकी उन्नति और अवनतिका चित्र बड़ी मार्मिक भाषामें चित्रित किया गया था । इस नाटकको आपने अपने इष्टमित्रोंके साथ स्टेजपर खेला भी था । आपके मित्रोंने भारतोद्धारक नाटक कम्पनी बनाई थी, और आपके नाटक दूसरे नगरोंमें भी खेले गये थे ।

'विद्या-अविद्या'—दुर्भाग्यसे यह नाटक कहीं खो गया । इसके एक-आध पद्य किसी-किसीको याद रह गये हैं । भारत, जो पहले

विद्यासे प्रेम करता था, अविद्यापर आसक्त हो गया है। विद्या फिर भी प्रेमवश होकर उसके पास आती है, और इस प्रकार अपना परिचय देती है—

"मैं विद्या हूँ तुम मुझे पहचानते नहीं,
ऐसे गये हो भूल कि कुछ जानते नहीं।
काशी नगर वतन है पुराना ग़रीबका,
पर इन दिनों नहीं है कुछ इस बदनसीबका।"

परन्तु भारतने इसकी कुछ पर्वाह नहीं की और अन्तमें अपने बैरी कलजुग राजाके हाथ गिरफ़्तार हो गया। भारत गढ़ेमें गिरा हुआ अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप कर रहा था, अन्तमें एक संन्यासी (स्वामी दयानन्द) ने हाथ पकड़कर उसे गढ़ेमेंसे निकाला और उसकी प्रेम-पात्री विद्यासे मिलनेका मार्ग बतलाया।

"है यही फ़िक्र तो चमकेगा सितारा तेरा,
दुख ज़रा देरमें मिट जायगा सारा तेरा।
विद्‌याको न ज़मानेमें कहीं पायेगा,
वेद सागरके किनारे पै अगर आयेगा।
हाथ आ जायगी वह जाने-दिलोजाँ तेरे,
फ़ज़्ले ख़ालिकसे निकल जायँगे अरमाँ तेरे।"

भारत उस संन्यासीकी बातपर विश्वास करके फिर अपने दिन फेरनेका उद्योग करता है।

अन्य नाटक—इसके अतिरिक्त आपने और भी कई नाटक लिखे, जैसे गोपीचन्द, प्रह्लाद, नलदमन, शीरीं-फ़रहाद और हरिश्चन्द्र। आपकी कवित्व-प्रतिभा बढ़ती ही जाती थी, और अपने अन्तिम दिनोंमें आप फ़ारसीमें शकुन्तला नाटक लिख रहे थे। आपका विचार इस नाटकको ईरान भेजनेका था। दुर्भाग्यसे यह नाटक अपूर्ण ही रहा, और इससे भी अधिक दुर्भाग्यकी बात यह है कि यह अपूर्ण प्रति भी कहीं खो गई!

मुंशीजीके जो हस्त-लिखित नाटक अभी मिलते हैं, वे ये हैं गोपीचन्द, प्रह्लाद, नलदमन और शीरीं-फरहाद।

पाठकोंके मनोरंजनके लिए गोपीचन्द नाटकके दो-एक पद्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं:—

रानी अभयसिंह दरबानसे कहती है—

"ग़ौरसे सुन अरे दरबाँ ये हक़ीक़त मेरी,
है ग़मो रंजसे लबरेज़ हिकायत मेरी।
शबको एक ख़्वाबे परेशां नज़र आया मुझको,
याँ लगी आँख उधर सो गई क़िसमत मेरी।
मैं तो उस ख़्वाबको महशरका नमूना समझी,
क्या बताऊँ हुई उस वक़्त जो हालत मेरी।
चूड़ियाँ हाथकी टूटी नज़र आई मुझको,
बढ़ गई देखके इस रंजको हैरत मेरी।
था अयाँ हर दरो दीवारसे वीराँ होना,
खींचती थी सुये सहरा मुझे वहशत मेरी।
साँपकी तरहसे बल नाककी नथने खाये,
नाकमें आया था दम तंग थी हालत मेरी।
हो न ताख़ीर अभैसिंह कि है दिलको अज़ाब,
जल्द राजाको सुना जाके हक़ीक़त मेरी।
बस यहाँ उनको बुला ला कि तसल्ली हो मुझे,
इस घड़ी सख़्त परेशाँ है तबीयत मेरी।"

राजा अपनी माँसे कहता है—

"खोये देती है क्यों सुख हमारा,
तूने ऐ माँ ये क्या है विचारा?
किस तरह घरसे जंगलको जाऊँ,
किस तरह बनमें धूनी रमाऊँ?

कैसे होंगी ये बातें गवारा,
तूने ऐ माँ ये क्या है विचारा ?
छूट सकती है किससे अमीरी ?
मुझसे होगी न ऐ माँ फ़क़ीरी ।
कैसे जंगलमें होगा गुज़ारा ?
तूने ऐ माँ. . . . .

माँका उत्तर—

छोड़ दे लोभ और मोह सारा,
मान ऐ जान कहना हमारा ।
बैठ जा जल्द धूनी लगाकर,
साध अब जोग जंगलमें जाकर ।
बहरे हस्तीसे कर अब किनारा ।
मान ऐ जान कहना हमारा ।
छोड़ दे बेधड़क तख़्ते-शाही,
जल्द ऐ जान हो बनको राही ।
ढूंढ़ जाकर गुरूका सहारा ।
मान ऐ जान. . . . .

नल-दमन नाटकके कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं ।

'नल-दमन'—नलका स्वप्नमें दमनको देखकर आसक्त हो जाना ।

वज़ीरसे कहना, वज़ीरका समझाना और इश्क़की बुराई करना—

नल—"सच है जो कुछ कि कहा तुमने, मगर क्या कीजे,
दिलके लगनेको कोई शग़ल तो पैदा कीजे ।"

वज़ीर—"कीजिए बहरे ख़ुदा, सैरे गुलिस्ताँ जाकर,
देखिए आँखसे रंगे गुले-ख़न्दाँ जाकर ।"

नल—"ख़न्द-ए-गुल तो न ज़िनहार ख़ुश आएगा मुझे,
ख़न्द-ए-यारकी फिर याद दिलाएगा मुझे ।"

वज़ीर—"ख़न्द-ए-गुलसे जो नफ़रत है, तो जाने दीजे,
शौक़ दिलको सूए शमशाद ही आने दीजे।"

नल—"सैरे शमशादसे बढ़ जायगी वहशत कुछ और,
फिर करेगा क़दे दिलदार, क़यामत कुछ और।"

वज़ीर—"ख़ैर शमशाद गुलिस्ताँसे किनारा कीजे,
आइए, नरगिसे शहलासे इशारा कीजे।"

नल—"देखकर नरगिसे शहलाको क़यामत होगी,
चश्मे जानाँके तसव्वुरसे नदामत होगी।"

वज़ीर—"सरो शमशादो गुलो नरगिसे शहला न सही,
क़ाबिले दीद किसीका भी तमाशा न सही।
पैचो ख़म संबुले पेचाँसे इशारा कीजे,
दिलके लगनेको यही मशग़ला पैदा कीजे।"

मुंशी जगनकिशोर अपने काव्यके बारेमें बड़े लापरवाह थे। काव्यरचनामें सिद्धहस्त हो चुके थे, इसलिए आपने अपनी कविताओंको संग्रह करनेकी आवश्यकता ही नहीं समझी; क्योंकि वे चाहे जब चाहे जैसी ग़ज़ल सहज हीमें लिख लेते थे। उनकी लिखी हुई सैकड़ों ग़ज़लोंमेंसे एक भी पूरी नहीं मिलती। जो दो-चार पद्य मुंशीजीकी कविताके प्रेमियोंको याद रह गये हैं, उन्हें हम उदाहरणके लिए यहाँ उद्धृत किये देते हैं—

"अपनी लगन लगी है उसी महलक़ाके साथ,
जो रश्के आफ़ताब है नूरो जयाके साथ।
पहलूमें ढूँढ़ते हो बताओ तो किसलिए,
दिल भी चला गया है उसी दिलरुबाके साथ।
रोशनका हाल आप पै रोशन है मू-ब-मू,
फिर पूँछते हो किसलिए नाज़ो अदाके साथ।

ज़िन्दा जो छोड़ देंगी तेरी बेवफ़ाइयाँ,
फिर दिल लगायेंगे न किसी बेवफ़ाके साथ।"

× × ×

"दिलके हुए न तुम तो हमें दिलसे क्या गिला,
आख़िर हुआ है कौन किसीका सिवाय दिल।
आ जाओ तेग़ लेके करो वार शौक़से,
तुम दिलको आज़माओ तुम्हें आज़माए दिल।
आहन नहीं है, संग नहीं, मोम ही तो है,
दिलमें लगे जो आग तो क्योंकर बुझाए दिल।
अश्कोंसे आब आतिशे ग़मपर छिड़क चुके,
अब भी जले तो शौक़से चूल्हेमें जाय दिल।
यह देखते हैं ख़्वाने मुहब्बत बिछाके हम,
ग़मकी ग़िज़ाये दिल है कि ग़म है ग़िज़ाये दिल।
थीं क्यों नवर्दे इश्क़में ऐ हुस्न! गर्मियाँ,
करते हो अब जो बैठके तुम हाय-हाय दिल।"

× × × ×

"तेरी तलवारके पानीके किसी जा हरगिज़,
हमसे होंगे न ज़मानेमें पियासे पैदा।
किस क़दर यारके हैं आरज़े रंगीं नाज़ुक,
बोसा लेनेसे भी होते हैं मुहासे पैदा।"

× × ×

सुप्रसिद्ध कवि दाग़ने एक ग़ज़ल लिखी थी——

"आरज़ू यह है कि निकले दम तुम्हारे सामने,
तुम हमारे सामने हो हम तुम्हारे सामने।"

इसी तरहपर आपने भी एक ग़ज़ल लिखी——

"हम नहीं कहते कुछ अपना ग़म तुम्हारे सामने,
देख लो हैं दीदये पुरनम तुम्हारे सामने।
हुस्ने मुश्ताक़े अजलको क़त्लमें कब उज्र है,
है सरे तसलीम ख़म हरदम तुम्हारे सामने।
जी नहीं सकते लबे जाँबख़्शके मारे हुए।
दम-ब-ख़ुद हैं ईसये मरियम तुम्हारे सामने।"

दाग़ साहबके एक शिष्यने यह ग़ज़ल एक मुशायरेमें पढ़ी थी। उस समय मुंशीजीको इसका दूसरा मिसरा महज़ तुकबन्दी जँचा और यह बात आपने उसी वक्त साफ़ कह भी दी। उसपर दाग़ साहबके शिष्यने कहा—आप ही इससे बहतर मिसरा लगाइये। तब आपने दूसरा मिसरा यह लगा दिया—

"आरज़ू यह है कि निकले दम तुम्हारे सामने,
जी उठूँ गर हो मेरा मातम तुम्हारे सामने।"

फ़ीरोज़ाबादमें आपने कई मुशायरे कराये थे। एक मुशायरेकी तरह थी—

"मेरी रफ़्तारसे भागे हैं बयाबाँ मुझसे।"

सब शायरोंके इकट्ठे हो जानेपर भी आप अपनी गज़ल नहीं लिख पाये। फिर बड़ी मुश्किलसे आपको फ़ुर्सत मिली और थोड़ेसे वक़्तमें ही आपने एक उत्तम कविता लिख डाली, जिसका प्रथम पद्य यह था—

"चश्मे ख़ूँवार है ज़ीनत दहे मिज़गाँ मुझसे,
एक काँटे पै कई गुल हैं नुमायाँ मुझसे।

और भी—

या इलाही मेरी उम्मेद न बर आये कहीं,
ग़ैरसे भी वही वादा हैं जो पैमाँ मुझसे।"

'रखना मेरी मज़ारपै दो संग सब्ज़ सुर्ख़' इस समस्यापर भी आपने पच्चीस शेर बनाये थे।

मुंशीजी बड़े आशु-कवि थे। एक बार उनके मित्र मुंशी ब्रजबिहारी-लालने एक तरह उनके पास भेजी—

"मायूस मरीज़ोंको मसीहा नहीं मिलता।"

उन दिनों आप वकालतकी पढ़ाईमें लगे हुए थे, आपने फ़ौरन ही उक्त समस्याके नीचे लिख दिया—

"क़ानूनसे दम भर मुझे वक़फ़ा नहीं मिलता।"

एक बार इनके मित्र अंग्रेज़ी मिडिलकी परीक्षाके कारण बड़े परेशान बैठे हुए थे। आप वहाँ जा पहुँचे। पूछनेपर मित्रोंने कारण बतलाया। आपने उसी वक़्त ये पद्य बना डाले—

"रात दिन हमसे न मेहनत होगी,
ये भी कर लेंगे जो फ़ुर्सत होगी।
स्टडी कोहसे भारी है हमें,
किस पै पत्थरकी तबीयत होगी।
गर मुक़द्दरमें नहीं शीरीनी,
दाल रोटी पै क़नाअत होगी।
ऐ मिडिल तुझ पै ख़ुदाकी लानत!
हिन्दसे कब तेरी रुख़सत होगी।
मारे फिरते हैं तेरे शैदाई,
जानें क्या-क्या अभी ज़िल्लत होगी"

मित्रोंकें कहनेसे आपने एक बार अपने एक साथीके विषयमें, जो कभी अपने सौन्दर्यके लिए प्रसिद्ध नहीं थे, तत्काल ही ये शेर बना डाले—

"दहने ज़िश्तको गोपालका गिलख़न कहिये,
या इसे इक ख़ुमे चिरकीनका रोज़न कहिये।

आँखको नंगो हया शर्मका दुश्मन कहिये,
नाफ़को ग़ार कहे, वादीये ऐमन कहिये।
टाँगें बरगदकी भी टहनीसे बड़ी हैं कुछ-कुछ,
सख़्त लकड़ीसे हक़ीक़तमें कड़ी हैं कुछ-कुछ,
पंगी टाँगोंके नमूने पै पड़ी हैं कुछ-कुछ,
तनके छप्पर तले थुनकी-सी खड़ी हैं कुछ-कुछ।
पाँवके वास्ते जूता जो बनाया जावै!
कम-से-कम काममें इक बैलका चरसा आवै।"

जिन महाशयके बारेमें उपर्युक्त पद्य बनाये गये थे, वे वहाँ मौजूद थे। बेतरह नाराज़ हुए। मित्रगण हँसीके मारे लोटपोट गये। उन महाशयसे कहा गया—"भाई कुछ मीठा लाओ, तो तुम्हारी तारीफ़के शेर बनावें।"

आज्ञा-पालन होनेपर आपने कहना शुरू किया—

"अबरू तुम्हारी दश्नओ ख़ंजरसे कम नहीं,
पलकोंकी नोक भी सरे नश्तरसे कम नहीं।
लाखों तुम्हारी आँखकी गर्दिश पै मस्त हैं,
बेशक ये दौर गर्दिशे साग़रसे कम नहीं।
क्या ताब माहकी कि करे मुँहका सामना,
चेहरा तुम्हारा महरे मुनव्वरसे कम नहीं।
चेचकसे और चेहर-ए-अनवरको ज़ेब है,
हरएक दाग़ हुस्नमें अख़्तरसे कम नहीं।
क्या जल्द लिया मुल्के दिलको छीन यकबयक,
मूये सियाह जंगके लश्करसे कम नहीं।"

अन्तमें किसी ज़रूरी कामकी वजहसे आख़िरी शेर कहकर वहाँसे चले गये—

"कमयाब शै क़लील भी होती है क़ीमती,
इतना भी वस्फ़ हुस्ने सुख़नवरसे कम नहीं।"

मुंशी जगनकिशोरजी ख़ूब हँसते और हँसाते थे। आपके एक हास्य-पात्र, जो एकांक्षी थे, बैंगनके नामसे चिढ़ते थे। उनको छेड़नेके लिए आपने तत्काल शायरी की--

"नामे बैंगनसे जो चिढ़ते हो ग़ज़ब करते हो,
क्या कहीं भूलमें तुम खा गये काना बैंगन?
मैं न लूँगा तेरे रुख़सारे सियाहका बोसा,
कौन खाता है ज़मानेमें पुराना बैंगन?
क्यों ख़फ़ा होते हो थू-थूका तमाशा क्यों है,
हाय, ऐसा तो बुरा भी नहीं नाना बैंगन।"

मुंशीजी सितार बहुत अच्छा बजाते थे। आपको चौसर खेलनेका भी शौक़ था और शतरंजके तो आप बहुत अच्छे खिलाड़ी थे।

जिसने अपनी प्रखर प्रतिभाके प्रकाशसे तत्कालीन कवि-मंडलको आश्चर्यचकित कर दिया था, जिनके हास्यप्रिय स्वभावपर सभी मुग्ध थे और जिनसे भविष्यमें बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं, वही मुंशी जगनकिशोर ३५ वर्षकी आयुमें (३० मार्च सन् १८९९को) इस संसारसे चल बसे। फ़ीरोज़ाबाद नगरका गौरव बढ़ाकर उन्होंने नगर-निवासियोंको अपना चिरऋणी बना लिया। मुंशीजी निःसन्तान मरे, पर उनका काव्य ही चिरकाल तक उनके नामको जीवित रखेगा।

"रहता सुख़नसे नाम क़यामत तलक है 'ज़ौक़',
औलादसे तो है यही दो पुश्त चार पुश्त।"

मार्च १९३४]

श्री अमृतलाल चक्रवर्ती

लगभग पैंतालीस वर्ष पहलेकी बात है। अठारह वर्षका एक बंगाली युवक एक हाटमें साग बेचा करता था। उसके पास धनका अभाव था, इसलिए उसने अपनी स्त्रीके गलेके सुनहरे हारको बेंचकर यह काम प्रारम्भ किया था। आज वही युवक हिन्दी-साहित्य-सेवामें वृद्ध होकर हिन्दी-साहित्य सम्मेलनके सभापतिका आसन ग्रहण करनेके लिए वृन्दावन आ रहा है। निरन्तर अध्यवसाय और सच्ची लगनके द्वारा मनुष्य क्या-से-क्या बन सकता है, श्रीयुत चक्रवर्तीजीका जीवन इस बातका एक अच्छा दृष्टान्त है।

आपका जन्म सन् १८६३ में ज़िला चौबीस परगनेके नावरा नामक ग्राममें हुआ था। आपके पिताका नाम था श्रीयुत आनन्दचन्द्र चक्रवर्ती और माताका नाम था श्रीमती इच्छामयी देवी। पिता पुराने ढर्रेके ब्राह्मण थे।

५ वर्षकी अवस्थामें आपने बोदराके छात्रवृत्ति विद्यालयमें पढ़ना प्रारम्भ किया। ११वर्षकी उम्र तक आप उसी विद्यालयमें पढते रहे। फिर घरपर ही संस्कृत पढ़ने लगे। जब आपकी अवस्था १२ वर्षकी हुई, आपके मामा जो गाज़ीपुरमें अफ़ीमकी कोठीमें काम करते थे, आपको संस्कृत पढ़ानेके वायदे पर गाज़ीपुर ले गये। लेकिन गाज़ीपुर पहुँचनेपर आपको संस्कृत न पढ़ाई, और अंग्रेज़ी पढ़नेके लिए विक्टोरिया स्कूलमें भर्ती करा दिया। साल भर मामाके यहाँ रहे, फिर मौसीके यहाँ, जो उसी नगरमें रहती थीं, चले गये। आपके मौसेरे भाई विद्वान् थे। उन्होंने पढ़नेकी अच्छी व्यवस्था की। पहले कुछ दिन तक फ़ारसी पढ़ाई। एक दिन मौलवी साहबने क्रोधमें आकर बेंत मारा। आपने उनका क्लास छोड़ दिया और हिन्दी पढ़ने लगे। ६ महीने तक हिन्दी पढ़ी। फिर

आपके मौसेरे भाईने आपको विक्टोरियास्कूलमें छठवीं श्रेणीमें भर्ती करा दिया। सन् १८७९ ई० में आपने अंग्रेज़ी मिडिलकी परीक्षा पास की। मिडिल पास करके जब सैकिण्ड क्लासमें पहुँचे तो पिता बीमार पड़े। कुछ उपार्जन करना आवश्यक हो गया। विद्यार्थियोंको प्राइवेट तौरसे पढ़ाकर पच्चीस रुपये महीने कमाने लगे। उसी समयके पढ़ाये हुए विद्यार्थियोंमें एक इलाहाबाद हाईकोर्टके जज जस्टिस श्रीलालगोपाल मुकर्जी हैं।

सन् १८८१ के दिसम्बरमें एण्ट्रेन्सकी परीक्षा होनेवाली थी, सितम्बरमें पिताजी बीमार होगये और उनकी मृत्यु भी हो गई। आप स्वयं भी बीमार पड़ गये। हेडमास्टरने खर्च भेजकर बुलाया पर परीक्षामें बैठ नहीं सके। तदनन्तर आप नौकरीकी खोजमें कलकत्ते आये; पर बहुत कुछ प्रयत्न करनेपर भी कहीं नौकरी न मिली। उन्हीं दिनों आपने अपनी स्त्रीके गलेके सुनहरे हारको बेचकर साग बेचना शुरू किया था। आपके गाँवसे पाँच मील पर भांगड़ नामक स्थानमें प्रति सप्ताह हाट लगती थी। उसीमें आप साग बेचकर चार-पाँच रुपये कमा लेते थे और इस प्रकार अपना जीवन-निर्वाह करते थे। आपके गाँवके लोग इस बातसे बड़े क्रुद्ध थे, वे आपकी बदनामी करते थे और जाति-च्युत करनेकी धमकी भी देते थे!

जब आपके पास ६०-७० रु० जमा हो गये तो आप अपने कुटुम्बके साथ गाज़ीपुर चले आये। वहांसे एक सज्जनने २०) मासिक और कुटुम्ब भरके लिए अन्न देनेका वचन देकर आपको अपनी प्रयागकी दूकानपर भेज दिया। वहीं आपने बुककीपिङ्ग सीखा। किन्तु शीघ्र ही दुकानके दुर्व्यवहारके कारण आपने यह काम छोड़कर रेलके लोकोमोटिव डिपार्टमेण्टमें नौकरी कर ली। २० रु० मिलते थे। एक दिन साहबसे झगड़ा हो गया इसलिए आपने यह काम भी छोड़ दिया और ट्यूशन करके अपनी गुज़र करने लगे।

उन दिनों एण्ट्रेन्स पास किये बिना ही क़ानूनकी परीक्षा दी जा सकती

थी। आपने क़ानून पढ़ना शुरू किया। उन्हीं दिनों आपका परिचय प्रयाग समाचारके सम्पादक पं० देवकीनन्दन त्रिपाठीके साथ हुआ और उनके पत्रके लिए लेख लिखने लगे। कुछ दिनों पब्लिक प्रासिक्यूटरके यहाँ हाईकोर्टमें क्लार्कीका काम भी किया। वेतन ४०) मिलता था। प्रयागमें रहते हुए आप हिन्दू-सभामें सम्मिलित हुए। सभापति थे पं० आदित्यराम भट्टाचार्य (संस्कृत अध्यापक म्योर सेण्ट्रल कालेज)। पण्डित मदनमोहन मालवीयजी इसके सदस्योंमें से थे। सभाके वार्षिकोत्सवमें कालाकांकरके राजा रामपालसिंहजी आये। वहाँ चक्रवर्तीजीका भाषण सुनकर उन्होंने आपको 'हिन्दुस्थान' पत्रके सम्पादनका काम स्वीकार करनेके लिए कहा। हाईकोर्टकी नौकरी छोड़कर आप राजा साहबके यहाँ चले गये। उस समय पब्लिक-प्रासिक्यूटर हिल साहबने आपसे कहा—"थोड़े दिन बाक़ी हैं। क़ानूनकी परीक्षा पास कर लो। मुंसिफ़ बनवा दूँगा।" मगर पत्र-सम्पादनके प्रति रुचि होनेके कारण आपने उनकी बात न मानी। राजा साहब आनरेरी मजिस्ट्रेट थे। चक्रवर्तीजी उनके फ़ैसले लिखा करते थे। सन् १८८६ में आप यह काम छोड़कर घर चले आये। एण्ट्रेन्सकी परीक्षाकी तैयारी करने लगे, राजा साहबने बहुत बुलाया; पर आप नहीं गये। एण्ट्रेन्सकी परीक्षा पास की और "भारतमित्र"में सम्पादनका काम करने लगे। सुबह-शामको "भारत-मित्र"के आफ़िसमें काम करते थे और मैट्रोपोलिटन इन्स्टीटूचट (विद्या-सागर कालेज) में पढ़ते भी थे। इस प्रकार सन् १८८८ में एफ० ए० की परीक्षा पास की और सन् १८९० में आनर्सके साथ बी० ए० हुए।

सन् १८८९ ई० में हरीसन रोड बनती थी। "भारतमित्र"के मैनेजिंग डाइरेक्टर थे जगन्नाथ खन्ना, जो म्यूनिसिपल कमिश्नर भी थे। सड़क बनते समय बड़ाबाजारका एक मन्दिर टूटने लगा। "भारतमित्र" में चक्रवर्तीजीने इसका घोर विरोध किया। खन्नाजी बिगड़े और उन्होंने कहा—"आप अपनी भूलको सुधारिये और "भारतमित्र"में खेद प्रकाशित

कीजिये ।" चक्रवर्तीजी इसपर राज़ी न हुए। खन्नाजीको कोई दूसरा आदमी नहीं मिला, इसलिए उन्होंने चक्रवर्त्तीजीको नौकरी पर बना रहने दिया। उन्हीं दिनों चक्रवर्त्तीजीने बंगवासीवालोंसे महाभारतका अनुवाद निकालनेको कहा। वे तैयार हो गये और ६०) रुपये मासिक पर उनके यहाँ काम करना प्रारम्भ किया। सन् १८९० में "हिन्दी-बंगवासी" आपके ही कहनेसे निकाला गया था और आप ही दस वर्ष तक उसके सम्पादक रहे। इस बीचमें सन् १८९४ में आपने बी० एल० की परीक्षा भी पास कर ली। "बंगवासी"में रहते हुए आपने कई पुस्तकें लिखीं; पर उनपर आपने अपना नाम नहीं छपाया। 'हिन्दी वंगवासी' छोड़नेके बाद कुछ समय तक आपने (Order supply) सामान भेजनेका काम किया, तत्पश्चात् फिर बाबू बालमकुन्दजी गुप्तके साथ "भारतमित्र"का सम्पादन करने लगे।

इसके कुछ वर्ष बाद आप "श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार"का सम्पादन करनेके लिए बम्बई गये। उसके बाद कुछ समय तक भारतधर्म-महामण्डलके 'मैनेजर और 'निगमागमचन्द्रिका" के सम्पादक भी रहे।

सन् १९०६ में आप घर आये और मोदीकी दूकान खोली। स्वदेशी आन्दोलनका युग था। उसमें आपने खूब काम किया।

कुछ समय बाद "भारतमित्र" में फिर आ गये। और तीन वर्ष तक वहीं रहे। फिर व्यवसायमें हाथ डाला, नारियलकी सब सामग्रीको रासायनिक अनुसंधान द्वारा काममें लानेके लिए कारख़ाना खोला; पर पूँजी बिना वह न चल सका। आप ऋणग्रस्त हो गये।

सन् १९१३में व्यावर राजपूतानेके सेठ दामोदरदासजी राठीने आपको अपने यहाँ बुला लिया। वहाँ आप उनकी मिलके सेक्रेटरी और मैनेजर हो गये। यदि आप वहाँ रहते तो आपकी आर्थिक दशा बहुत अच्छी हो जाती; पर आपके हिन्दी-प्रेमने आपको वहाँ नहीं रहने दिया। आप सीधे बम्बई पहुँचे और वहाँ "श्रीवेङ्कटेश्वर समाचार" में काम

करने लगे। पीछे श्रीदामोदरदासजी राठी वहाँ गये। आपसे व्यावरको लौट चलनेके लिए अनुरोध किया। आपने उत्तर दिया "माफ़ करो, हिन्दी लिखे बिना नहीं रहा जाता"।

सन् १९१४ में श्रीवेङ्कटेश्वरका दैनिक संस्करण आपके ही सम्पादकत्वमें निकला। इसके बाद अनबन होनेके कारण "कलकत्ता-समाचार" में चले आये। सन् १९१६ में एक बार फिर "वेङ्कटेश्वर-समाचार" में गये। फिर बम्बईके प्रसिद्ध धनेश्वर गोस्वामी गोकुलनाथजीको पढ़ाते रहे। सन् १९२२ ई० तक आप वहीं रहे। तत्पश्चात् स्वर्गीय देशबन्धु दासके पत्र "फ़ारवर्ड" में ३०० रु० मासिक पर नियुक्त हुए। हिन्दू-मुस्लिम-पैक्टके विषयपर मतभेद हो जानेपर आपने उससे अपना सम्बन्ध छोड़ दिया, और बिड़ला-ब्रादर्सके यहाँ "श्री सनातन-धर्म" नामक साप्ताहिक पत्रमें काम करने लगे।

षोड़श हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके सभापतिने अपने जीवनमें अनेक व्यवसाय और अनेक काम किये हैं; पर आपकी प्रवृत्ति हिन्दी-पत्र-सम्पादनकी ओर ही रही है। आपकी जीवन-परिधिका केन्द्र जर्नेलिज़्म ही रहा है। सन् १८८५ से लेकर, जब कि आप 'हिन्दुस्थान' के सम्पादकीय विभागमें काम करनेके लिए कालाकाँकर गये थे, सन् १९२५ तक यानी इन चालीस वर्षोंमें आपने हिन्दी-जर्नेलिज़्मका ख़ूब अनुभव प्राप्त किया। मातृभाषा बँगला होने पर भी राष्ट्रभाषा हिन्दी-की जो सेवा आपने की उसके लिए हम सब आपके ऋणी हैं। महात्मा गान्धीजी, माधवरावजी सप्रे और अमृतलालजी चक्रवर्तीको, जिनकी मातृभाषाएँ क्रमशः गुजराती, मराठी और बँगला थीं, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके सभापति निर्वाचित कर हिन्दी-जनताने अपनी कृतज्ञताका परिचय दिया। हिन्दीके राष्ट्रभाषा होनेका इससे उत्तम प्रमाण और क्या मिल सकता है?

१९२५]

श्रीमती सत्यवती मल्लिक

"माताजी ! यह सवाल आता ही नहीं। बहुत किया, नहीं आता।"
—सात-आठ वर्षके भाषी (सुभाष) महाशय करुणोत्पादक ढंगसे शिकायत कर रहे थे। चेहरेपर बेहद चिन्ता थी।

चाय पीनेके बाद मैं गोर्कीके जीवन-चरितका स्वाध्याय कर रहा था और गोर्कीने रूसी साहित्य-सेवियोंकी जो अद्भुत सहायता की थी, उसका स्फूर्तिप्रद वृत्तान्त पढ़ रहा था। सुभाषकी गम्भीरतापूर्ण मुखमुद्रा देखकर गोर्कीको बन्द करते हुए मैंने कहा—"लाओ भाई ! मैं तुम्हारा सवाल हल करूँ।"

"३२३ गज़ १०६ हाथ, २५ गिरह और ५ अंगुलके अंगुल बनाओ,"—कुछ ऐसा ही सवाल था। दो बार कोशिश की, पर उत्तर ठीक नहीं मिला ! बड़ी झुँझलाहट हुई। सुभाषजी कह रहे थे—"सिर्फ़ एककी ग़लती पड़ जाती है।" फिर मैंने प्रयत्न किया, पर फिर वही असफलता ! तंग आकर मैंने कहा—"यह सवाल मुझसे नहीं होता।"

सुभाषकी सुयोग्य माता श्रीमती सत्यवती मल्लिकने, जो दूरपर बैठी हुई कुछ काम कर रही थीं, बड़े प्रेमपूर्वक उसे अपने पास बुला लिया और उसका सवाल हल करनेमें लग गईं।

मैंने मनमें सोचा कि बच्चोंका पालन-पोषण, पढ़ाना-लिखाना और साहित्य-सेवा इन दोनोंको साथ ले चलना अत्यन्त ही कठिन कार्य है, और श्रीमती सत्यवतीजी इस कठिन कार्यको बड़ी लगन, सफलता और माधुर्यके साथ कर रही हैं। आदर्श पत्नी, सुसंस्कृत गृहस्थ और प्रेमी माता होनेके साथ-साथ वे सफल कलाकार भी हैं। घरेलू जीवनको किस प्रकार कलापर्ण और सौन्दर्यमय बनाया जा सकता है. यह कोई उनसे सीख ले।

कभी भाषीके साथ वे ड्राइंग सीखती हैं---और भाषीको इस बातका अभिमान है कि उसने पत्तेकी जो शक्ल खींची है, वह माताजीकी बनाई हुई शक्लसे कहीं अच्छी है---कभी कपिलाके साथ गान-विद्याका अभ्यास करती हैं और कभी अपने सुशिक्षित पतिदेव श्रीयुत आर० एल० मल्लिक-जीसे वर्ड्सवर्थकी कविताओंके अर्थ पूछती हैं। इसके सिवाय उन्हें अपने ज्येष्ठ पुत्र केशवकी भी चिन्ता रहती है, जो बाहरी किताबें ज़्यादा पढ़ता है और खेलनेके लिए काफ़ी वक़्त नहीं देता! घरके सारे काम-काज तो उन्हें करने ही पड़ते हैं। और इन सबके ऊपर हैं उन सम्पादकोंके तक़ाज़े, जिन्होंने शायद यह समझ रखा है कि श्रीमती सत्यवतीजीको रेखाचित्र और कहानी लिखनेके सिवाय कोई काम ही नहीं रहता! दिल्लीके साहित्यिक तथा सांस्कृतिक जीवनकी ज़िम्मेवारियाँ भी कभी-कभी उनपर आ पड़ती हैं, पर एक चतुर बाजीगरकी भाँति वे इन सब कार्योंको एक साथ बड़ी आसानीसे और बिना किसी झुँझलाहटके करती चली जाती हैं।

यद्यपि हम श्रीमती सत्यवतीजीके स्केचोंके प्रशंसक हैं, उनकी अमर-नाथ-यात्रा तो गद्य-काव्यका एक उत्कृष्ट उदाहरण है, और उनकी साहि-त्यिक सुरुचि और सुलझे हुए दिमाग़के भी क़ायल हैं, तथापि उनके जिस गुणको हम सर्वोच्च स्थान देते हैं, वह है उनका मातृत्व, और माताके रूपमें ही उनका स्मरण किया जा सकता है। अभी वे अपने बच्चोंकी माँ हैं; पर आगे चलकर वे किसी बालक-बालिका-आश्रममें एक वृहत् बाल-कुटुम्बकी माँ बननेकी आकांक्षा रखती हैं। एक पत्रमें उन्होंने लिखा था---"आश्रम बनानेकी इच्छा तो बड़ी है, और इसीलिए सबसे पहले मैं स्वयं कुछ सीखना चाहती हूँ। कुछ मास ड्राइंग अच्छी तरह सीखनेमें लगाने हैं। हमारे देशमें बच्चोंकी प्रारम्भिक शिक्षाकी बड़ी दुर्दशा है। सुभाषको आजकल मैं स्वयं ही पढ़ाती हूँ, स्कूल बन्द कर दिया है। छोटे बच्चोंके लिए किताबें भी लिखनी हैं। सो मेरा यह सब प्रयत्न तो बच्चोंके

एक छोटे-से स्कूल या आश्रमके लिए ही है; भविष्य जीवन और परिस्थितियोंपर निर्भर है।"

सुयोग्य माता-पिताकी सन्तान

"प्रातःकालकी शान्त स्निग्ध वेलामें, जब मेरी नींद खुलती है, अपना श्रीनगरका सफ़ेद कमरा मेरी आँखोंके सामने घूम जाता है। सर्दियोंके दिन होते थे। कमरेके बाहर बराण्डेमें चारों ओर घासकी चटाइयाँ बर्फ़ीली हवाको रोकनेके लिए लगी होती थीं और कमरा भी चारों ओर गर्म पर्दोंसे ढका रहता था। बाहर सड़कोंपर और छतोंपर तमाम बर्फ़-ही-बर्फ़ पड़ी होती, जिसे हम रजाईमेंसे ज़रा-सा झाँककर खिड़कीके किसी भागमें से, जहाँ पर्दा कुछ हटा होता, देख लेतीं। साढ़े चार बजे अँगीठी सुलगाते हुए अथवा कमरेमें झाड़ू लगाते हुए माताजीके गानेकी आवाज कानोंमें पड़ती। हम भाई-बहनोंकी इच्छा होती कि अभी कुछ देर बिस्तरोंमें लेटी रहें; पर उसके बाद जब पूज्य पिताजी भी माताजीके साथ उसी स्वरमें गाने लगते, तो मैं भाई जयदेव तथा छोटी बहनें भी साथ-साथ गाने लगतीं—

"किस भरोसे सोये रह्या तूँ, रहणा ई दो दिन चार बन्दे।"
"तूँ कुछ कर उपकार जगत्में—
मानुष जनम अमोलक तैनूँ मिलै न बारम्बार।"[1]

श्रीमती सत्यवती मल्लिकजीकी पूज्य माताजी अत्यन्त परिश्रमी थीं, और उनकी साधना और तपके कारण ही यह कुटुम्ब इतना सुसंस्कृत बन सका। दुर्भाग्यसे माताजीका देहान्त कम उम्रमें हो गया। उस समय सत्यवतीजी १९ वर्षकी थीं। उनका विवाह हो चुका था, फिर भी डेढ़ वर्ष तक मायकेमें ही रहकर उन्होंने भाई-बहनोंका पालन-

---

[1]'मेरी माताजी' नामक एक अप्रकाशित लेखसे।

पोषण किया। अपनी छोटी बहनोंके प्रति उनके हृदयमें मातृस्नेह ही पाया जाता है। (अब भी छोटी बहन श्री सन्तोषकुमारीजीको, जो एम० ए० में पढ़ रही हैं, वे अपनी स्निग्ध छत्रछायामें ही रख रही हैं।)

श्रीमती सत्यवतीजीके पूज्य पिता श्री लाला चिरंजीतलालजी श्रीनगरके एक अत्यन्त प्रतिष्ठित नागरिक रहे हैं। वर्षोंसे उनका घर अतिथियोंके लिए विश्राम-स्थल रहा है। स्थानीय आर्य-समाजके वे प्रधान स्तम्भ रहे हैं। सन्तानोंके पालन-पोषणके लिए यदि कोई कालेज खोला जाय, तो उसके प्रिंसिपलका पद उन महानुभावको ही मिलना चाहिए, जिसने सुप्रसिद्ध कवियित्री श्री पुरुषार्थवती देवी, प्रख्यात देश-सेविका श्रीमती उर्मिलादेवी तथा सुलेखिका श्रीमती सत्यवती मल्लिकको जन्म दिया और सुशिक्षित बनाया।

जब हमारे कोई बन्धु सत्यवती मल्लिककी कलापूर्ण रचनाओंकी प्रशंसा करते हैं, तो हम उन्हें यही जवाब देते हैं कि इसका श्रेय ५१ फी-सदी उनके पूज्य माता-पिताको है, ४१ फीसदी उनके सुयोग्य पति श्री मल्लिकजीको है और शेष आठ फी-सदीमें उनकी बहनों तथा बच्चोंका हाथ है, जिन्हें पढ़ानेके लिए उन्हें ख़ुद पढ़ना पड़ता है। और हाँ, उनकी नानीका हिस्सा तो हम भूल ही गये, जो पंजाबी भाषाकी एक कवियित्री थीं। इस हिसाबसे सत्यवतीजीको १।२ फी-सदीसे अधिक श्रेय नहीं मिल सकता। अब यह बात पूरे तौरपर हमारी समझमें आ गई है कि लड़कियोंको सुयोग्य बनानेके लिए हमें उनकी नानियोंसे शुरू करना चाहिए!

अभी उस दिन बन्धुवर जैनेन्द्रजीने कहा था—"अगर आप किसी बच्चेके मुँहपर स्वास्थ्यप्रद, सौम्य और निरपराध लालिमा देखें, या कहीं सुसंस्कृतिकी कली खिलती हुई दीख पड़े, तो समझ लीजिए कि उसके पीछे किसी माता-पिताकी अथवा पति-पत्नीकी साधना है, जो अपनेको दिन-रात खपा रहे हैं।"

दिनमें साठ-साठ मील साइकिलपर चक्कर काटनेवाले लाला चिरंजीत-

लालकी साधना और सवेरे के ९ बजेसे रातके ८ बजे तक दूकानपर पिसने-वाले मल्लिकजीका घोर परिश्रम ही उस सांस्कृतिक वायुमण्डलके मूलमें है, जो आज मल्लिक-परिवारमें पाया जाता है।

स्वर्गीय दीनबन्धु एण्ड्रूज़ने एक पत्रमें मुझे लिखा था—'Malliks are most charming people and I am grateful to you for having introduced them to me."—अर्थात् "मल्लिक-परिवार अत्यन्त आकर्षक है, और उसका परिचय करा देनेके लिए मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ।"

श्रीमती सत्यवतीजी वस्तुतः प्रगतिशील हैं। आज चेख़व पढ़ रही हैं, कल तुर्गनेव, तो परसों इब्सन। कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथकी तो वे अनन्य भक्त हैं, और मूल बँगलामें ही उनके ग्रन्थोंको पढ़ती हैं। चित्रकलाका भी उन्हें शौक़ है, और सितार बजानेका अभ्यास उन्होंने कई वर्ष किया था। घरके गोरख-धंधोंमें फँसे रहनेपर भी वे 'बलाका' (कवीन्द्र), 'लीज़ा' (तुर्गनेव), 'डॉल्स हाउस' (इब्सन), 'गुड अर्थ' (पर्लबक) इत्यादि को पढ़नेके लिए वक़्त निकाल लेती हैं। श्रीमती सत्यवतीजीका पुस्तकालय उनके विवेक तथा प्रगतिशीलताका सूचक है।

११–२–३८ के पत्रमें उन्होंने लिखा था—"बहुत-सा समय तो मुझे बच्चोंकी पढ़ाईके लिए देना पड़ता है—विशेषतया भाषीको। उर्मिलाजीका छोटा लड़का भी बड़ा समझदार किन्तु शरारती है, सो दोनों मिलकर काफ़ी परेशान करते हैं।"

५–५–३८ की चिट्ठीमें लिखा था—"गर्मी बहुत है, इसलिए लिखने पढ़नेका कुछ भी कार्य नहीं हो रहा है। केवल गृहस्थीके गोरख-धंधोंमें ही दिन बीत रहे हैं। कभी चूल्हा, कभी तन्दूर! बच्चोंके स्कूल सवेरेके हैं, सो दिन-भर उनके साथ सिपाहियोंकी तरह ड्यूटी देनी होती है।"

'टाम काकाकी कुटिया' (Uncle Tom's Cabin) की अमर लेखिका

श्रीमती हैरियट एलीज़बेथ स्टोके उदाहरणसे वे भारतीय महिलाएँ, जिन्हें घर-गृहस्थी चलाते हुए साहित्य-सेवा करनेका शौक़ है, कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकती हैं। श्रीमती स्टो ५ बच्चोंकी माँ थीं, और जब छठवाँ बच्चा उनके हुआ था, तो उन्होंने अपनी भाभीको लिखा था—"भाभी, जबतक बच्चा रातको मेरे पास सोता है, तबतक मैं कोई काम नहीं कर सकती; पर मैं करूँगी ज़रूर। अगर ज़िन्दा रही, तो दासत्व-प्रथाके ख़िलाफ़ ज़रूर लिखूँगी।"

श्रीमती स्टो बर्तन साफ़ करतीं, कपड़े धोतीं, वस्त्र सीतीं, किवाड़ोंपर रंग करतीं और पतिदेवके जूते भी गाँठ दिया करती थीं!

श्रीमती सत्यवतीजीकी रचनाएँ

श्रीमती सत्यवतीजीने अधिक नहीं लिखा है; पर जो कुछ लिखा है बहुत अच्छा लिखा है। उनकी कहानियों तथा स्केचोंका संग्रह 'दो फूल' हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बईसे प्रकाशित हुआ है। गार्हस्थ्य जीवनके माधुर्यकी जैसी अद्भुत छटा इन रचनाओंमें दीख पड़ती है, वैसी शायद ही किसी हिन्दी-लेखिकाने चित्रित की हो। कई रचनाएं तो अपनी क़िस्मकी अद्वितीय हैं, यथा 'नारी-हृदयकी साध', 'वसन्त है या पतझड़', 'भाई-बहन' और 'साथी'। उनका 'क़ैदी' नामक स्केच पढ़कर तो सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक चेख़वकी कलाका स्मरण हो आता है।

'दो फूल' के अतिरिक्त उनकी दो रचनाएँ हैं, जिनमें एक तो अपनी सुपुत्री कपिलाके लिए सुन्दर लेखोंका संग्रह है और दूसरीमें बच्चोंके लिए काश्मीरके सुन्दर स्थलोंका वृत्तान्त है। इन ग्रन्थोंसे श्रीमती सत्यवती मल्लिककी साहित्यिक सुरुचि तथा योग्यताका पता हिन्दी-पाठकोंको लग जायगा। श्रीमती सत्यवतीजीकी प्रशंसा हम इसलिए नहीं कर रहे कि वे महान् लेखिका बन गई हैं, बल्कि इसलिए कि उनमें योग्य लेखिका बननेकी अन्तर्निहित शक्ति है।

नारी-हृदयके भावोंका जैसा कलापूर्ण और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण श्रीमती कमला देवी चौधरीने किया है, वैसा सत्यवतीजी अभी नहीं कर सकतीं, और न उनमें श्रीमती होमवतीजीकी तरह हिन्दू-नारीके दुर्भाग्यों तथा दुःखोंका वर्णन करनेकी ही शक्ति है; पर कुछ चीज़ें ऐसी हैं, जो सत्यवतीजीकी निजी विशेषताएँ हैं। बाल-मनोविज्ञानका बड़ा ही आकर्षक वर्णन उनकी रचनाओंमें पाया जाता है, और प्राकृतिक सौन्दर्यका चित्रण तो मानो उन्हींके हिस्सेमें आया है। यह चित्रण नपे-तुले शब्दोंमें यथा-स्थान इतने सुन्दर ढंगसे किया गया है कि उनके उच्चकोटिके कलाकार होनेमें किसीको सन्देह नहीं हो सकता। काश्मीरकी हिमाच्छादित घाटियों, मनोहर झीलों तथा विशाल वृक्षोंने जो पाठ उन्हें पढ़ाये हैं, वे अधिकांश लेखक-लेखिकाओंके लिए दुर्लभ हैं।

हमें खेदके साथ कहना पड़ता है कि हिन्दी कवियित्रियों तथा लेखिकाओंमें हमें एक भी ऐसी नहीं दीख पड़ी, जो सर्वसाधारणके साथ अपनेको बिल्कुल मिला देनेमें समर्थ हुई हो, जो मूक दीन-हीनोंको वाणी प्रदान कर सकी हो और जिसके हृदयकी आकांक्षाएँ तथा दैनिक जीवनकी क्रियाएँ एक ही दिशामें साथ-साथ चलती हों। इसका मुख्य कारण यह है कि ये लेखिकाएँ प्रायः मध्यमश्रेणीकी हैं, और जब कभी ग़रीब बहिनोंके साथ मिलने जुलनेका प्रयत्न वे करती भी हैं, तो उनके प्रयत्नमें एक प्रकारकी कृत्रिमता-सी आ जाती है। इसमें उनका दोष बहुत कम है। जब देशके सर्वमान्य नेता श्री जवाहरलालजी भी अपने आभिजात्यके अभिमानको छोड़नेमें पूर्णतः सफल नहीं हो सके, तब मामूली स्त्री-पुरुषोंकी तो बात ही क्या है। अपने वर्गकी त्रुटियों, कमज़ोरियों और सीमाओंको उल्लंघन करना एक प्रकारका योग है, और योगी बनना कोई आसान बात नहीं। सत्यवतीजीके हृदयमें ग़रीब जनताके प्रति वास्तविक सहानुभूति है, और वे उस अवसरकी प्रतीक्षा भी कर रही हैं, जब उन्हें समाजके निम्नतम धरातलपर रहनेवालोंकी सेवा-सुश्रूषा करनेका

सुअवसर प्राप्त होगा। कई रचनाओंमें उनके ये हृद्गत भाव झलक भी गये हैं, और उनसे यह स्पष्टतया प्रकट होता है कि वे समयकी गतिसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहीं। पर साथ ही यह बात हमें कहनी पड़ती है कि भारग्रस्त मध्यमवर्गीय महिलाओंके लिए वह मार्ग अत्यन्त कठोर है—

"वह रंग ही नया है, कूचा ही दूसरा है।"

मध्यमवर्गीय हिन्दी-लेखिकाएँ भले ही उस दुर्गम पथपर न चल सकें; पर उन्हें एक बात हर्गिज न भूलनी चाहिए। जितने अंशोंमें वे साधारण स्त्री-समाजके लिए, जो अशिक्षा, अज्ञान और अन्ध-विश्वासके गर्त्तमें गिरा हुआ है, नित्यप्रति कुछ त्याग न करेंगी, तब तक उनकी साहित्य-सेवाका भवन बालूकी नींवपर ही रखा रहेगा। अपने सुख-सुविधाओं और साधनों-को निर्धन अभागी बहनोंके साथ मिल-बाँटकर उपयोग करनेसे उन्हें तथा उनकी सन्तानको अनन्त आशीर्वाद मिलेंगे। हमारे समाजकी नींव ग़रीब प्राणियोंके परिश्रमपर रखी हुई है। और हम मध्यम-श्रेणीवालोंका कर्तव्य है कि कम-से-कम प्रायश्चित्त-स्वरूप ही उनकी कुछ सेवा करें। आज भारतकी लाखों ग़रीब माताएँ जिस त्याग तथा तपके साथ अपना जीवन व्यतीत कर रही हैं, उसका शतांश क्या सहस्रांश भी पढ़ी-लिखी औरतोंमें नहीं पाया जाता। यद्यपि युग-धर्मके अनुसार उसी नारीको हम आदर्श मानते हैं, जो भावी समाजके निर्माणके विषयमें स्पष्ट विचार रखती हो और जिसके जीवनका क्षण-क्षण उस कल्पित आदर्शकी दिशामें कार्य करनेमें बीतता हो, तथापि हम कठमुल्ले नहीं हैं। वर्तमान लेखिकाओंके महत्त्वको हम कम नहीं समझते। वे वस्तुतः मार्ग तैयार कर रही हैं, उस महान् लेखिकाके लिए जो समाजके निम्नतम धरातलसे उठकर आवेगी और जो सामाजिक विषका भरपूर पानकर भारतीय जनताके लिए साहित्यिक रसायन-रूपी अमृत तैयार करेगी। साहित्योपवनकी ये चमेली, जुही और चम्पा उस वटवृक्षकी अग्रगामी हैं, जो कभी हमारे इस उद्यानमें उगेगा और जिसकी शीतल छायामें अगणित हिन्दी-भाषा-

भाषियोंको आश्रय और विश्राम मिलेगा। गोर्कीकी 'माँ'में जिस माताका चित्र खींचा गया है, वह हिन्दी-जगत्में अवतीर्ण ही नहीं हुई।

श्रीमती सत्यवती मल्लिकका ज़िक्र करते हुए हम एक घटनाको कभी नहीं भूल सकते। शान्तिनिकेतनकी यात्रामें कितने ही हिन्दी लेखक-लेखिकाओंके साथ बोलपुर जानेका सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है, और हमारे मनमें यह आशंका निरन्तर रही है कि कहीं किसीको कुछ कष्ट न हो। इस तीर्थ-यात्रामें ९०—९५ फी-सदी हिन्दीवालोंने भोजन इत्यादिकी शिकायत की ! वे खान-पान-सम्बन्धी प्रान्तीय भेदोंको भूल नहीं सके। पर श्रीमती सत्यवतीजी उन दो-तीन व्यक्तियोंमें-से हैं, जिन्होंने बड़ी सहनशीलता प्रकट की और अपनी सुसंस्कृतिका परिचय दिया।

यह स्वाभाविक सुसंस्कृति ही श्रीमती सत्यवतीजीकी सबसे बड़ी विशेषता है। इन चार-पाँच वर्षोंमें हमने उनसे किसी महिलाकी निन्दा नहीं सुनी—स्त्रियोंके इस भयंकर दुर्गुणसे वे सर्वथा मुक्त हैं—कभी किसीके प्रति ईर्ष्या प्रकट करते हुए नहीं देखा और क्या मजाल कि एक भी आक्षेप-योग्य शब्द उनके मुखसे निकल जाय।

एक वाक्यमें यों कहिए, सत्यवतीजी एक 'सुसंस्कृत माता' हैं और यदि वे लेखिका न भी होतीं, तब भी हमारे आदर और श्रद्धाकी पात्र होतीं। सच पूछो तो देशको योग्य माताओंकी जितनी आवश्यकता है, उतनी लेखक-लेखिकाओंकी नहीं।

जुलाई १९४०]

एक सिपाही

स्वाधीनता-संग्राममें खप जानेवाले सहस्रों ही वीर इस संसारमें जन्म लेते और अपना कार्य कर स्वर्गको चले जाते हैं। उनका कोई नाम भी नहीं जानता, कीर्ति होती है उनके सेनापतियोंकी ! महात्मा गान्धीजीने एकबार दक्षिण-अफ़्रीकाके सत्याग्रह-संग्राममें अपने प्राणोंका दान देनेवाले ७० बरसके बूढ़े हरबतसिंहके विषयमें कहा था---"दुनिया हरबतसिंहको भले ही न जाने, पर हरबतसिंहके त्यागके सम्मुख मेरा कार्य कुछ भी महत्त्व नहीं रखता।" भारतीय स्वाधीनताके यज्ञमें भी कितने ही सिपाहियोंने अपने जीवनकी आहुति दे दी है और कितने ही दे रहे हैं, पर हम लोग प्रायः उनके कार्यके महत्त्वको नहीं समझते। जिसने अपने प्राण ही देश-सेवाके लिए अर्पित कर दिये हैं, उसके लिए समाचार-पत्रोंका विज्ञापन एक ऐसी तुच्छ चीज़ है, जिसका कुछ भी मूल्य नहीं। फिर भी हम लोगोंका, जो एक अत्यन्त परिमित सीमाके भीतर ही देशकी यत्किञ्चित् सेवा कर सकते हैं, कर्तव्य है कि ऐसे सिपाहियोंके गुण-गान करके अपने जीवनको पवित्र बनावें। जो लोग कीर्त्तिकी उच्चतम शिखर-पर खड़े हुए हैं, उनके लिए स्वराज्यकी नींवमें गड़ जानेका दम भरना आसान है, पर खाईमें इसलिए कूद पड़ना कि हमारे शरीरको कुचलते हुए हमारे देशवासी शत्रुके क़िलेपर आक्रमण कर सकें, यह एक ऐसा काम है, जिसे एक सिपाही ही कर सकता है।

× × ×

"तिवारीजी मरणासन्न हैं, पर मरनेके पहले आपके दर्शन करना चाहते हैं।"

यह तार 'कर्मयोगी'-सम्पादक श्री सुन्दरलालजीके पास कलकत्तेमें

आया। मैंने उनसे तिवारीजीका वृत्तान्त पूछा। जो कुछ उन्होंने बतलाया उसे सुनकर आश्चर्य हुआ और खेद भी। पाठक भी उसे सुन लें।

तिवारीजी फ़ीरोज़पुर ज़िलेके किसी ग्राममें सन् १८७२के लगभग पैदा हुए थे। पुराने रहनेवाले ज़िला कानपुरके थे। माता-पिता कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। सन् ५७के ग़दरमें कानपुर ज़िलेमें इनके पिता रहते थे। पिताजी तीन भाई थे। तिवारीजीके पिता इनमें सबसे छोटे थे। तीनों किसी गाँवमें रहते थे। उस समय दोनों बड़े भाई गाँवमें थे, छोटा भाई बाहर गायें चरा रहा था। अंग्रेज़ी फ़ौजने (सम्भवतः यह जनरल नीलकी फ़ौज थी) गाँवको आकर घेरा और अन्य लोगोंके साथ-साथ दोनों बड़े भाइयोंको फाँसीपर लटकवा दिया गया! छोटेको जब पता लगा, वह बाहर-ही-बाहर भागकर अपनी ससुराल पहुँचा। वहाँ भी वही आफ़त थी। वहाँसे वह अपनी स्त्रीको लेकर पंजाब भाग गया। उसने मुक्तसर ज़िला फ़ीरोज़पुरमें किसीके यहाँ नौकरी कर ली। वहीं उसके औलाद हुई। वहीं तिवारीजीका जन्म सन् १८७२के लगभग हुआ था।

तिवारीजीकी दो बहनें और थीं। दोनों इनसे बड़ी थीं। एकका विवाह मेजारोडमें हुआ, जो मर चुकी है। दूसरीका विन्ध्याचल ज़िला मिरज़ापुरमें हुआ, जो अभी जीवित है। उसके कई पुत्र और कन्या भी हैं।

तिवारीजी जब लगभग दो वर्षकी आयुके थे, इनकी माँको ४ सालकी सख़्त क़ैदकी सज़ा हुई। तिवारीजी अपनी माताके साथ जेल गये। वहीं पढ़ना शुरू किया।

माँ पढ़ी-लिखी थी। जेलमें और पढ़ा-लिखा। जेल जानेसे पहले ही तिवारीजीके पिताका देहान्त हो चुका था। माँने बाहर निकलकर 'काहनसिंहवाला' ज़िला फ़ीरोज़पुरमें किसी जाटके साथ, जिसका नाम सोभासिंह था, पुनर्विवाह कर लिया। जाटसे दो लड़के हुए, दोनों अभी

तक जीवित हैं। एक प्रसिद्ध डाकू है, जिसका नाम बूटासिंह है। दूसरा संन्यासी हो गया और अब पटियाला रियासतमें एक महन्तका उत्तराधिकारी है। तिवारीजी अपनी माँके साथ उसी जाटके यहाँ रहकर पढ़ते रहे। जाट सोभासिंहके मरनेके बाद माँ कुछ दिनों पंजाब ही में रही, फिर बीमार होकर अपनी लड़की और दामादके पास विन्ध्याचलमें आकर मरी। तिवारीजीकी उम्र उस समय १५ वर्षके लगभग थी।

इसके बाद तिवारीजीने फ़ीरोज़पुरमें जाकर विद्याध्ययन किया। आठवीं क्लास अंग्रेज़ीकी फ़ीरोज़पुरसे पास की। उस समय तक वे किसी मास्टरके यहाँ रहकर खाना खाते थे। फिर दो सालके क़रीब प्राइवेट ट्यूशन करके कुछ रुपया कमाया। उसके बाद डी० ए० वी० स्कूल लाहौरमें जाकर भरती हुए। वहाँ भी इसी तरह ट्यूशन करके पढ़ाईका ख़र्च चलाते रहे। मैट्रिकुलेशन पास करके कालेजमें भरती हुए। एफ़० ए०में पढ़े। उसी समय सन् १९००का भयंकर दुष्काल पड़ा। लाला लाजपतरायने चन्दा जमा करके विशेषकर राजपूतानामें कार्य्य किया। तिवारीजी पढ़ाई छोड़कर लालाजीके अधीन राजपूतानेमें काम करने लगे। लगभग ग्यारह सौ अनाथ बालक और बालिकाएँ मेवाड़ और मारवाड़से जमा करके तिवारीजी अपने साथ पंजाब ले गये। ये अनाथ पंजाबके आर्यसमाजके विविध अनाथालयोंमें बाँट दिये गये। तिवारीजीका पढ़ना इसी समयसे छूट गया। उम्र भी तीसके लगभग पहुँच गई थी।

तिवारीजीको उर्दू और फ़ारसीका बहुत अच्छा ज्ञान था, हिन्दी और संस्कृतका साधारण। अंग्रेज़ी एफ़० ए० तक पढ़कर छोड़ ही दी थी। थोड़ी-सी शायरी भी करते थे।

दुष्काल ही के दिनोंमें जोधपुरमें एक ब्राह्मणकी लड़कीसे आपने विवाह किया। राजपूतानासे लौटकर कई अनाथालयोंमें मैनेजरका काम करते रहे। स्त्रीको पहले स्वयं हिन्दी, उर्दू और अंग्रेज़ी पढ़ाते रहे। फिर जालन्धर कन्या महाविद्यालयमें पढ़नेको भेज दिया। जब स्त्री

दसवीं क्लासमें पहुँची, तो तपेदिक़से बीमार हो गई। अन्तको वह डलहौज़ी-में मर गई। तिवारीजीकी आयु उस समय ३५के लगभग रही होगी। एक बच्चा होकर मर चुका था।

तिवारीजीने फिर दूसरा विवाह नहीं किया। स्त्रीके मरनेके बाद दो-तीन वर्ष तक डलहौज़ी आर्य-स्कूलमें हेडमास्टरी की। उसके बाद संन्यास ले लिया। कुछ दिनों पहाड़ोंमें गंगोत्री, जम्नोत्री इत्यादिकी ओर भ्रमण किया। योग और प्राणायामका भी कुछ शौक़ किया। फिर देहरागोपीपुरमें अकाल पड़ा। तिवारीजीने अकाल-पीड़ितोंकी ख़ूब सहायता की। अकालके बाद फिर पंजाब लौट आये। इसके बाद कई वर्ष पंजाबके अनेक आर्यसमाजी स्कूलोंमें अध्यापकका कार्य करते रहे। आप अध्यापक बहुत उच्चकोटिके थे। आर्यसमाजकी ओरसे धर्म-प्रचार भी करते रहे। पंजाबके विविध ज़िलोंमें अनेक विद्यार्थी आपके पढ़ाये हुए इस समय मौजूद हैं, जो आपको बड़े प्रेमसे याद करते हैं।

इसके बाद जर्मन-युद्धका समय आया। तिवारीजीमें धर्मप्रेम और समाज-सेवाके साथ-साथ देशकी आज़ादीका ख़्याल भी काफ़ी था। कहा जाता है कि सन् १९१४में शत्रु-राज्योंके कुछ लोग भेष बदलकर हिन्दुस्तानसे तिब्बतकी ओर जा रहे थे। उनके साथ ६० पंजाबी ख़च्चर-वाले भी थे। तिवारीजी भी कहींसे उनके साथ मिल गये। शायद कहीं विदेश जानेका विचार था। सुना जाता है, ख़च्चरवालोंने सरहदके इस पार लौटकर अंग्रेज़ी अफ़सरोंको ख़बर दे दी। तिवारीजी सरहदपर गिरफ़्तार कर लिये गये और डिफ़ेन्स-आफ़-इण्डिया ऐक्टमें ७ सालके लिए जेल भेज दिये गये! इनकी यह दूसरी जेल-यात्रा थी। इस बार जेलमें इन्हें बहुत कष्ट दिये गये, जिससे स्वास्थ्यको ज़बरदस्त धक्का पहुँचा। सन् १९१७ या १८में जेलसे छोड़ दिये गये। फिर भगवा वेष छोड़कर सफ़ेद कपड़े धारण कर लिये।

जेलसे निकलकर मिरज़ापुरमें अछूत-पाठशालामें अध्यापकका कार्य

किया। इतनेमें महात्मा गान्धीने रौलेट ऐक्टके विरुद्ध सत्याग्रहका ऐलान किया। तिवारीजीने फ़ौरन यू० पी० सत्याग्रह-सभाके मन्त्री श्री सुन्दरलालजीके नाम एक लम्बा और हृदयवेधक-पत्र लिखा और अपनी सेवाएँ अर्पित कीं—केवल सत्याग्रहके ही लिए नहीं, बल्कि उस आन्दोलनके समयमें हर प्रकारके कार्यके लिए। पाठशालाका काम दूसरेको सुपुर्द करके तिवारीजी इलाहाबाद आ गये। कुछ राष्ट्रिय पुस्तक बेचनेके लिए उन्हें लखनऊ भेज दिया गया। राजद्रोहका प्रचार करनेके अपराधमें लखनऊसे दो सालकी सज़ा हुई। उन्हें बरेली जेलमें रखा गया। यह उनकी तीसरी जेलयात्रा थी। इस बारकी जेलमें उन्हें और भी अधिक यातनाएँ दी गईं। स्वास्थ्य बहुत अधिक ख़राब हो जानेके कारण लगभग एक सालके बाद ही जेलसे छोड़ दिये गये। निकलनेके बाद फिर युक्तप्रान्तके विविध ज़िलोंमें राष्ट्रिय पत्र और पुस्तकें बेचने और राष्ट्रियताका प्रचार करनेमें लग गये। अनेक राष्ट्रिय कविताएँ उन्हें कण्ठाग्र थीं, जिन्हें गा-गाकर प्रचार भी करते थे और बेचते भी थे।

सन् १९२१में 'क्रिमनल ला एमेण्डमेण्ट ऐक्ट'में स्वयं-सेवक बनने और बनानेके अपराधमें फिर पकड़े गये और चौथी बार जेलकी यात्रा की।

इस बार जेलसे निकलकर कई ज़िलोंमें असहयोगका प्रचार करनेमें लग गये। सन् २४में फिर बहुत सख़्त बीमार पड़ गये। कारण यह था कि मण्डला ज़िलेकी एक ऐसी तहसीलमें वह उस समय असहयोग-प्रचार कर रहे थे, जहाँकी आबहवा बहुत ही ख़राब थी और जहाँ मलेरियाका भयंकर प्रकोप रहता है। कुछ दिनोंके लिए मिरज़ापुर लौट आये। फिर स्वास्थ्य सुधारनेके लिए पंजाब गये। मंगोवाल, ज़िला होशियारपुरमें इस बार अछूतोंकी एक पाठशाला सन् २६में खोली। पूरे एक साल तक उसमें अछूत बालकोंको पढ़ाते रहे और खद्दरका प्रचार करते रहे। सन् २७में स्वास्थ्य इतना अधिक ख़राब हो गया कि पाठशाला-का काम छोड़ना पड़ा। कुछ महीने तक पंजाबमें बीमार पड़े रहे।

दिसम्बर सन् १९२७में इलाहाबाद आये। जनवरी सन् १९२८के अन्तमें इलाहाबादसे मिरज़ापुर गये। २७ मार्च सन् १९२८को मिरज़ापुरमें शरीर छूटा। स्थानीय आर्यसमाजियों और अन्य देशके सेवकोंने थोड़े-बहुत समारोहके साथ दाह-कर्म किया। मरते समय उनके पासमें एक नवयुवक और स्वयंसेवक श्री जमनाप्रसाद मौजूद था, जो उनके जीवनके अन्तिम चार वर्ष लगभग बराबर उनके साथ रहा और जिसने अन्तिम बीमारीके दिनोंमें उनकी बहुत अधिक सेवा की। अपनी आयुकी अन्तिम दो सालकी बीमारीमें तिवारीजीको गहरा आर्थिक कष्ट उठाना पड़ा था। सन् १९१८के बादसे तिवारीजीने अधिकतर सुन्दरलालजीके साथ कार्य किया। १९१९से लेकर १९२४ तक भी यू० पी० और मध्यप्रान्तमें अधिकतर उन्हींके साथ अथवा उन्हींकी सलाहसे कार्य करते रहे। उन्हें सुन्दरलालजीसे विशेष प्रेम था। उनसे कई बार यह कह चुके थे,—"मेरी यह प्रबल इच्छा है कि मेरे मरते समय आप मेरे पास हों।" इसी उद्देश्यसे वे दिसम्बर सन् १९२७में बीमारीकी हालतमें पंजाबसे चलकर इलाहाबाद आये? किन्तु मिर्ज़ापुरके किसी वैद्यके इलाजके लिए उन्हें इलाहाबाद छोड़ना पड़ा। उनके मरनेके समय सुन्दरलालजी किसी कार्यवश कलकत्ते आये हुए थे, इसलिए तिवारीजीकी पूर्वोक्त इच्छा पूरी न हो सकी।

अपने जीवनमें अन्तिम वर्षोंमें एक और इच्छा उन्होंने अनेक बार प्रकट की थी कि मरनेसे पहले मेरी सात जेल-यात्राएँ पूरी हो जायें, किन्तु यह इच्छा भी पूरी न हो सकी। केवल चार बार जेल जा सके। इस प्रकार देशके लिए तीन बार और जेल जानेकी अपनी इच्छाको लिये हुए ही वे स्वर्ग सिधारे! पाठक शायद पूछेंगे कि आख़िर तिवारीजीका पूरा नाम क्या था? नाम बतलाना व्यर्थ ही है। न जाने कितने हज़ार ऐसे 'अप्रसिद्ध सिपाही' स्वाधीनताकी बलि-वेदीपर जब प्राण दे देंगे, तब भारतको स्वाधीनता मिलेगी। उनमेंसे हम किन-किनका नाम जानेंगे?

अौर सच बात तो यह है कि हममेंसे कितने ही तो, जो देश-भक्तिका ढोंग करते हैं, नाम जाननेके अधिकारी भी नहीं। यदि ऐसे लोग इन वीरोंमेंसे किसीकी आत्मासे नाम पूछेंगे तो शायद यह 'एक भारतीय आत्मा' के शब्दोंमें यही जवाब देगी—

"मुझे भूलनेमें सुख पाती जगकी काली स्याही।
दासो दूर कठिन सौदा है, मैं हूँ एक सिपाही॥"

अगस्त १९२८]

सम्पादककी समाधि

टन न् न् न्।

"हैलो ! हू आर यू प्लीज़ (आप कौन हैं ?)" मैंने टेलीफोनपर पूछा।

"का हल्लो-हल्लो करि रए हौ ? कछु पतौऊ है, कै बजे हैं ? पाँचकी गाड़ीसैं चलनौ है, और साढ़े तीन बज चुके। हम तो तुम्हारे मारैं तंग हैं।"

"अच्छा ! अच्छा ! श्रीमतीजी हैं ! लेउ अभैंई आये। फाइनल प्रूफके लिए रुकना पड़ा।"

"फिनाइल रहन देउ। जल्दी आऔ।"

'देशभक्त'का वार्षिक अंक निकालकर मैं मदुरा, विजयनगर, सेतु-बन्ध रामेश्वर इत्यादिकी यात्रापर जा रहा था। कम्पोज़ीटर और फोरमैन दनादन काममें लगे हुए थे। प्रूफ आया। सरसरी निगाहसे एक बार देखकर और सहकारियोंसे विदा ग्रहण करके मैं टैक्सी लेता हुआ घर आया। श्रीमतीजी अत्यन्त व्यस्त थीं। ख़ैरियत यह थी कि सब सामान उन्होंने बाँध रखा था। रातके तीन बजेसे उठकर वे तैयारी कर रही थीं। भोजन बनाया था, कपड़े ठिकाने रखे थे, नौकरका हिसाब साफ़ किया था, और न जाने क्या-क्या किया था। और मैं सात बजे सोकर उठा, और डेली पेपर पढ़नेमें लग गया था ! पहुँचते ही मधुर मुसकानके साथ उन्होंने ख़ासी डाट बतलाई—"तुम्हें तो कोई अंग्रेज़ी पढ़ी-लिखी अख़बार-बाँचनबारी स्त्री मिलती, तौ तुम्हारे होस ठिकाने आउते ! पाँच बरस बाद तौ तीरथ करिबेकौ विचार करौ है, सोऊ अब

आइ बैठे ! कछु खबरऊ है, का का लै चलनौ है ? जब हम न रहेंगे, तब मालूम परैगी, कैसें घरकौ काम होतु है !"

मैंने कुछ झेंपकर कहा—"अच्छा, अबकी बार और माफ़ करौ। कृष्ण भगवान्ने जरासन्धके सौ क़सूर माफ़ किये थे, अभी हमारे तो चार दर्जन भी नहीं हुए ! रही अख़बार-बाँचनबारी स्त्रीकी बात, सो हमने एक ईसाइन लड़कीके लिए 'देशभक्त'में विज्ञापन दे दिया है। सहायककी हमें सचमुच ज़रूरत है। कोई-न-कोई मिल ही जायगी। अगर बदसूरत हो, तो तुम भी उससे रोटी-ब्यालूका काम ले लेना, और ख़ूबसूरत हुई तो ....तो अब हमका कहैं!"

"चलौ रहन देउ, तुम्हें जेई बातें सूझति हैं !"

× × ×

मदरास-मेलसे रवाना हुआ। पत्नी तीर्थ-यात्राके लिए जा रही थीं, मैं 'जर्नेलिस्टिक टूर' पर था, और साथमें चार वर्षकी लड़की सरला भी थी। तीनों अपने-अपने विचारोंमें मग्न थे।

पत्नीने लम्बी साँस लेकर कहा—"अख़बारवालोंका काम भी बहुत खराब। छुट्टी ही नहीं। अब पाँच वर्ष बाद निकास हुआ है।" वह पिंजरेसे छूटे हुए पक्षीकी तरह अपनेको स्वतन्त्र पा रही थी, और तुलसी-कृत रामायणमें से सेतुबन्धका प्रकरण उसने पढ़नेके लिए निकाल रखा था। मैं सोच रहा था—"विजयनगरमें 'आन्ध्र-प्रकाश'के संपादक मि० सुब्रह्मण्यम एम० एल० ए० आवेंगे। उनसे अनेक विषयोंपर बातचीत करनी है। अगर हो सका, तो दो दिनके लिए उतर जाऊँगा। सफर लम्बा है। 'जर्नेलिस्ट ऐसोसियेशन'के विषयमें भी बातचीत कर लूँगा।" सरलाको रेलमें चढ़ते ही भूख लग आई थी, और वह अपनी माँसे खाना माँग रही थी। स्टेशनपर ज़िद करके उसने चार-पाँच खिलौने भी खरीदवा लिये थे, और उन्हें वह इधरसे उधर रख रही थी। हम तीनों व्यक्ति

इतने पास होते हुए भी, एक दूसरेसे कितनी दूर, कितने परे थे ! जाते एक ही तरफ़ थे, मगर लक्ष्य सबका जुदा-जुदा था ।

विजयनगरमें मि० सुब्रह्मण्यम मिले । आख़िर ठहरना ही तय हुआ । हम लोग एक सुसज्जित बँगलेमें ठहरे । श्रीमतीजी और सरलाको वहाँ छोड़कर मैं घूमने निकला । इस लेखकसे मिला, उस जर्नेलिस्टसे बातचीत की । प्रत्येक स्थानपर डेढ़ दो घंटे लग गये । चाय-सम्मान सभी जगह किया गया । घड़ी देखता हूँ, तो पाँच बज चुके थे ! मैंने दिलमें सोचा, बड़ी देर हो गई । जल्दीसे मि० सुब्रह्मण्यमको लेकर लौटा । अपराधीकी भाँति बँगलेपर आया । पत्नीने कोई शिकायत नहीं की, पर लड़की सरला भला, क्यों चूकनेवाली थी ! "बड़ी देरमें आये, हमें क्यों नहीं लैगये, हमारे लऐं कछु लाए, और अम्मा भूखी बैठी हैं, और हमारी चिरैया टूटि गई ।"

मैंने पत्नीको डाटकर कहा--"बस, इसीसे हमारी तुम्हारी लड़ाई होती है । अब तक भूखी क्यों बैठी रहीं ? तुलसीदासने यह किस काण्डमें लिखा है कि भूखी रहकर पतिकी आत्माको कष्ट दो ?"

मैं यह जानता था कि वह मुझे भोजन कराये बिना स्वयं कभी नहीं खाती थी, चाहे दिन-भर भूखा रहना पड़े, पर फिर भी मैं अपराधी उसे ही समझता था ! वह चुपचाप सुनती रही । मैंने भोजन करना प्रारम्भ किया । बीचमें मैंने कहा--"भई ! यहाँसे दस-बारह मील दूर एक वृद्ध साधू रहते हैं । बड़े पहुँचे हुए सुने जाते हैं । कहो तो उनके दर्शन करते चलें ?"

यह सुनते ही पत्नीके मुँहपर कुछ प्रसन्नताके लक्षण दिखाई दिये साधू-सन्तोंके प्रति उनके हृदयमें स्वाभाविक श्रद्धा थी । उन्होंने कहा-"हाँ, ज़रूर ज़रूर ।"

इसपर मैं बोला--"मगर एक बात और सुनी है । इन साधू-महात्माने एक कठोर नियम बना रखा है, वह यह कि वे दो प्रकारके

आदमियोंसे नहीं मिलते; एक तो पत्रकार--अख़बारवालेसे, और दूसरे स्त्रीसे !"

यह सुनकर वे निराश हो गईं। उस समय मुझे एक चालाकी सूझी। मैंने कहा--"देखो ! अगर तुम एक बातपर राज़ी हो जाओ, तो सब काम बन जाय। मर्दकी पोशाक पहन लो, ऊपरसे ओवरकोट डाल लो, साफ़ा बाँध लो, और सिख बन जाओ ! मैं कह दूँगा कि मैं व्यापारी हूँ, और ये पंजाबी टैक्सी-ड्राइवर हैं ! मुझसे बहुत मेल-जोल है। इस यात्रापर रवाना हुआ, तो ये भी तैयार हो गये। (मुसकराकर) कहूँगा, बड़े सज्जन आदमी हैं !"

श्रीमतीजी कुछ परेशान-सी हो गई। बोलीं--"जि तुमने बुरी सुनाई। हम मर्दनके कपड़ा कैसे पहनें ! नाँहि नाँहि, हम नहीं जायँगी।"

मगर साधू-महात्माके दर्शनोंका मोह ऐसा न था जिसे श्रीमती आसानीसे छोड़ देतीं। थोड़ी देर बाद राज़ी हो गईं।

× × ×

प्रातःकालमें विजयनगरके प्राचीन स्थानोंकी देख-भालकर तीसरे पहर हम लोग साधूजीके दर्शनके लिए चलनेकी तैयारी कर रहे थे। कोट-पैण्ट पहनना श्रीमतीजीके लिए आसान काम न था। मैंने कहा--"मैं पहना सकता हूँ, नेकटाई भी बाँध दूँगा, पर पहनाई देनी पड़ेगी। स्त्रीसे पुरुष बनना आसान नहीं। भई, आख़िर कुछ-न-कुछ तो जुर्माना देना ही पड़ेगा।"

पत्नी बोली--"तौ हम नाँहि जाति।"

ज्यों-त्यों मनाकर और नेकटाई पहनाकर मैंने उनसे कहा--"देखिये, इस दर्पणमें देखिये, आप सरदार सुन्दरसिंह टैक्सी-ड्राइवर बन गये, या नहीं !"

जब तक वे दर्पण देखें, तब तक मैंने उनका एक चुम्बन ले लिया ! सच्ची नाराज़ी दिखलाते हुए उन्होंने कहा--"बड़े पापी हो। आज

एकादशी है। तीरथके लिए और साधूजीके दर्शनके लिए चल रहे हैं।"

मैंने जवाब दिया—"कोई अन्नकी चीज़ तो मैंने तुम्हें खिलाई नहीं, जिससे तुम्हारा व्रत भंग हो गया हो।"

उन्होंने सिर्फ़ इतना ही कहा—"चलौ, रहन देउ।"

हम लोग बैलगाड़ीसे रवाना हुए। रास्ते-भर श्रीमतीजी मुँह फुलाये बैठी रहीं, शायद इसलिए कि मैं बच्चीकी निगाह बचाकर वही भूल दुबारा न कर बैठूँ! अफसरकी टेढ़ी निगाहें देखकर जूनियर बाबुओंको छुट्टी माँगते हुए डर लगता है, यहाँ तो तरक्क़ीका सवाल था।

सरलाने कहा—"अरे! अम्मा तौ लोग हो गई!"

तब भी श्रीमतीजीके चेहरेपर हँसी न आई। मैं बोला—"तीर्थ-यात्रासे चाहे जिसको लाभ हो, हमारा तो बड़ा नुक़सान हुआ है! कई वर्षकी ब्याही हुई मेहरिया छिन गई!"

सरला भी अपनी अम्माको मर्दानी पोशाकमें देखकर हँसीमें लोट-पोट हुई जाती थी। मैंने उसे सावधान किया—"देखो! साधूजीके यहाँ इनसे अम्मा मत कहना, नहीं तो साधूजी तुम्हें पकड़कर अपनी झोलीमें डाल लेंगे!"

सरला साधूजीकी झोलीसे कुछ डरी, फिर भी उसने पूछा—"अम्मासे अम्मा क्यों नहीं कहैं?"

साधूजीका आश्रम दस-पन्द्रह मील दूर था। पहुँचते-पहुँचते शाम हो गई। छोटासा बग़ीचा था। बीचमें एक कुटी थी। द्वारपर एक आदमी मिला। किसान-सा मालूम होता था। पहले उसने अपनी भाषामें कुछ कहा, जिसका हम लोग कुछ भी मतलब न समझ सके। ऐसा प्रतीत होता था कि कोई आदमी लोटेमें कंकड़ डालकर बजा रहा हो! सरला उसकी बोली सुनकर हँस पड़ी। मैंने उसे डाट बताई। फिर उस किसानने अंगरेज़ीमें लिखा हुआ एक काग़ज़ जेबसे निकालकर दिया। उसमें लिखा था—"Journalists and ladies are

requested not to enter this Kutir" अर्थात्––"पत्रकार और स्त्री कुटीरमें न आयें।"

सरदार सुन्दरसिंहने पूछा––"क्यों, क्या बात है?"

"सरदारजी, कोई बात नहीं।"––मैंने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया, और फिर एक काग़ज़पर पेंसिलसे लिख भेजा––'एस० के० भट्ट और सरदार सुन्दरसिंह', और फिर मनमें सोचा––'चलो, अच्छी प्रेस सामग्री मिलेगी। वर्षोंसे जिस साधूसे कोई पत्रकार इंटरव्यू नहीं ले सका, उससे आज बातचीत करूँगा, और अख़बारोंमें उसपर एक लेख लिख डालूँगा।'

× × ×

जिस समय हमें साधूजीने अन्दर बुलाया, काफी अँधेरा हो चुका था। मैंने सुन्दरसिंहसे हँसकर कहा––"बड़े भाग्यवान हो भाई! शाम हो गई है। साधूजीको ज़रा भी सन्देह नहीं होगा। दिन होता, तो तुम्हारी सारी करतूत खुल जाती। चले हैं कोट-पेण्ट पहनकर सरदार साहब बनने!"

अब जाकर मेरी स्त्रीके चेहरेपर ज़रा-सी मुसकराहट आई।

प्रणाम करके हम लोग बैठ गये। अंगरेज़ीमें बातचीत प्रारम्भ हुई और घंटे-भर तक होती रही। इस बीचमें सरदार साहब चुपचाप बैठे मुँह देखते रहे। तत्पश्चात् साधूजीने पूछा––"आप लोग किस प्रान्तके रहनेवाले हैं?"

मैंने कहा––"मैं तो भरतपुर-राज्यके एक ग्रामका रहनेवाला हूँ और ये पंजाबी सिख हैं।"

मेरे आश्चर्यका कुछ ठिकाना न रहा, जब मैंने सुना कि साधूजी हमारे ग्रामके निकटके ही निवासी हैं! फिर तो उन्होंने अपनी ग्रामीण बोलीमें बोलना प्रारम्भ किया। सरला कुछ चौकन्नी-सी हुई, और सरदार साहब भी सचेत हो गये। आज वर्षों बाद साधुजीको अपनी मातृभाषामें, या यों कहिये कि ग्राम्य भाषामें किसीसे बोलनेका अवसर प्राप्त हुआ था, इसलिए प्रयत्न करनेपर भी वे अपनी भावुकताको न दबा सके। अब तक

वे अपने ग्रामका पता भी किसीको न बतलाते थे, पर आज वे अपनेको रोक न सके। उनकी एक लड़की हमारे ग्राममें ब्याही थी। मैंने उसका नाम पूछा, तो कहा—"सरला।"

मेरी सरला डरी। उसने समझा कि अब साधूजीने झोलीमें रखा! मैंने कहा—"अरे! सरला? वह तो हमारे पड़ोसमें ही रहती है।" साधूजीका दिल भर आया।

मैंने कहा—"बीस-पचीस दिन बाद मैं अपने घर लौटूँगा, कहिये तो उससे कुछ कह दूँ।"

साधूजीने एक दीर्घ निःश्वास ली, और कहा—"क्या कहोगे? कोई कहनेकी बात भी तो हो!"

साधूजीको भावुकतामें देखकर मैंने समझा कि तवा गरम है, जर्नलिस्टिक रोटी सेकनेका अच्छा मौक़ा है! पूछा—"महात्माजी! एक जिज्ञासा है। आपने यह नियम क्यों बनाया है कि हम किसी पत्रकार या स्त्रीसे न मिलेंगे?"

साधूजीने जवाब दिया—"क्या करेंगे आप सुनकर? आप व्यापारी आदमी हैं, आपको इससे कुछ लाभ न होगा।"

मैंने फिर भी आग्रह किया, तो साधूजीने यह आत्म-कथा सुनाई।

सत्तर वर्षका हो चुका, आज यह बोझ हलका करना चाहता हूँ। यह बात मैंने आज तक किसीसे नहीं कही, पर तुमसे कहता हूँ। तुम मेरे निकटके हो, इसीलिए मेरा मन विवश हो गया, पर एक शर्त है कि तुम यह बात मेरे मरनेके पहले किसीसे न कहोगे, यहाँ तक कि मेरी लड़कीसे भी नहीं। उसकी माताके प्रति मैंने घोर अपराध किया था!"

मैं कुछ चौंका। दिलमें ख़याल आया कि साधूजी पहुँचे हुए हज़रत मालूम होते हैं। सम्भव है, इन्होंने कोई हत्या की हो। जासूसी कहानीके लिए अच्छा मसाला मिलेगा। मैंने कहा—"साधूजी महाराज! हम लोग यात्री ठहरे। अँगरेज़ी पोशाक ज़रूर पहन ली है, पर दिल हमारा

भारतीय हैं। धर्मके प्रति अगाध श्रद्धा है। तीर्थ-यात्रापर जा रहे हैं। भला, हम विश्वासघात कर सकते हैं ? हम किसीसे कुछ न कहेंगे, आप बेखटके सुनाइये।"

साधूजीने कहा—"पहले मैं एक दैनिक पत्रका सम्पादक था। पत्रका नाम नहीं बताऊँगा। हर जगह मेरा नाम छपता था। सभाओंमें मेरी पूछ होती थी। 'डिनर्स'में मुझे बुलाया जाता था। 'प्रेस एजेन्सी' मेरी बीमारी तो क्या, छींकनेतककी ख़बर देश-भरमें फैला देती थी। हाँ, एक बात मैं भूल गया। मेरे एक स्त्री थी, और मैं उसे सदा भुलाये रहता था। वह हिन्दी तो पढ़ लेती थी, मगर अंग्रेज़ीका एक अक्षर भी नहीं जानती थी, इसलिए मैं उसे अशिक्षित और असभ्य समझता था।"

यह सुनकर मैंने सरदार सुन्दरसिंहकी तरफ़ देखा, मानो मौन भाषामें कहा—'वह भी तुम्हारी साथिन थी!' सुन्दरसिंहने धीरेसे मेरा पाँव दबाकर चुप रहनेका संकेत किया। साधूजी बोल रहे थे—"मैं उससे कहा करता था, 'तुम मेरे लिए fit companion (उपयुक्त साथी) नहीं हो।' दो-चार बार मैंने उसे डेली न्यूज़पेपर सुनानेकी कोशिश भी की, पर उसे तुलसीकृत रामायणमें जो आनन्द आता था, वह अख़बारमें कभी नहीं आया। मैं उसे दासीकी भाँति ही समझता था। मैं उससे अपने कपड़े धुलवाता था, बर्तन मँजवाता था, पानी भरवाता था, और भोजन बनाना तो उसका जन्मसिद्ध कर्तव्य था ही! मैं समझता था कि ईश्वरकी ओरसे, जीवन-भरके लिए, मुझे यह एक अच्छी अवैतनिक दासी मिल गई है। स्त्रियोंकी स्वाधीनताके विषयमें लिखे हुए मेरे लेख कितने ही पत्रोंमें उद्‌धृत हुए थे, और पुस्तकाकार भी छपे थे! पर मैंने यह कभी ख़याल नहीं किया कि मेरी स्त्रीको भी कुछ स्वाधीनता चाहिए! जिन दिनों मैं अपने लेखपर दूसरे पत्रोंमें लीडिंग आर्टिकल देखकर ख़ुश होता था, उन दिनों सरला और उसकी माँ जाड़ेके कपड़े न बन सकनेके कारण बग़लमें हाथ दबाये घरपर सर्दीके दिन काटती थीं! बाहर मैं

सूटैड-बूटैड प्लेटफ़ार्मसे धाराप्रवाह व्याख्यान देता था, उधर घरपर पत्नी अपनी फटी हुई धोतीमें पैबन्द लगाती थी। आफ़िसमें मैं सरकारके कठोर शासनकी निन्दा करता था, और घरपर मेरा शासन उससे कम कठोर न था। जिस दिन मैंने अपनी इंटरव्यू तारके द्वारा भारत-भरके पत्रोंको छपनेके लिए भेजी थी, उस दिन घरमें तरकारीके लिए भी पैसा नहीं बचा था। और जब मैं अमुक सभाका सभापति होकर गया था, पत्नीने अपने हाथके कड़े बेचकर घरके लिए अनाज मँगाया था। जब सरला टाइफाइड ज्वरसे पीड़ित थी, मैं घरसे सात सौ मील दूर एक पोलीटिकल मीटिंग एटेण्ड कर रहा था, और भारतवर्षके दीनहीन बच्चोंकी दुर्दशापर चार आँसू बहा रहा था—'Milk is the birth right of every child.'—'दूध पीना तो प्रत्येक बच्चेका जन्मसिद्ध अधिकार है।' यद्यपि मेरी पत्नीको अपनी बाली बेचकर बीमार लड़कीके लिए विदेशी दवाका प्रबन्ध करना पड़ा था, मगर देशी दूध उसे फिर भी न मिल सका!"

यहाँ पहुँचकर साधूजीने एक लम्बी साँस ली। मैं अपराधीकी भाँति घबराया हुआ था। मैं डर रहा था कि कहीं मेरी स्त्रीका हृदय द्रवित न हो जाय! चुनांचे मैंने आँखके इशारेसे उन्हें सावधान भी कर दिया।

साधूजीने एक ठंडी साँस भरकर कहा—"उन दिनों पत्रकारका जीवन बड़ा ख़तरनाक था। आप व्यापारी आदमी उसका अन्दाज़ा भी नहीं लगा सकते। कभी नौकरी लगती, कभी छूट जाती। महीनों घरपर बेकार बैठा रहना पड़ा। इस बीचमें मैं अपनी स्त्रीके लगभग सब गहने बेचकर खा गया। केवल दो गहने रह गये थे—नाककी नथ और पाँवके बिछुए। यद्यपि उसके सब गहने मेरे ही काम आये थे, पर मैं उससे बराबर झगड़ा करता रहता। कहता—'तुमने व्यर्थ ही इतना रुपया इनमें फँसा रखा है! रुपये होते, तो बैंकमें जमा होते।' वह यही उत्तर देती थी—'मुझे गहनोंका शौक़ नहीं। गृहस्थीमें ये गहने बख़त बेबख़त काम आ जाते हैं। मैं नहीं चाहती कि तुम किसीके सामने

हाथ पसारो। घरमें चीज़ हो, तो उसे रखकर हारी-बीमारीमें काम निकल सकता है।' इस प्रकारकी हारी-बीमारी आती रहीं, और गहनोंसे काम निकलता रहा। यद्यपि स्त्रियोंके लिए वोटाधिकारपर मैंने बड़े तगड़े लेख लिखे थे, और मेरी मित्र 'पांचाली'की सम्पादिका श्री ज्योतिष्मती एम० ए०ने उनपर मुझे ख़ूब बधाई भी दी थी, पर मैंने स्वप्नमें भी यह ख़याल नहीं किया कि ज्योतिष्मतीके लिए वोटपर जितना अधिकार चाहिए, कम-से-कम उतना तो सरलाकी माँको अपने मायकेसे लाये हुए गहनोंपर है ही।"

साधूजी फिर कुछ रुके, और अपनेको ज़रा सम्हालकर कहा—"आप नहीं जानते कि पत्रकारका जीवन कितना बाह्य हो जाता है। जनताके सम्मुख बार-बार आनेकी प्रवृत्ति आन्तरिक आध्यात्मिक भावोंको कुचल डालती है। अस्त-व्यस्त जीवनमें उसे यह सोचनेका अवकाश ही नहीं मिलता कि आख़िर इस विज्ञापनसे जीवनको कुछ वास्तविक लाभ भी है या नहीं। मैं समझता रहा कि ज़िन्दगी यों ही कट जायगी, सरलाकी माँ जीवन-भर मेरी सेवा यों ही करती रहेगी, पर भाग्यमें कुछ और ही लिखा था!

"आख़िर दुर्भाग्यका वह काला दिन आ ही गया! रातके बारह बजे थे। सर्दीसे हाथ-पाँव ऐंठे जाते थे, गली-बाज़ार सब ख़ाली थे। कहींपर कुत्ता भूँक रहा था, कहीं-कहीं किसीके चलनेकी आहट सुनाई दे जाती थी। मैं ऐडीटोरियल लिखकर घर लौटा। पत्नीको कई दिनसे ज्वर आ रहा था, पर मैंने उसकी कुछ भी परवाह न की थी! इन्हीं दिनों मेरे यहाँ दो-तीन पत्रकार अतिथि भी ठहरे हुए थे, और उनके लिए, उस बीमारीके दिनोंमें भी, वह भोजन बनाया करती थी! मैं समझता था कि स्त्रियाँ बिना कारणके बीमार होती हैं, और यों ही बिना दवाके तन्दुरुस्त हो जाती हैं! मैंने पूछा—'कहो, कैसी तबीयत है?' उसने जवाब दिया—'कुछ नहीं, ठीक है।' शरीर जल रहा था। देखा तो ज्वर १०४॥ डिगरी था।

घबरा गया। भागा-भागा डाक्टरके यहाँ पहुँचा। डाक्टर साहब आये। उन्होंने मरीज़को देखकर कहा—'ऐडीटर साहब, आप भी अजब अक़लमन्द आदमी हैं! अब तक क्या कर रहे थे? इन्हें तो डबल निमोनिया हो गया है, और आपने मुझे अब ख़बर दी है!' मेरे काटो तो ख़ून नहीं। डबल निमोनिया!! डाक्टर साहबने नुसख़ा लिखा। मैंने जेबमें हाथ डाला, तो पैसा नहीं! स्त्रीने ठाकुरजीके सिंहासनकी ओर इशारा किया। उसके नीचे दबे दो रुपये निकल आये। उन्हें डाक्टर साहबके हवाले किया। दवा खानेके साथ ही उसका बोल बन्द हो गया। ग़रीब अपने मनकी बात भी न कह सकी! हाँ, एक बार सरलाकी ओर देखकर उसने मेरी ओर ज़रूर देखा था। सूर्योदय होते-होते मेरा जीवन अन्धकार-मय बन गया। वह हृदयबेधक दृश्य अब भी मेरी आँखोंके सामने है। वह मर चुकी थी, परन्तु उसके चेहरेपर अब भी पूर्ण शान्ति थी, मानो उसने मेरे सम्पूर्ण अपराधोंको क्षमा कर दिया हो। वह लाल कपड़े पहने हुई थी। ऐसे ही कपड़े पहनकर वह अपनी माँके घरसे मेरे घर आई थी, वैसे ही कपड़े पहनकर आज वह मेरे घरसे सदाके लिए विदा हो रही थी। मैं फूट-फूटकर रोने लगा। पड़ोसी लोग अर्थीकी चिन्तामें थे। आफ़िससे वेतन मिलनेमें दस दिनकी देर थी। पागलकी तरह मैंने पत्नीके सन्दूक़को टटोला। रामायणमें पाँच रुपयेका नोट मिल गया। तब मुझे ख़याल आया कि प्रतिवर्ष रामायणका पाठ समाप्त कर वह एक रुपया चढ़ाया करती थी, जिसे मैं घोर अन्ध-विश्वास कहा करता था। इस अन्ध-विश्वासने ही उस समय मेरी लाज रख ली!

"अन्त्येष्टिके बाद घर लौटा, तो मुझे पता लगा कि मेरा क्या खो गया है। अब मुझे चिन्ता थी, तो केवल एक बातकी कि स्त्रीके फूल त्रिवेणी तक कैसे पहुँचाये जायें। एक बार उसने कहा था—'मेरी एक बात मानो, तो कहूँ। मेरे फूल त्रिवेणीपर पहुँचा देना।' मैंने घोर अन्ध-विश्वास कहके उस बातको उड़ा दिया था। तीसरे दिन जब मैं चिताकी

भस्मसे फूल बीनने गया, तो उनके साथ ही मुझे वह सोनेकी नथ मिली, जिसे पहनकर वह सौभाग्यवती श्मशानको गई थी। उस समय मुझे उसकी बात याद आ गई कि गहना समय-कुसमय काम आता है, और उसका गहना बड़े संकटके समय काम आया। उसने, जब तक वह जीती रही, किसीके सामने हाथ नही फैलाया; आज मरनेके बाद उसकी ख़ातिर मुझे भी किसीके सामने हाथ न फैलाना पड़ा।

"सन्ध्या समय जब पंडितजीके साथ पीपलके पेड़पर घड़ा बाँधने तथा दीपक रखने गया, तो पंडितजीने कहा—'इस दीपकको आप जलाइये, और फिर कहिये, मै इस दीपकको इसलिए जलाता हूँ कि जिससे गतात्मा-का मार्ग प्रकाशमय हो।' उस समय मेरे दिलको बड़ा धक्का लगा। कँपकँपी-सी आ गई! दीपक हाथसे छूट पड़ा! पंडितजीने कहा—'यह क्या, आपका ध्यान किस दिशामें है?' मैंने कहा—'पंडितजी, मेरा ध्यान अब ठीक दिशामें है। जीवन-भर जिसके हृदयको जलाकर अपना मार्ग प्रशस्त और उसका मार्ग अन्धकारमय बनाता रहा, अब दो पैसेका स्नेहहीन दीपक जलाकर उसके मार्गको कैसे प्रकाशमय बना सकता हूँ? जो मनुष्य अपने व्यक्तित्वके विकासके लिए अपने अधीनस्थ प्राणियो-के सुख-दुखकी चिन्ता न करता हुआ, उनके व्यक्तित्वको कुचलकर, यश-लिप्सासे आगे बढ़नेका प्रयत्न करता है, वह अधम है, नीच है, पापी है, पामर है।"

साधूजी थोड़ी देर चुप रहे, फिर बोले—"अब आप समझ गये होंगे, मै पत्रकारोंसे क्यों नही मिलता। जिनका जीवन सर्वथा बाह्य बन जाता है, उनसे मिलकर मैं क्या करूँ? रही स्त्रीकी बात, सो एक स्त्रीपर घोर अत्याचार करनेके बाद मै अब क्या किसी स्त्रीको मुँह दिखाने लायक़ रहा हूँ?"

मैं स्तब्ध रह गया। वृद्ध साधूकी आँखोंमें आँसू झलक रहे थे, जिन्हें रोकनेका वे निष्फल प्रयत्न कर रहे थे। बिलकुल सन्नाटा था। सरदार

साहबकी ओर देखूँ, तो उन्हें गश आ गया था! भोलीभाली सरलाने, जो अब तक खिलौनोंकी धरा-उठाई कर रही थी, यह देखा, तो वह अकस्मात् बोल उठी—"बाबूजी, अम्माको क्या हुआ, देखो!"

सारा भंडाफोड़ हो गया! साधूजीने आँखें मूँद लीं। हाथोंसे मुँह ढक लिया, और कहा—"आपने मेरे साथ विश्वासघात किया। आप स्त्रीको यहाँ क्यों लाये? मालूम होता है, आप भी कोई चालाक पत्रकार हैं! आपकी इस ऊपरी सज्जनताके भीतर अधमता इतनी दूर तक चली गई है, इसका मुझे पता न था। अब आप कृपा करके चले जाइये।"

मैंने सिर्फ़ इतना ही कहा—"यह अधम अपने भयंकर अपराधके लिए क्षमायाचना करता है, और अपना तुच्छ जीवन आपकी सेवामें अर्पित करता है।"

साधूजीने कहा—"बस, आप चले जाइये। अभी वक़्त नहीं आया।"

साधूजी चुप हो गये। हम लोग लौट आये। सेतुबन्ध रामेश्वरकी यात्रा की, और फिर अपने घर वापस आ गये।

× × ×

कुछ वर्ष बाद मेरी पत्नी भी चल बसीं, जिस दिन उनकी मृत्यु हुई, अकस्मात् उसी दिन विजयनगरकी मुहरकी मुझे एक चिट्ठी मिली। उसमें लिखा था—"जीवन-यात्रा अब समाप्त हो रही है। यह उपवन और यह कुटीर तुम्हारे लिए छोड़े जाता हूँ।"

नीचे उन्हीं साधूजीके हस्ताक्षर थे। मैंने दिलमें सोचा कि अब वक़्त आ गया है!

× × ×

मैं अब उसी कुटीमें रहता हूँ। सम्पादककी समाधि बनवा दी है, और मैंने भी यह नियम बना लिया है, दो प्रकारके आदमियोंसे नहीं मिलता—एक तो पत्रकारसे, और दूसरे स्त्रीसे।

जनवरी १९३३]

लल्लू कब लौटैगो ?

"लल्लू कब लौटैगो", यह प्रश्न एक ग़रीब किसानने साढ़े चार वर्ष पहले पूछा था। वह अब इस संसारमें नहीं है। पर उसका प्रश्न अब भी मेरे कानोंमें गूँज रहा है।

फ़ीरोजाबाद (ज़िला आगरा) के निकट खेड़ा गनेशपुर नामक एक छोटा-सा ग्राम है। वहाँ सोनपाल नामक लोधा रहा करता था। साग-तरकारी बेचकर वह अपनी गुज़र करता था। मैंने भी कई बार उससे साग-तरकारी खरीदी थी, और यह समझता था कि जैसे अन्य साग-तरकारी बेचनेवाले हैं वैसा ही यह भी है। उससे झगड़ा करके अधिक तरकारी लेनेमें मजा आता था। बुड्ढा था, और बुड्ढोंसे मधुर छेड़-छाड़ करके दो-चार खरी-खोटी सुननेमें अद्भुत आनन्द मिलता है। मुझे पता नहीं था कि इस वृद्ध किसानके हृदयके भीतर दुःखकी एक ज्वाला जल रही है। यह बात एक दिन मालूम हुई।

शामके वक़्त एक बौहरेजीने आकर कहा, "सोनपाल लोधेको तुम्हारे पास लाया हूँ, इसका कुछ काम करदो।"

सोनपाल लोधेको मैंने बिठलाया। हाथ जोड़कर बैठ गया। लटा-दूबरा आदमी था। फटा हुआ साफा, जिसमें पाँच-सात जगह धजीरें साफ दीख रही थीं, पहने हुआ था। गलेकी हड्डी निकली हुई थी। आँखोंके नीचे गड्ढे थे। मैंने दिलमें सोचा कि इससे बातचीत करनी चाहिए, इन्टरव्यू लेनी चाहिए। महात्मा गान्धी, कविवर रवीन्द्रनाथ और मि० ऐण्ड्रूज-जैसे महापुरुषोंसे बातचीत करनेका मौक़ा अनेक बार मिला है, पर इन लोगोंसे बातचीत करते समय कुछ कृत्रिमता आ ही जाती है। उनके महत्त्व तथा अपनी क्षुद्रताका ख्याल करके बातचीतमें बड़े संयमसे

काम लेना पड़ता है, और वह स्वाधीनता नहीं मिलती, जो समान पदवालोंके साथ मिल सकती है। सोनपालको इस बातकी आशंका नहीं थी, जैसी कि प्रायः बड़े आदमियोंको हुआ करती है, "जनता (पब्लिक) पर मेरी बातचीतका क्या असर पड़ेगा?" मैथीका साग कल किसी तरह दो पैसे सेरके बजाय तीन पैसे सेर बिक जाय, इस बातकी उसे अधिक फ़िक्र थी। उसे किसी संस्थाका संचालन नहीं करना था, और संस्था-संचालन बड़े-से-बड़े मनुष्यकी सहृदयताको कम और व्यापार-बुद्धिको अधिक कर देता है। सोनपाल लोधा इन सब महत्त्वों और उससे उत्पन्न चिन्ताओंसे मुक्त था। इन्टरव्यूके लिए उपयुक्त आदमी था।

"महाराज तुम तो हमें जानतौ, थानेके सामने तरकारी बेचतें। हमारी दुकानसे बहुत दफै तरकारी लाये हौ। हमारो एक काम कद्देउ। हमारौ लड़का काऊ टापू कौं चलौ गयौ ऐ। अब आठ ब्रस्ससें वाकौ पतौनांइ। वाकौ पतौ लगाइ देउ।"

मैंने कहा, "तुम्हारी उमर क्या है?"

सोनपालने कहा "जितौ मोइ ख़बर नांइ। गदरकी सालको जनम है। सत्तरभईकै पिचत्तर भई कै साठ भई, जि मोइ पतौ नांइ।"

मैं—"तुम्हारे लड़केका पता तो शायद लगा सकूंगा। पर सब हाल सुनाओ।"

सोनपाल—"तौ पतौ लग जायगौ, लल्लू लौट आवैगौ? कब लौटेगौ?"

"लल्लू कब लौटेगा, यह मैं नहीं बतला सकता। यह मेरे हाथकी बात नहीं, तुम सब हाल तो सुनाओ।"

मुझसे कुछ निराशा-युक्त जवाब पाकर उसने एक लम्बी साँस ली और झुर्रीदार चेहरे पर बैठी हुई आँखोंके कोनेपर कुछ पानी झलक आया। उसने अपनी दुःख-गाथा सुनानी शुरू की—"वाकौ नाम डालचन्द हौ। दो-तीन बस्स मदस्सा में पढो। जितौ मैं नाई जानतु कित्तौ पढ़ौ। ग्यारह

ग्रानाकी किताब तक पढ़ौ। तोरेके ढिंग बमरौली कटारामें बाकी ससुरार ही। बहुऐ लिवायवे गयौ। उनने भेंजी नाइँ, सो हमारे भानजेकैं पीपरमण्डी ग्रागरेमें ठहर रह्यौ, फिर वहाँसे पतौ नाँइ लगौ। हमारौ भतीजौ जो बाके संग बमरौली कटारे तक गयौ, सो वु तौ लौट ग्रायौ पर लल्लू नईं लौटौ।"

मैंने कहा, "यह तो तुमपर बड़ी ग्राफत पड़ी।" सोनपाल बोला, "ग्राँखनतें धुंधरौ हैगयौ, बोझ चलत नाँइ, कैसे दिन कटतैं? छोटो लड़िका है एक, सो वु कमजोर है, वासैं काम होत नाँइ।"

"दुःख सम्पत्ति ग्रौ ग्रापदा सब काऊ कौ होंइ,
ज्यौं-ज्यौं परिजाय ग्रापदा तौ लग सहै सरीर"

सिग सहनौ पत्तु है।"

मैंने कहा, "लड़केकी माँको तो बड़ा दुःख हुग्रा होगा।"

सोनपाल, "का कहैं। जब मरिवेंके पहले बाइ सन्निपात भयौ, तौ बोली, "मेरे डल्ला कौ बुलाइ देउ। डल्ला कौ जल्दी बुलाइ देउ"। हमने कही, "बुलाइ दैंगे, सहर गयौ है ग्रावतु होइगौ।" डल्ला-डल्ला कहति-कहति मर गई। पर डालचन्द नहीं ग्रायौ। वाकौ एक लड़िका है ग्रौर वाकी ग्रौरत जिन्दा है"।

इतना कहकर बूढ़ेने फिर एक गहरी साँस ली।

पूछनेपर पता लगा कि सोनपाल चार ग्राने रोज़ तरकारी बेचकर कमा लेता था। उससे तीन ग्रादमियोंकी गुज़र होती थी। छोटे लड़केका विवाह कर दिया था। पर वह जुग्रा खेलता था, कमाता कुछ नहीं था। बड़े लड़के डालचन्दकी एक चिटठी ग्राठ वर्ष पहले चीनीडाट (ट्रिनीडाड) से ग्राई थी। फिर कुछ पता नहीं चला।

मैंने कहा, "चिट्ठी भेजूंगा, लेकिन इतने वर्ष बाद पता लगना मुश्किल ही है।"

सारा हाल लिखकर ट्रिनीडाडके औपनिवेशिक मित्रोंको चिट्ठी भेजी गई। कई महीने बाद एक मित्र माननीय रैवरैण्ड सी० डी० लालाका उत्तर आया—

"आपकी तीस जूनकी चिट्ठी जिसमें आपने डालचन्दके विषयमें, जो सन् १९१६ में शर्तबन्दीके कुलीकी हैसियतसे आया था पूछा है, मिली। तदनुसार मैंने डालचन्दके विषयमें पूछ-ताछ की और उसे पूर्ण स्वस्थ और प्रसन्न पाया। कल वह मेरे घर पर भी आया था और उसने एक चिट्ठी हिन्दीमें लिखकर मुझे दी है और कहा है कि मैं इसे आपके द्वारा उसके पिताके पास पहुँचा दूँ।"

डालचन्दकी चिट्ठीकी नक़ल यहाँ दी जाती है।

"सिद्ध श्री सर्वोपमा विराजमान सकल गुण-निधान श्रीपत्री जोग्य लिखी चीनीडाट टापू कूबा कौट एकचेंचि स्टेटससे डालचन्दकी राम-राम सोनपाल व फकीरचन्दको रामराम पहुँचै। भाई गेंदालाल, मौजराम वीरीराम, व गोवर्धनको राम राम पहुँचै। आगे यहाँके समाचार भले हैं, आपकी खैरियत श्री निरंकालजीसे नेक चाहते हैं। आगे हमारा मौसी को पालागन पहुँचै। और हमारी भावीजी को राम-राम पहुँचै। आगे यहाँके समाचार अच्छा लेकिन आटा बहुत मँहगा है। तुम लोगोंको आटाका या दूसरी चीजोंका ब्यान लिखूँ तो तुम लोग बहुत ताज्जुब मानोगे इसलिये कुछ बयान नहीं लिख सकता हूँ। और हम लोग दस वर्षके बाद ग्यारह वर्ष शुरू होगी, हम चले आयँगे। दस वर्ष पूरा हो जायेंगे, तो एकसौ पाँच रु० किराया लगेगा और दस वर्ष पूरा नहीं होगा तो दोसौ दस किराया लगेगा। आगरेवाले रामप्रसादको राम-राम भेजना। और खरगसिंह शोभारामको राम-राम डालचन्दका पहुँचे। जितना गाँवके लोग सबको राम-राम। परमेश्वरकी महिरवानी होगी तो तुम लोगोंमें आन मिलेंगे, और नहीं महिरवानी है तो हम चीनीडाट टापूमें पड़े हैं तुम हिन्दुस्तानमें पड़े रहो, जितना काम करे हैं उतना खा लेते

हैं। हमारे दो बेटोंका भी हाल लिखना। फ़क्त थोड़ा लिखा बहुत समझना।

द: डालचन्द.

आगे आपकी चिट्ठी आई हाल मालूम हुआ और चिट्ठीके देखते ही चिट्ठी भेजदो।"

मैंने यह चिट्ठी सोनपालको जाकर दे दी। उस वृद्ध किसानको आठ वर्ष बाद अपने खोये हुए पुत्रके हाथकी चिट्ठी पाकर जो प्रसन्नता हुई, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। डालचन्दकी स्त्रीको जो आठ वर्षसे अपने पतिकी बाट जोह रही थी और जिसने लोधे जातिकी होते हुए भी दूसरा विवाह नहीं किया था, इस समाचारसे जो हर्ष हुआ होगा, उसकी मैं कल्पना नहीं कर सकता। अब सोनपालको एक धुन थी और जब कभी मैं उससे मिलता वह यही सवाल करता, "चौबेजी, हमारौ लल्लू कब लौटैंगौ?" उस बेचारेने अपने लल्लूको यह ख़बर नहीं दी थी कि उसकी माँका देहान्त कई वर्ष पहले हो चुका था। वह सोचता था कि अगर लल्लूको यह बात मालूम हो गई कि माँ मर चुकी है तो उसके दिलको बड़ा धक्का लगेगा, वह फिर नहीं लौटेगा। वह ख़याल करेगा कि माँ तो मर ही चुकी अब क्या करूँगा घर चलके। मुझे भी उसने माँकी मृत्युका ज़िक्र करनेसे मना कर दिया था। डालचन्दको जो चिट्ठियां जाती थीं उनमें वह माँकी (जो उसकी याद करते-करते कभी की स्वर्गवासी हो चुकी थी) आशीष लिखा दिया करता था!

उस बूढ़ेके हृदयमें नवीन आशाका संचार हो गया था। मेरा घर उसके गाँवके रास्तेमें ही पड़ता था। इसलिए अक्सर वह साग दे जाया करता था और उसका मूल्य देने लगते तो आँखोंमें आँसू भर लाता और कहता, "हम पै रक्खोई का है। महाराज, जो हम तुमको देइँ। तुमनै हमारे लल्लूको पतौ लगाइ दयौ।" अक्सर हमारे पीछे घरपर आकर तीन-चार कुटुम्ब लायक तरकारी लाकर पटक जाता था। एक बार दूसरे

सागोंके साथ बहुत-से कच्चे केले दे गया। हमने अपनी माँसे पूछा, "ये तो चार-पाँच आनेके होंगे तुमने ले क्यों लिये?" माँने कहा कि "वह माना नहीं! पैसे भी नहीं लिये। यह कहते हुए कि तुम्हारे लल्लूने हमारे लल्लूकौ पतौ लगाइ दयौ है, उसकी आँखोंमें आँसू भर आये। हम का देने लायक हैं, कहकर यह सब साग-तरकारी पटक गया!"

लल्लूके लौटनेकी आशामें कुछ दिन और जीता रहा। मैंने दिलमें सोचा था कि श्री शिवप्रसादजी गुप्तको सारा क़िस्सा लिख भेजूँ और दोसौ दस रुपया उनसे लेकर डालचन्दके किरायेके लिए भिजवा दूँ। मुझे पूर्ण विश्वास था कि मेरी प्रार्थनापर गुप्तजी यह कार्य अवश्य कर देते पर मैंने कुछ आलस्यवश और कुछ संकोचवश ऐसा नहीं किया। सोचता रहा कि तब लिख दूंगा, अब लिख दूंगा। वृद्ध विचारा प्रतीक्षा करता रहा!

साल भर उसने प्रतीक्षा की। आख़िर वह बीमार पड़ गया। उसका गाँव हमारे यहाँसे दो-तीन मील पर ही है। हमारे पास उसकी बीमारीकी ख़बर भी आई। हमने सोचा कि नजदीक तो है ही, किसी दिन मिल आवेंगे।

एक दिन अकस्मात् समाचार मिला कि सोनपाल इस संसारसे सदा के लिए चल बसा। जब उसके छोटे लड़केने आकर सब हाल सुनाया तो मैंने पूछा कि क्या मरते समय उसने डालचन्दकी याद की थी? वह बोला, "बहुत याद करी। जेई कहत रह्यौ कि चौबेजीसे पूछियौ कि लल्लू कब घर लौटैगौ?"

माता भी यही कहते-कहते मरी और पिता भी यह कहते-कहते मरा। हमारे दिलमें यही पछतावा रहा कि हमने समयपर उसके लड़केके लिए किरायेका इन्तज़ाम क्यों नहीं करा दिया। डालचन्दके छोटे भाईकी आज्ञानुसार एक चिट्ठी ट्रिनीडाड भेजी गई जिसमें उसके माता और पिता दोनोंकी मृत्युका समाचार एक साथ ही गया। साथ ही उसके पिताके चित्रकी

एक कापी भी थी, जो मैंने अपने लिए खिंचवाया था। डालचन्दको जो दुःख हुआ होगा, वह वही जानता होगा।

आज भी उस बूढ़ेके करुणोत्पादक शब्द "लल्लू कब लौटेंगो" कानोंमें गूंज रहे हैं, लल्लू अभी तक नहीं लौटा!

सुना है कि किसी गाँवमें अपने मायकेमें एक स्त्री रहती है, अपने पतिकी यादमें उसने चौदह वर्ष बिता दिये। और ट्रिनीडाड यहाँसे पन्द्रह हज़ार मील दूर है। बीचमें सात समुद्र हैं।

१९२९]

मनसुखा और कल्ला

१० जुलाई सन् १९४२

दिन-भर पानी बरसता रहा, शामको भी फुहार पड़ रही थी। टहलनेके लिए मैं सड़ककी ओर निकल गया था और लौट ही रहा था कि इतनेमें मनसुखा बेलदार(कुम्हार) उधरसे आता हुआ दीख पड़ा। हाथमें एक कपड़ा था, जिसमें बहुत-से जामुन बँधे हुए लटक रहे थे। मैंने मज़ाक़में कहा:—"ठहरो! यहाँ डाकू हैं! लाओ सब माल-असबाब धर दो!"

मनसुखा मुसकराने लगा और अपनी पोटली हमारी ओर बढ़ा दी। हमने आठ-दस जामुन ले लिये। जामुन पासके पेड़ोंके ही थे। उन दिनों जम्बू वृक्षोंका अखण्ड दान चल रहा था और प्रत्येक पथिक मनमाने जामुन खाता चला जाता था।

११ जुलाई—

सड़कपर पत्थरके टुकड़े डालनेकी मज़दूरी मनसुखाने कर ली थी। नदी-तलमें वह पत्थर तोड़ रहा था। गधे पास ही खड़े हुए थे। बच्चे पत्थर बीन रहे थे। मैंने पुलपरसे आवाज़ दी, "मनसुखा, तुम्हारी तस्वीर बहुत अच्छी आई है। बच्चोंके फोटो भी ठीक उतरे हैं।"

मनसुखाने कहा—"सो तो ठीक, पर तस्वीरें हमें दिखाओ तो सही।"

मैंने कहा—"अच्छा कल आना, सब फोटो दिखला दूँगा, पर दूँगा नहीं! एक तस्वीर पाँच आनेमें पड़ती है।"

मनसुखाने कहा—"अच्छा पंडितजी, पाँच आने पक्के रहे।"

१२ जुलाई—

मनसुखा हमारे बग़ीचेपर आया और बोला—"पंडितजी, कहाँ

मुरम (पथरीली मिट्टी) गिराना चाहते हैं ?"

मैंने कहा—"यहीं आमके पेड़ोंके नीचे, जहाँ कीचड़ बहुत हो जाती है।"

१३ जुलाई—

सुना कि पासके गाँवके किसी कुम्हार और उसके बच्चेको साँपने काट खाया है। उस वक़्त हमें मनसुखाका ख़्याल भी नहीं आया। शामको ख़बर मिली कि मनसुखा और कल्लाको ही सर्पने काटा था और दोनों ही मर गये !

हृदयको बड़ा धक्का लगा। मनसुखा और उसके कुटुम्बके सभी प्राणियोंने हमारे बग़ीचेमें बहुत दिनों तक मज़दूरी की थी। सब घरवाले बाल बच्चे लगे रहते थे। ६ गधे भी साथ थे और तब एक रुपया रोज़ उन्हें मिलता था।

उस समय मैंने आठ-दस चित्र लिये थे। "मज़दूरके जीवनमें एक दिन" शीर्षक लेख लिखनेका विचार था। चित्र बनकर बहुत दिन पहले ही आ गये थे, पर मैं अपने प्रमादवश उन्हें मनसुखा तथा उसके बच्चोंको अभी तक दिखला नहीं पाया था। जब कभी ज़िक्र आता तो कह देता, "अच्छा भाई, कल आना।"

वह कल नहीं आई, काल आ गया ! और मनसुखा और कल्ला उस धामको चले गये, जहाँसे कोई वापस नहीं लौटता। चार दिन बाद मनसुखाकी स्त्री उजियारी अपनी दुःख-गाथा सुना रही थी :—

"इतवारकी रातको वे फ़ारमकी ओर धरमदास बाबाकी पूजा करने गये थे। नौ बजे लौट आये। रातको तीन बजे होंगे। उन्होंने कहा "जगति है का ? मोइ काऊने काटि खाओ।"

भीतर मेरा लड़का कल्ला पड़ा हुआ था। पासमें तीन बहनें और एक बुआकी लड़की लेटी हुई थीं।

कल्ला बोला "हमैं सोऊ काटि खाऔ। मोइ गुलगुलौ लगो तो।" लड़कियोंको साँपने छुआ भी नहीं। बाप-बेटे दोनोंको गाड़ीपर सवार कर

टीकमगढ़ ले गये। बहुत इलाज किया पर कोई बस नहीं चला।

अगर कल्ला (लड़का) भी बच रहता तो मैं किसी तरह सन्तोष कर लेती। दोनों चले गये।

इसके बाद कुम्हारिन आँखोंसे आँसू टपकाती हुई बोली "जैसी बिपता मेरे ऊपर परि गई वैसी काऊ पै न परी होइगी।"

कल्पना तो कीजिये उस मज़दूर औरतके दुर्भाग्यकी, जिसका पति और ग्यारह वर्षका लड़का दोनों एक साथ मृत्युके मुखमें चले गये हों! अब वह कुम्हारिन है और उसके चार बच्चे हैं, तीन लड़कियाँ और एक लड़का, जो डेढ़ महीनेका है। यद्यपि उनके पिताको मरे अभी चार दिन भी नहीं हुए थे, वह दस-बरसकी भगवन्ती मज़दूरीपर गई हुई थी और सात सालकी मुनिया, छह सालकी बिनिया आश्चर्यचकित नेत्रोंसे अपने पिता तथा भाईकी तस्वीरें देख रही थीं! डेढ़ महीनेका मन्नू भी इस दृश्यको देख रहा था।

जब मैंने वह चित्र दिखलाया, जिसमें कल्ला घोड़ीपर चढ़ा हुआ था और बग़लमें बाप खड़ा हुआ था तो कुम्हारिन विह्वल हो उठी। रो-रोकर कहने लगी—

"हाँ टीकाकों आयो तो बेटा, तुम्हारे ढिग।" कल्लाका विवाह हो चुका था।

कुम्हारिनके चेहरेसे करुणा टपक रही थी। मैं सोच रहा था, "क्या बनावटी कहानियाँ इस सच्ची घटनासे अधिक करुणोत्पादक हो सकती हैं?"

इसके बाद मैंने कई महानुभावोंसे मनसुखा और कल्लाकी दुर्घटनाका ज़िक्र किया है।

एक महाशय, जो लखपती आदमी हैं, बोले, "हाँ ऐसी घटनाएँ अक्सर घटा करती हैं। क्या किया जाय?"

दूसरे महोदयने कहा, "हाँ सुना तो हमने भी था। साँप छप्परपरसे गिरा था। ख़ैर।"

तीसरे सज्जनने साफ़ ही कह दिया, "आप भी कहाँका रोना ले बैठे!"

हम किसीको दोष नहीं देते। स्वयं हम भी कम अपराधी नहीं हैं। हमारे पास साँप काटेकी दवाई (लैक्सिन) रक्खी हुई थी, पर अपने आलस्य या लापरवाहीके कारण उसकी सूचना हम आसपासके ग्रामों तक नहीं भेज पाये थे !

जब निकटकी एक बुढ़ियाने कहा, "कुम्हारिन भूखों मरती है। उस दिन शामको मैं रोटी दे आई थी।" तब हमें उस भारतीय प्राचीन प्रथाका स्मरण आया, जिसके अनुसार मातमवाले घरपर पास-पड़ौसियों द्वारा भोजन भेजा जाता है।

मैं दुबख़्ता चाय पी रहा था और नियमानुसार सुस्वादु भोजन कर रहा था और पड़ोसके ग्राममें पाँच प्राणियोंपर यह वज्रपात हुआ था। मैं उस प्राचीन प्रथाको भी भूल गया !

यह था जनताकी सेवा करनेका दम्भ रखनेवाले एक लेखककी संस्कृति-का हृदयहीन प्रदर्शन !

अपने पति और पुत्रको एक साथ ही खोकर वह कुम्हारिन न जाने किस तरह अपने चार बच्चोंका पालन कर रही है।

पुस्तकों अथवा लेखों द्वारा नक़ली ज्ञानका सम्पादन करनेवाले लेखक उसकी असीम वेदनाकी क्या कल्पना भी कर सकते हैं ?

"दुखके एक कणमें जितना ज्ञान भरा हुआ है, उतना साधु-महात्माओंके सहस्रों उपदेशोंमें नहीं", सुप्रसिद्ध आस्ट्रियन लेखक स्टीफ़न ज़्विगका यह कथन सर्वथा सत्य है।

कुण्डेश्वर (टीकमगढ़)के निकट नये गाँवमें करुणाकी उस साक्षात् मूर्तिको आप मज़दूरी करते हुए पावेंगे।

उसके ये वाक्य अब भी मेरे कानोंमें गूंज रहे हैं :—

"मदद दैवे कों को धरो है ? बिपतामें को की कौ होइ !"

———

अन्धी चमारिन

टहलनेके लिए चला जा रहा था, कुछ सोचता हुआ, कि एक छोटी-सी-लड़की ने धीमे स्वरमें कहा, "पंडिज्जी !" पहले तो मैंने कुछ ख़्याल ही नहीं किया, फिर रुककर उस लड़कीसे पूछा, "क्यों, मुझे पहचानती है क्या ?" वह मुस्कराने लगी। सुनिया उसका नाम है। छः वर्षकी है। अपनी अन्धी माताको सहारा देती हुई चली जा रही थी।

पूछनेपर पता लगा कि एक धोती माँगनेके लिए कोठीपर आई थी। अपने स्वर्गीय पुत्रकी स्मृतिमें एक बन्धुने ख़ैरातके लिए—दीन, अनाथों, अपाहिजों तथा पीड़ितोंकी सेवाके लिए—कुछ रुपये भेजे थे, जिसकी ख़बर सुनियाकी माँको मिल गई थी। उस अन्धी चमारिनने याद दिलाई, तब मालूम हुआ कि पाँच-छः महीने पहिले उसे वचन दिया गया था कि कण्ट्रोलका कपड़ा आने दो, धोती भिजवा दी जायगी। इस बीचमें हम लोग भूल ही गये थे और रुपया सब जहाँ-का-तहाँ ख़र्च हो चुका था !

मैंने सुनियासे कहा, "कल आना", और आगे बढ़ गया।

दूसरे दिन पहिले मैंने उससे बातचीत की और फिर 'मधुकर'-मैनेजर श्री सीताराम पाटोदियाने। प्रश्नोत्तर बुन्देलखण्डीमें ज्यों-के-त्यों यहाँ दिये जाते हैं :—

प्रश्न—"तोरौ नाँव का है ?"

उत्तर—"इतै मोय नचनवारेबाई कत हैं, और मायके कौ नाव कसिया हतो।"

"ई बिटिया कौ का नाँव ?"

"ई कौ सुनिया नाँव, महाराज।"

"तोरौ ब्याव कबै भओ तो ?"

"मैं जब पाँच बरसकी हती तो अंगौरा गाँव (अस्तौनके पास) के परम चमारके संगे भओ तो। हलकेमें मैं बाप-मताई नों बनी रई, फिर जब मैं दसक-बरसकी हती, हमाये बाप-मताई दोऊ मर गये और मैं सासरे चली गई ती। उतै एक बरस नौ रई, मोरी उमर हलकी हती और मोरौ आदमीं बड़ौ हतो, सो ऊनै मौय छोड़ दओ तो।"

"फिर काँ रई ?"

"मायके चली गई और अपने भैया नौं १४ बरस नौं रई आई। उतैं गाँवके ठाकुरन कौ गोबर डारत रई। बड़ौ भैया जब मारो गऔ तो ई सुनियाके बापके संगै इतै चली आई। करी आई ती।"

"तोरे आदमी को व्याव हो गओ तो कै नई ?"

"हओ, इनको सोऊब्याव हो गओ तो। जे 'मौंगने' ब्याये ते। पैली के मरे पै मैं आई ती।"

"पैली के कछू मोंड़ी-मोंड़ा हैं ?"

"उनके दो लरका भये ते और एक मौंड़ी। मौंड़ी तो मर गई ती। दोई लरका अबै हैं। वे इतै-उतै फिरत रत, मोरे पास नई रत। जितै मजूरी मिल गई, उतई रयै आऊत। दमरी नौं मोरे हाथ पै नई धरत।"

"तोरै आदमी खौं मरै कै बरसें हो गई ?"

"ई फागुन में पाँच बरस हौंगे।"

"तोरै और मौंड़ीं-मौंड़ा नईयाँ ?"

"आंहाँ, मोड़ा तौ एकऊ नई भऔ, दो मोंड़ी भई तीं सो एक तौ आठ बरस की होकें मर गई। दूसरी जेई सुनियाँ आय।"

"बड़ी बिटिया कौ का नाँव तो और वा कैसे मरी ? का भऔ तो ?"

"ऊये कौंसिया कत्ते। ऊखौं तीन साल की तिजवारी आई ती। पेट बढ़ गऔ तो, मौंपै सूजन आ गई ती और कछू दिनन में बायरैं कढ़ गई।

"तोरौ आदमी का करत तो ?"

"मजूरी करतते। खेती-मैती कछू नई हती, चाय जी की मैन्ती-मजूरी करतते।"

"उनै का बीमारी भई ती ?"

"ऊ साले इतै मेला लगो तो। मेला में दिन-भर काम करत रये। घरै आऊत नई पसुरिया पिरानी, ताप चढ़ आई। दूसरे दिना दस्त लगन लगे। वे बन्द भये सो ऊंग नई आऊत ती। ई तरां छै दिना बीमार रये और उदनई बायरें कढ़ गये। उनके मरे पै बड़ी मोंड़ी चार बरस की हती और सुनिया बरस रोज की।"

"फिर तोरौ कैसें काम चलो ?"

"मैं जोऊ चारौ-पूरा काटत रई, मैन्त-मजूरी करत रई।"

"आँखें कब से ख़राब हो गईं ?"

"आदमी के मरे पै रोऊत रई और भूकन-प्यासन मरत रई, सो ये आँखें बिगर गई, अब कछू नईं कर पाऊत, निंदाई-मिंदाई कछू नई कर पाऊत, अकेली कऊँ जा नई पाऊत। ई मोंड़ी के संगे जाके चारौ-रुल लियावत। ओई में खावौ-पीवौ चलाऊत हों। का करों और कछू काम कर नईं पाऊत। रैवे की जगा गिरत जात। सुदरा तक नई पाऊत। कमऊँ कोऊ कौ पीस दओ सो ऊने खाबे दे राखो। कमऊँ न मिलौ तो बैठी रतहों खावे खौं भर-पेट मिलत नइयाँ। टपरिया कैसे सुदरांव ? चौमासन में भाई (भारी) दुख होत।"

"तोरे मायके में अबै कोऊ है ?"

"एक भैया है खेती करत है। जब-कमऊँ कछू खावे खौं मोय दै राखत। मैं मायके जात नइयाँ। उतै जाकैं का करौं, भइया ने कमऊँ धरम लेखें कछू दै राखौ तो दै राखौ। मोय तो ईसुर को सहारौ है; जैसे ऊखौं पार लगावने हुइये सो लगावै।"

यही है अन्धी चमारिन की कहानी उसकी जबानी।

"उतरत फागुनकी दसवींको उन्हें दस्त लगे, पसुरिया पिरानी, फिर

बस, छटएें रोज।" उसका जीवनाधार मोहना चमार चल बसा। उम्र थी पच्चीस-तीस वर्ष। आमदनी थी मजदूरीसे दो आने रोज़। इलाज और पथ्यके लिए उनके पास क्या धरा था ?

जब वह अपना दुखड़ा रो रही थी, मैं सोच रहा था कि उद्योग-धन्धोंके अभावमें इन मज़दूरोंकी रक्षा कैसे हो सकती है ?

बड़ी लड़की सात वर्षकी होकर मर गई।

"जा तो है लौरी, बा हती जेठी। ऊकौ नाँव हो कौंसिया। परके चैतमें मरि गई ती। लगति चैतकी आठैंकों दो बरस हो जायँगी।" इत्यादि बातें उसने कहीं। दीर्घ निश्वासके साथ उसने कहा, "कौंसिया पानी भर लाउत ती, ईधन बीन लाउत ती।"

अब छह वर्षकी सुनिया है। वही अन्धी माँका एकमात्र सहारा है। "मौंड़ीके हाथपर काऊने दो कोरा धरि दए तो खायलए, नांहि तो नांहि।"

मैं सोच रहा था, "हमारे ये सांस्कृतिक कार्य—जनपदीय आन्दोलन, वसन्तोत्सव, साहित्यगोष्ठी, प्रान्तीय सम्मेलन—सुनियाँ और उसकी अन्धी माँके लिए क्या सन्देश, क्या महत्त्व रखते हैं ?"

टाल्सटायके उस क़िस्सेकी याद आ गई। एक महाशय किसी ग़रीबके कन्धेपर सवार थे और उसे आदेश दे रहे थे कि जल्दी-जल्दी चल ! उसने कहा, "पहले हुज़ूर, कन्धेपरसे उतर तो पड़ें !"

क्या हम लोग इन्हीं ग़रीबोंके कन्धोंपर सवार नहीं हैं ? क्या हमारी साहित्यिक आयोजनाएँ पेटभरोंके—अमीरोंके—चोचले नहीं हैं ? यदि हमारा साहित्य इनके जीवनको स्पर्श नहीं करता, इनके कठोर वर्तमान तथा अन्धकारमय भविष्यमें आशाकी एक किरण भी नहीं लाता, तो है वह आख़िर किस मर्ज़की दवा ?

"दुनियामें ऐसे लाखों-करोड़ों पीड़ित पड़े हैं। किस-किसका दुख दूर करोगे ?" हमारे एक उच्च पदाधिकारी मित्रने कहा।

"बिना नवीन सामाजिक व्यवस्थाके कुछ नहीं होनेका।" दूसरे साम्यवादी सज्जन बोले। "जनाब, आप अपने सिद्धान्तोंके प्रतिकूल जीवन व्यतीत करते हैं और इस पापका प्रायश्चित्त परोपकारवृत्तिसे करना चाहते हैं!" अन्तरात्मासे ध्वनि निकली। फिर भी मैं सोचता हूँ—

साम्यवाद आनेमें अनेकों वर्ष बाक़ी हैं, अराजकवादमें सैकड़ों और गान्धीवादका राम-राज्य कब आवेगा, राम जानें! इस बीचमें लाखों-करोड़ों सुनियाँ और उनकी माताएँ जीवनके खण्डहरमें अपने निराशामय दिन गुज़ार देंगी।

इन भूखोंको अन्न कौन देगा, मूकोंको कौन वाणी?

१९४५]

बाईस वर्ष बाद

पानी बरस रहा था, आफ़िससे घर लौटा तो मालूम हुआ कि दो ग्रामीणोंने—एक औरत और एक आदमीने—स्टेशनसे सीधे पहुँचकर डेरा डाल दिया है ! कलकत्तेमें स्थानकी कमी रहती है, इसलिए बड़ी फ़िक्र हुई कि इन्हें ठहरानेका प्रबन्ध कहाँ किया जाय। साथ ही कुछ झुँझलाहट भी हुई कि बिना पूर्व सूचनाके इस प्रकारका आगमन या आक्रमण वास्तवमें शिष्टताके नियमोंके विरुद्ध है। हारे-थके दोनों ज़मीनपर सो रहे थे, इसलिए जगाना उचित नहीं समझा। घंटेभर बाद दोनोंको अपने आफ़िस रूममें बुलाया और कुछ डाटते हुए कहा—"आप लोग भी अजीब आदमी हैं। भलेमानस ! पहलेसे खबर तो दे देते कि हम आ रहे हैं ! अब बताओ हम तुम्हारे ठहरनेका इंतज़ाम कहाँ करें ? हमारे पास तो इतनी जगह नहीं है।" दोनों बेचारे सकपका गये, और करुणोत्पादक दृष्टिसे देखने लगे। मैंने कहा, "अच्छा, कहीं न कहीं ठहरनेका प्रबन्ध किया जायगा। अब यह बतलाओ कि यहाँ आये आप लोग किसलिए हैं ?"

साथके आदमीने जो क़िस्सा सुनाया, वह बड़ा करुणाजनक था। दोनोंके ठहरनेका इन्तज़ाम स्थानीय आर्यसमाजके अधिकारियोंकी कृपासे हो गया, और इसके लिए वे हमारे धन्यवादके पात्र हैं। साथके आदमीका नाम जमनाप्रसाद था। ब्राह्मण देवता हैं और जगरानी नामक अहीरनको कलकत्तेतक पहुँचाने आये थे। एक दिन जगरानीने अपनी रामकहानी हमें सुनाई, जो निम्न लिखित है—

"उस समय मैं अठारह-उन्नीस वर्षकी थी। एक दिन रातके समय भोजन करनेके बाद मेरे पतिने (पति देवताका नाम कलपू अहीर है) अपने भाईसे कहा मैं झाड़ा फिरने जाता हूँ। थोड़ी देरमें लौटूंगा। आज

इस बातको बाईस वर्ष हो गये, अभी तक नहीं लौटे ! जब रातको नहीं आये, तो सवेरे हम लोगोंने तलाश करना शुरू किया। पहले यह ख्याल हुआ कि महुवा बीननेके लिए खेतमें गये होंगे। वहाँ तलाश कराया, पर वे वहाँ नहीं थे। पीछे पता लगा कि जमनाप्रसाद ब्राह्मणके भाई जगन्नाथके साथ वे कहीं लापता हो गये। बहुत तलाश कराया, पर कहीं पता न लगा। चार वर्ष तक हमें कोई समाचार नहीं मिला।

जब चार वर्ष बीत गये, तब एक दिन उनकी चिट्ठी फिजीसे आई, और उसमें तमाम व्यौरा लिखा था, अबतक वे कहीं फिजीमें हैं। अब त्यौरस सालसे उन्होंने मुझे अपने पास बुलानेका विचार किया है। पिछले वर्ष तो मैं जा नहीं सकी, अब जा रही हूँ।"

जब जगरानी अपना यह वृत्तान्त सुना रही थी, मैं सोच रहा था कि बाईस वर्षकी अवधि भी कितनी लम्बी है। मैंने पूछा, "तुम्हारे कोई बाल-बच्चे हैं ?"

जगरानीने कहा, "एक लड़का है और एक लड़की। लड़केको वे तीन वर्षका छोड़ गये थे, और लड़की उस वक्त पेटमें थी, और उनके जानेके तीन महीने बाद पैदा हुई।"

मैं जानता था कि अहीर लोगोंमें दूसरा विवाह हो सकता है, इसलिए मैंने धृष्टतापूर्वक प्रश्न किया, "तुमने दूसरा विवाह क्यों नहीं किया।"

बहुत दुःखित होकर करुणोत्पादक स्वरमें उसने कहा, "महाराज, बेटा-बेटीको कहाँ बहा देती ?"

मुझे अपने प्रश्नपर लज्जित होना पड़ा। फिर जगरानीने बतलाया कि उसका लड़का जियावन अब २५ वर्षका है, और लड़की भगना २२ वर्षकी। लड़केके दो सन्तानें हैं और लड़कीके भी एक लड़का है।

मैंने कहा, "तो तुम इन सबको छोड़कर जा रही हो ?"

"का करी महाराज। सबने मिलकर यही सलाह दी कि अब तुम्हारा जाना ही ठीक है। लड़का चार कोस बाँसी तक पहुँचाने आया था, और

लड़की और दामाद भी दो कोस तक पहुँचाने आये थे।" ऐसा कहते हुए जगरानीकी आँखोंमें आँसू झलक आये। वह अपने लड़का और लड़कीकी प्रशंसा करने लगी। बोली, "लड़का-लड़की मेहनत-मजूरी करते रहे और मैं ज़मीदारके यहाँ कूटना-पीसना करती थी। लड़कीकी हम कहाँ तक तारीफ़ करी। जबसे होश सम्हाला, तबसे मजूरी करी।"

अब पुत्र और पुत्रीके बाईस वर्षके वात्सल्यको निलांजलि देकर जगरानी सात हज़ार मील दूर अपने पतिसे मिलनेके लिए फिजीको जा रही थी। फिजीका यहाँसे थर्ड क्लासका किराया २५०) रु० लगता है, जो उसके पतिने वहाँ भर दिया है। पता नहीं कि जगरानी अब अपने लड़की-लड़केको अपने जीवनमें कभी देख भी सकेगी, क्योंकि ग़रीबोंके पास इतना पैसा कहाँ कि वे इतना किराया भर सकें। मैं कल्पना कर रहा था कि कैसी करुणाजनक विदाई हुई होगी उस समय, जब जगरानी अपने लड़के और लड़कीसे बाँसीमें अलग हुई।

मैंने कहा, "तुम्हारा फ़िजी जाना ही ठीक है। वहाँ हो आओ। फिर अपने लड़के और लड़कीके पास चली आना।"

जगरानीका हृदय भर आया। हाथ जोड़कर कहने लगी, "अब महाराज"...इससे आगे वह कुछ कह न सकी। उसके चेहरेसे प्रकट हो रहा था कि अब उसे अपने लड़की-लड़केसे मिलनेकी उम्मेद नहीं है।

जगरानीको फिजी भिजवानेमें काफ़ी दिक़्कत उठानी पड़ी। पास-पोर्ट वह बस्तीसे लेती आई थी, लेकिन उस पासपोर्टपर बंगाल सरकारके अधिकारीके हस्ताक्षर कराने थे। कलकत्तेके पुलिस वालोंका क्या कहना है! बेचारी जमनाप्रसादको लेकर वहाँ गई तो पासपोर्ट उन्होंने ले लिया, और फिर कई दिन बाद गई तो कहा "तुम्हारा पासपोर्ट गया जहन्नुममें"। मुझे पुलिसके पासपोर्ट विभागमें जाना पड़ा। एक क्लर्क वहाँ मिले, जिनका बर्ताव काफ़ी असभ्यतापूर्ण था। मैंने उनसे अनुनय-विनय की "यह बेचारी बाईस वर्ष बाद अपने पतिसे मिलने जा रही

है" पर क्लर्क महाशय कुछ नहीं सुनना चाहते थे । आप बोले, "मैं अपने काममें कोई दस्तन्दाजी नहीं चाहता !" मैंने कहा कि इस औरतको फ़िज़ीमें उतरनेकी आज्ञा मिल गई है, यह तार मि० पियर्सन (Secretary of Indian affairs) सूबा फ़िज़ीका है । इसे भी आप बंगाल सरकारके पास भेज दीजिये । पर वे क्यों सुनने लगे । मैंने कहा—'आपको जनताके साथ अधिक सहानुभूतिका वर्ताव करना चाहिए ।' इस पर तो वे और भी नाराज़ हो गये, और बोले, "हम आपसे उपदेश नहीं सुनना चाहते ।"

जहाज़ जानेमें पाँच छै दिन बाकी थे । मैंने दिलमें सोचा कि अगर पासपोर्ट बंगाल सरकारसे वापिस न आया, तो यह बेचारी रुक जायगी । सीधा जहाज़ी कम्पनी मेकीनन मेकंज़ीके यहाँ गया । वहाँसे फिर बंगाल सेक्रेटरिएटमें पहुँचा और मि० बी० आर० सेन आई० सी० एस० से सब बातें कीं । उन्होंने तुरन्त ही जगरानीके पासपोर्टपर अपने हस्ताक्षर कर दिये । इस प्रकार पुलिसकी धाँधलेवाज़ीसे छुटकारा मिला । सौभाग्यसे कलकत्तेके ही आर्यसमाजमें इसी जहाज़से फ़िजी जानेवाले एक सज्जन श्री अम्बिकाप्रसादजी ठहरे हुए थे । जगरानीको उनके सुपुर्द कर दिया । वे जगरानीके पतिको जानते भी थे ।

जगरानीके पास एक पीतलके कटोरेके सिवा कुछ भी न था । एक स्थानीय सज्जनकी कृपासे उसके लिए एक सन्दूक़, दरी और चादरका प्रबन्ध हो गया, और जगरानी ३१ जुलाईको फिजी के लिए रवाना हो गई ।

जिस दिन उसका पति बिना कुछ कहे उसे छोड़कर सातसमुद्रपार चल दिया था, उसकी उसे ज्यों की-त्यों याद है । चैतका महीना था, मंगलका दिन था, संक्रान्तमें तीन दिन बाक़ी थे ।

शर्तबन्दीकी ग़ुलामीके अस्सी-पच्चासी वर्षके दीर्घकालमें न जाने कितने लाख स्त्री-पुरुषों, माता-पुत्रों और भाई-बहनोंका वियोग हुआ

होगा। जगरानीका दृष्टान्त उन्हींमेंसे एक है। चलते वक़्त जगरानीने कहा, "हमारे लड़के और लड़कीको खबर भेज देना।"

मैंने कहा, "ज़रूर भेज दूंगा, और तुम्हारी तसवीर भी भेज दूंगा।" २४,२५ अगस्तको जहाज़ फिजी पहुँचेगा। बाईस वर्ष बाद जगरानी अपने पतिसे मिलेगी। बाईस वर्ष बाद !

अगस्त १९३३]

कौन सुनेगा ?

"बुमहरिया आइ गई है।"—लड़केने कहा।

"कौन महरिया ?"—मैंने पूछा।

"अरे बई ! जाकौ आदमी दंगाके बख़त डाक्टर जीवारामके संग जरि गयौ हो।"

मैंने कहा—"उससे बातचीत करके सब हाल पूछो।"

एक साथ १४ अप्रैल सन् १९३५ की उस दुर्घटना—फ़ीरोज़ाबाद-की कालकोठरी—की याद आ गई, जो भारतीय साम्प्रदायिकताके इतिहासमें चिरकाल तक जीवित रहेगी और जो फ़िरक़ापरस्तोंके मुंह पर अनन्त काल तक कलंक-कालिमा पोतती रहेगी।

३०–३५ वर्षकी वह विधवा ब्राह्मणी किसी बुढ़ियाको साथ लेकर अपने गाँवसे आई थी। ज़रा उस अभागिनकी राम-कहानी पर ध्यान तो दीजिये—

१४ अप्रैल, १९३५। प्रातः काल।

"जा छोरी ऐ पिरोज़ाबादके डाँकदर जीवाराम कौं दिखाइ लइयो।"

उसने अपने पतिसे कहा होगा, और वह बेचारा अपनी एक मात्र सन्तान पुत्रीको लेकर डाक्टर जीवारामके यहाँ आया था। उसके बादकी घटना बन्धुवर श्रीराम शर्माके शब्दोंमें सुन लीजिये—

"जीवारामजीके यहाँ रोगियोंका ताँता लगा हुआ है। मरीज़ आते और दवा लेकर चले जाते हैं। कम्पाउण्डर औषधि बनानेमें व्यस्त है। बच्चे खेल रहे हैं। वे तमाशा देखनेके लिए मचल रहे हैं...ठीक उसी समय बाज़ारसे कम्पोत्पादक शब्द आता है—'अली ! अली ! अल्लाहो अकबर !' सब कान उधरको हुए और सावधानीके ख़्यालसे

जीवारामने मकानके किवाड़ बन्द कर लिये। इतने ही में उन्मत्त ताजियेदार, अपनी माताओंकी कोखको कलंकित करने वाले गुंडे, पागल कुत्तोंकी भांति उस मकानपर चढ़ दौड़े। उल्कापात-सा हुआ, कायरता-को भी लजानेवाला आक्रमण उस मकानपर हुआ, जिसमें नगरका अत्यन्त लोकप्रिय, प्रभावशाली और समाज-सेवी डाक्टर रहता था। डाक्टर जीवारामके पास फ़ीरोज़ाबादके अधिकतर मुसलमान इलाजको आते थे, और स्वास्थ्य-लाभ करनेपर हमने बीसियोंको कहते सुना कि "खुदा की बरकतसे ऐसा डाक्टर हमें मिला है।" साम्प्रदायिकतासे वह कोसों दूर था, किसी मुसलमान जुलूससे उसे क्या डर था ?"

इसके बाद क्या हुआ, उस हृदय-बेधक कथाको विस्तारपूर्वक कहनेकी आवश्यकता नहीं। तेरह प्राणी एक कोठरीमें बन्द थे और उत्तेजित भीड़-ने मिट्टीका तेल छिड़ककर दूकान तथा घरमें आग लगा दी थी। इन तेरह प्राणियोंमें दस दम घुट-घुट कर वहीं समाप्त हो गये, जिनमें इस अभागिन महिलाका पति और लड़की भी थी।

इस संकोचशील स्त्रीसे बातचीत करना आसान न था। मेरी बहन-ने उससे बहुत-से सवाल किये और उसकी ओरसे बुढ़ियाने संक्षेपमें जो उत्तर दिये वे ये हैं —

"पति और लड़कीके मरनेके बाद वह अकेली रह गई है। दो लड़के पहले हुए थे; पर वे पतिके जीवन-कालमें ही चल बसे। कहींसे एक भी रुपयेकी मदद नहीं मिली। सरकारसे एक पैसा भी नहीं मिला। देवर-जेठोंसे माँग-मूँगकर गुज़र कर लेती है। बैसाख-क्वारमें मन-दो-मन नाज जोड़ लेती है। उसीसे साल-भर काम चल जाता है। खेत वग़ैरह कुछ भी नहीं। बिछिया और एकाध गहने थे, सो बेच खाये। दो भाई हैं, पर कोई आया ही नहीं।"

इससे अधिक बातें उस स्त्रीसे मालूम ही नहीं हो सकीं। दंगेके बाद हज़ारों ही रुपये फ़ीरोज़ाबादके हिन्दू-मुसलमानोंने मुक़दमेबाज़ीमें

ख़र्च कर दिये, पर किसी भलेमानसने एक पैसा भी इस ग़रीब औरत-को नहीं दिया ! क्षति-पूर्तिके लिए (क्या प्राणपतिकी हत्याका कुछ मुआवज़ा हो भी सकता है ?) कानी कौड़ी भी नहीं मिली। और-तो-और फ़ीरोज़ाबादके गण्यमान्य नागरिकोंको उसके पतिका नाम भी मालूम नहीं ! हमारे यहाँ आगरेके आसपास बीसियों लेखक विद्यमान हैं, और सुशिक्षित महिलाओंकी भी कमी नहीं; पर इस दुखियाकी राम-कहानी किसीने नहीं सुनी, किसीने नही लिखी !

अब भी यह अभागिन फ़ीरोज़ाबादके निकट किसी गाँवमें रह रही है और अपने आँसुओंसे धूल पर अपनी दुःख-गाथा लिख रही है। पर क्या वह गाथा कभी लिपिबद्ध होगी ?

कलकत्ता और कानपुर, मुलतान और मलाबार, आरा तथा कटारपुरमें जो साम्प्रदायिक दंगे हुए और उनमें जो आदमी मारे गये, उनकी विधवाओंकी कहानी किसने लिखी है ? यदि हमारे लेखकोंमें तनिक भी कल्पना-शक्ति होती, तो कई करुणोत्पादक कथाएँ हमारे साहित्यमें आज मौजूद होतीं, जो लेखकोंका मुँह उज्ज्वल और फिरक़ापरस्तोंका मुँह काला करतीं। ये सच्ची कहानियाँ लिखी जायँ या नहीं, पर इतना हम ज़रूर जानते हैं कि मूक शापोंमें ज़बरदस्त शक्ति है, और इन निरपराध बहनोंके शाप साम्प्रदायिकता फैलानेवाले हिन्दुस्तानियोंके चाहे वे किसी गिरोहके क्यों न हो—सिर पर निरन्तर मँडराते रहेंगे और किसी दिन आकस्मिक वज्रपातकी तरह गिरेंगे।

पर इस बीचमें मानवताका भी कुछ तक़ाज़ा है, उसकी भी कुछ आवाज़ है। पर उस व्यापारिक नगरके स्वार्थमय कोलाहलमें उस धीमी आवाज़को कौन सुनेगा ?

"कौन सुनेगा दीन जनोंकी राम-कहानी ?"

१९४१]

चार सिपाही

(१) किसान-सेवक गुसेव

देशनिकालेके बीस वर्ष तासकन्दमें बितानेके बाद आज रूसी किसानोंके एक कार्यकर्ता गुसेवकी अवाई है। ग्रामके कृषक-समुदायके हर्षका आज ठिकाना नहीं। वे दिल खोलकर अपने बन्धुका स्वागत करना चाहते हैं। लो! ये कौन आ गया! अरे, यह तो पहचाने भी नहीं जाते! सूखकर ढाँचा ही ढाँचा रह गया है। आते ही उन महाप्राण गुसेवने अपने साथी संगियोंसे कहा—"भाइयो! यह तुमने क्या किया! क्रान्तिके कार्यको शिथिल क्यों कर दिया? यह ढिलाई कैसी?"

जिस समय आँखोंमें आँसू भरकर गुसेव यह वाक्य कह रहे थे, ऐसा प्रतीत होता था कि मुट्ठी भर हड्डियोंसे आग निकल रही है। श्रोताओंको आश्चर्य हो रहा था कि ये हड्डियाँ छिन्न-भिन्न होकर गिर क्यों नहीं पड़तीं! उस स्वागत-उत्सवमें एक आवारा लड़का भी था। गुसेवकी बातें उसके हृदयको स्पर्श कर गई, और आगे चलकर वह रूसका एक महान् लेखक बना। वह लिखता है—"गुसेवका भाषण सुनकर मुझे अपनेपर बड़ी शर्म आई। मैं सोचने लगा कि अपने किसान भाइयोंकी स्वाधीनताके लिए मैं क्या कर रहा हूँ। गुसेवने दूने उत्साहके साथ फिर किसानोंमें काम करना शुरू किया, क्रान्तिकी आग फिर सुलगाई—किसी दुष्टने उनके साथ विश्वासघात किया। वे पकड़े गये, जेलमें ठेल दिये गये और वहीं थोड़े दिन बाद उनके प्राणपखेरू अस्थिपिंजरसे उड़ गये।"

पर क्या सचमुच गुसेवकी मृत्यु हुई? आजसे ढाई हजार वर्ष पहले जिस मुर्देके दर्शनने सिद्धार्थको बुद्ध बना दिया, वह शव क्या सचमुच

निर्जीव था ? वह तो कपिलवस्तुके सहस्रों व्यक्तियोंसे अधिक सजीव था।

जिस किसान-सेवककी सूखी हड्डियोंकी चिनगारीने आवारा युवक मेक्सिम गोर्कीके हृदयमें क्रान्तिकी ज्वाला जगा दी, वह गुसेव अमर है—उतना ही अमर है, जितने लेनिन और गोर्की।

(२) बुकसेलर मैकलारिन

समाजवादी कामरेड मैकलारिन किताबोंकी दूकान करते थे। केम्ब्रिज-विश्वविद्यालयके निकट उनका कारोबार था। एक दिन लन्दनसे उनको तार मिला—"क्या तुम जल्दी आ सकोगे ? बड़ा ज़रूरी काम है।"

मैकलारिन अपनी दूकान छोड़कर लन्दन गये। वहाँ उनकी पार्टीके एक सदस्यने कहा—"मैंने सुना है कि तुम तोप चलाना ख़ूब जानते हो। मेरे पास स्पेनकी सरकारसे ख़बर आई है कि हमारे यहाँ तोपचियोंकी सख़्त ज़रूरत है। क्या तुम स्पेन जा सकोगे ? पर एक बात सोच लो, वहाँ जाना मौतके मुँहमें जाना है।"

बन्धुवर मैकलारिनने जवाब दिया—"कोई पर्वाह नहीं, मैं अवश्य स्पेन जाऊँगा।"

दूसरे ही दिन मैकलारिन स्पेनके लिए रवाना हो गये। यह बात अक्टूबर १९३६ की है। ८।१० नवम्बरके बीच मैड्रिडमें सरकारी फौजोंका बाग़ियोंसे ज़बरदस्त मुक़ाबला आ पड़ा था। उस मौक़ेपर मैकलारिनने अपनी तोपसे ऐसी भयंकर गोलाबारी की, इस तरह तक-तकके निशाने लगाये, कि दुश्मनोंके पैर उखड़ गये। पर भागते-भागते उन लोगोंने सौ-पचास गोलियाँ बड़ी ज़ोरसे चलाईं। उनमें-से एक मैक-लारिनके सिरमें आ लगी और वे अपनी तोपके पास ही गिर पड़े।

गीतामें कृष्ण भगवान्ने अर्जुनसे कहा था—"हतो वा प्राप्यसि

स्वर्ग"—अगर तुम युद्धमें मारे गये, तो तुम्हें स्वर्ग मिलेगा। कामरेड मैकलारिन अपने सिद्धान्तोंकी रक्षा करते हुए युद्धमें मारे गये। कौन कह सकता है कि वे सच्चे क्षत्रिय नहीं थे ?

(३) ग्रामीण शिक्षक शालिग्रामसिंह

बात सन् १९३२ की है। बिहारमें सत्याग्रहका आन्दोलन ज़ोरोंपर था। नमक-क़ानून तोड़ा जा चुका था और शराब, गाँजे तथा विदेशी कपड़ोंकी दूकानोंपर धरना दिया जा रहा था। पिकेटिंग करनेवाले आदमियोंको पुलिसके डण्डे खाने पड़ते थे। एक दिन शराबकी दूकानपर धरना देनेवाले एक युवकको पुलिसने इतना पीटा कि उसकी क़मीज़ चिथड़े-चिथड़े हो गई, पीठपर तीन-चार जगह घाव हो गये और धोती ख़ूनसे भीग गई। जब वह महाराजगंज शिविरमें पहुँचा, तो उसके घंटे-दो-घंटे बाद ही बहुत-से स्वयंसेवक अपना स्थान छोड़कर घर चले गये। दमनके मारे जनतामें आतंक छा गया था।

अपने स्थानका यह अपमान, अपने साथियोंकी यह शिथिलता ग्रामीण शिक्षक शालिग्रामसिंहसे देखी न गई। उन्होंने अपनी नौकरीसे एक वर्षकी छुट्टी लेनेके लिए प्रार्थना-पत्र भेज दिया। इसके बाद आन्दोलनमें काम करना शुरू किया। रातको बारह-बारह बजे तक ग्रामोंमें घूमते रहते थे। एक दिन दोपहरके दो बजे तक घूमकर पाठशालामें लौटे ही थे कि पुलिसने उन्हें गिरफ़्तार कर लिया। पुलिस इन्सपेक्टर सरयू तिवारीने उन्हें इतना पिटवाया कि शालिग्रामसिंह बेहोश हो गये और अस्पताल पहुँचाये गये। मुक़द्दमा होनेपर उन्हें जेलका दण्ड मिला और वे छपरे और फिर पटनेकी जेलमें भेज दिये गये। वहाँ उनका स्वास्थ्य बिल्कुल ख़राब हो गया। शरीर सूखकर काँटा हो गया। छूटनेपर घरपर उनका इलाज भी किया गया; पर कोई फ़ायदा नहीं हुआ, और कई महीने बीमार रहकर वे अपनी बुढ़िया माँ और युवती विधवाको

निस्सहाय छोड़कर स्वर्ग सिधारे। रोती-विलखती माँ भी कुछ दिनों बाद परलोक पधारीं। आज यदि कोई तलाश करे, तो छपरे ज़िलेके सिम्रहुता बँगरा ग्राममें शालिग्रामसिंहकी दीनहीन निस्सन्तान विधवा पत्नी कहीं दीख पड़ेगी; पर किसे गरज़ पड़ी है कि छोटे-छोटे कार्यकर्ताओं—सिपाहियोंके घर-बारकी ख़बर ले ? पर क्या शालिग्रामसिंह दरअसल छोटे थे ? क्या उनकी साधना वस्तुतः क्षुद्र थी ?

(४) वह अमर मल्लाह

फार्मेडेबिल नामक अंगरेज़ी जहाज़ बड़ी तेज़ीके साथ चला जा रहा था कि एक साथ बड़े ज़ोरका धड़ाका हुआ। मालूम हुआ कि जर्मनोंकी किसी पनडुब्बीने उसपर आक्रमण किया है। जहाज़ धीरे-धीरे डूबने लगा। उसपर पचासों मल्लाह थे; पर बचानेवाली नाव सिर्फ एक ही थी। बचनेवालोंके नामकी पत्ती डाली गई और बारह आदमियोंकी सूचीमें एक सीधे-सादे मल्लाहका नाम भी निकल आया। नावके छोड़े जानेमें सिर्फ़ दो मिनटकी देर थी। उस मल्लाहने अपने एक साथीके कन्धेपर हाथ रखकर कहा—"देखो भाई ! मेरे माँ-बाप मर चुके हैं, तुम्हारे जीवित हैं, मेरे बजाय तुम जाओ।"

साथी चला गया और वह मल्लाह फार्मेडेबिल जहाज़के साथ वहीं समुद्रमें डूब गया। इस घटनाको घटे २५ वर्ष हो गये (यह महा-युद्धकी है) पर आज उस सहृदय वीर मल्लाहके शब्द सजीव पाठकोंकी हृत्तंत्रीके तारोंमें झंकार पैदा किये बिना न रहेंगे।

उस मल्लाहका नाम क्या था, शायद कोई भी न जानता हो; पर वह अमर है। मातृत्व तथा पितृत्वके प्रति ऐसी प्रेमपूर्ण पवित्र बलि चढ़ानेवाले उस अज्ञात अंगरेज़ मल्लाहकी जलसमाधिपर क्या कोई कवि चार आँसू चढ़ावेगा ?

[नोट—रूसी किसान सेवक गुसेवकी सच्ची कहानी मेक्सिम गोर्कीको

'On Guard' नामक पुस्तकसे ली गई है। कामरेड मैकलारिनका आत्मबलिदान राल्फफोक्सके संस्मरण-ग्रन्थसे उद्धृत किया गया है। शालिग्रामसिंहकी घटना 'विशाल भारत'के एक कार्यकर्ता रामधन द्वारा बतलाई गई है और अंगरेज मल्लाहका वृत्तान्त सुप्रसिद्ध अंगरेज लेखक ए० जी० गार्डनरके एक स्केचका सारांश है।]

१९३९]

सुजान अहीर

"पंडितजी, गाड़ी ले लूँ ? सुजानको बाय आय गई है," सुजान अहीरके बूढ़े बापने कहा।

"ज़रूर लेलो, सबसे पहले तुम्हारा काम होना चाहिए, पर किसको बुला रहे हो ?" मैंने पूछा।

वह बोला, "हवलदारको"

हवलदार नामका भी कोई वैद्य या डाक्टर है, यह मैं नहीं जानता था। मैंने झुँझलाकर उस बूढ़ेसे कहा, "तुम भी अजीब आदमी हो, इतनी देर में ख़बर क्यों दी ? डाक्टर साहबको क्यों नहीं बुलाया ?"

सुजानके बूढ़े बापका चेहरा उतरा हुआ था, उसकी हक्की बक्की भूल गई थी। वह कोई उत्तर नहीं दे सका। तब मेरी समझमें यह बात आई कि उस बूढ़ेसे जिसका जवान लड़का कई दिनसे सन्निपातमें मृत्यु-शय्यापर रक्खा हो, समझदारीकी उम्मीद करना ही महज़ हिमाक़त है। मैंने फिर भी डाक्टर साहबको पत्र लिख दिया, पर हम लोग नगरसे चार मील दूर रहते हैं। सवारीका कोई प्रबन्ध नहीं और डाक्टर साहब दूसरे दिन शामको आ सके—सुजानकी मृत्युके पाँच घंटे बाद। इसमें उनका कोई अपराध नहीं था। उन-जैसे सहृदय, कर्तव्यपरायण और सुयोग्य डाक्टर बिरले ही होंगे। पर अकेले वे क्या कर सकते हैं ? ओरछा राज्य-में शिक्षा चार फ़ीसदी है और इक्कीस सौ वर्गमीलके नौ सौ ग्रामोंमें एक अस्पताल और तीन डिस्पेन्सरी हैं। सुजानका पिता **अपने तीन पुत्रोंको खोकर** अब भी गाय-बैल चराता हुआ कभी नज़र आजाता है। जब मैं उसे देखता हूँ, हृदयको एक धक्का-सा लगता है।

मैंने उससे कहा था, "तुम्हारा काम सबसे पहले होना चाहिए"। पर

क्या हम लोगोंने सुजान और उसके भाई बन्धुओंका, सर्वोपरि तो क्या कुछ भी ख़याल रक्खा है ? क्या हमने कभी यह सोचा है कि चारों-ओरकी जनताके कल्याणमें ही साहित्यिकका भी कल्याण है ?

टूँडे खंगार और भगौना धीमर, सरला धोबी और चतुरी चमार, सुन्ना बसोर और घंसा काछी ही वस्तुतः पृथ्वीपुत्र हैं, उनकी उपेक्षा करने वाला साहित्य वास्तवमें एकाङ्गी है। यही नहीं, वह दरअसल शापित भी है, वह न कभी फूलेगा न फलेगा।

आज फिर बरसातमें सुजानका बूढ़ा बाप भीगता हुआ दीख पड़ा और मैं सोचता हूँ कि ये सेवा-संघ, ये प्रजामण्डल, ये मंत्री महोदय, ये धारासभा, ये नेतागण और ये हम लोग (रियासतोंके पालतू-फालतू साहित्यिक) आख़िर किस मर्ज़की दवा हैं ?

१९४५]

बर्तनी

वक़्त रातका है। अँधियारी छाई हुई है। एक पचास वर्षकी बुढ़िया क़ब्रिस्तानकी ओर लपकी हुई चली जा रही है। लो, वह वहाँ पहुँच गई, और उसने क़ब्र खोदना शुरू किया। थोड़ी देर बाद उसके घरवाले वहाँ घबराये हुए पहुँचे। उससे कहा, "यह क्या कर रही है?"

वह कहती है, "कर क्या रही हूँ, अपने बच्चोंको उठा रही हूँ। लोग यहाँ उन्हें क्यों सुला गये हैं?"

बात ठीक है। बर्तनीके दो जवान बेटे एक बाईस वर्षका, दूसरा सत्रह वर्षका दोनों विवाहित। इसी क़ब्रिस्तानमें वह नींद सोये हुए हैं, जिसके बाद कोई नहीं उठता। जिन्हें पाल पोसकर-बर्तनीने इतना बड़ा किया था, वे इसी स्थानपर गंभीर निद्रामें मग्न हैं! लोग बर्तनीको पागल कहते हैं, और दरअसल वह पागल है भी।

× × ×

"बाबूजी नारंगी लोगे" एक बुढ़ियाने आवाज़ दी।

मैंने कहा, "भाव ठीक होगा, तो लूँगा। यहाँ कलकत्तेमें तेज़ बेचकर ठगनेवाले बहुत हैं।"

बुढ़ियाके हृदयको शायद कुछ ठेस लगी, "नहीं बाबूजी, मैं ज़्यादा मुनाफ़ा नहीं लेती। बस, दिन भर में छै आने पैसे कमा लेती हूँ।"

नारंगी दरअसल बाज़ारभावसे सस्ती थीं। बुढ़िया नारंगी बराबर देती रही। एक दिन बोली, "अब यह आठ बच रही हैं, मुझे रोज़ेका इन्तज़ाम करना है। ये कहाँ बेचूंगी। आठ पैसे में ही ले लो।"

मैंने ले लीं। फिर यों ही पूछ बैठा, "तुम्हारे घरपर कौन-कौन हैं?"

बुढ़ियाने दुःखपूर्ण स्वरमें कहा, "क्या बतलाऊँ, अब कौन है ? छै बच्चे थे, उनमें पाँच मर गये और मियाँ भी चल बसे। मैं हूँ, एक लड़की है, दो छोटी-छोटी भतीजी हैं और एक भतीजा।"

"तुम्हीं उनका पालन करती हो ?"

"और कौन करेगा ? जवान-जवान लड़के जाते रहे" यह कहते हुए उसका हृदय भर आया।

"छै आनेमें गुज़र कैसे होती है ?"

"गुज़र क्या होती है। छै रुपये तो किरायेके देने पड़ते हैं। मेरी बुड्ढी माँ जो सपूरा गाँव में (ज़िला मुंगेरमें) रहती है, मेरी ग़रीब हालतपर रहम करके मुझे कुछ भेज देती है। बाबूजी जब मेरे मियाँ ज़िन्दा थे, तब मुझे घरसे बाहर भी किसीने न देखा था।"

"उनको मरे कितने दिन हो गये ?"

"उस वक़्त मेरी बची हुई लड़की बस चार महीनेकी थी और अब सत्रह वर्ष की है। आप ही हिसाब लगा लीजिए।"

"यहाँ कलकत्तेमें क्यों रहती हो ? मुंगेर ज़िलेको क्यों नहीं चली जातीं ?"

बुढ़िया उठ खड़ी हुई। पासके पचास गज दूरवाले मकानकी ओर इशारा करके बोली, "देखो, जितनी दूर यहाँसे वह मकान है, उतनी ही दूर मेरे गाँववाले घरसे क़ब्रिस्तान है, जहाँ मेरे प्यारे बच्चे गड़े हुए हैं। मैं गाँवमें रहकर पागल हो जाती हूँ। रातको उठ भागती हूँ। मुझसे वहाँ रहा नहीं जाता। बेटे-बेटियोंकी याद ताज़ी हो जाती है। बारह-बारह बजे रातको जाकर कबर खोद डालती हूँ।"

× × ×

बर्तनी बुड्ढी हो चुकी है। केलाबागान नं० २२ ग़फ़ूरकी बाड़ीसे जो मेरे घरसे काफ़ी दूर है, वह नित्यप्रति आती है। मेरा कमरा चौतल्ले पर है, जहाँ चढ़नेमें काफ़ी परिश्रम पड़ता है, पर हाँफती-हाँफती सिर पर

डलिया रखे बर्तनी रोज़ चली आती है। वह हँसकर बोलती है, पर उसकी बैठी हुई आँखोंके पीछे करुणरसका कितना भयंकर समुद्र छिपा हुआ है, इसका मुझे अनुमान भी नहीं था।

"अगर तुम्हारे बेटे आज ज़िन्दा होते, तो क्यों तुम्हें इतनी मेहनत करनी पड़ती।" अपनी बेवकूफ़ीसे मैं कह बैठा।

बर्तनीके नेत्र सजल हो गये। चेहरा करुणाकी मूर्ति था। उनमें मुझे उसके पाँच दफ़नाये हुए बच्चोंकी शक्ल दीख पड़ी।

मैंने बात टालकर कहा, "जबतक नारंगी बाज़ारमें बिकती रहे, मुझे बराबर दे जाया करो। बाज़ार भावसे, सस्ती नहीं।"

बर्तनी पाँच पैसे जोड़ेवाली नारंगी मना करनेपर भी चार पैसेमें दे गई। मैंने भी दिलमें यह सोचकर कि इस समय इससे ज़िद करना ठीक नहीं, ले लीं।

हिन्द महासागरमें हिन्दू संगठन और मुसलिम तनज़ीबकी लहरें उठ रही हैं। सुनते हैं श्वेतपत्रके सुधारोंका तूफ़ान भी आनेवाला है, पर इससे श्वेतकेशा बर्तनीको क्या। अनेक प्राणियोंसे लदी हुई अपनी छोटी-सी नौकाको अपने शिथिल हाथोंसे, जब उसके दोनों पतवार नूरहसन-मुहम्मद और सखावतअली मँझधारमें गिरकर डूब चुके हैं, खेनेका प्रयत्न वह कर रही है।

बर्तनी छै आने रोज़ कमाती है। घरमें पाँच खाने वाले हैं। मकान-का किराया छै रुपये महीने है। बुढ़ापा आ पहुँचा है। किनारा अभी बहुत दूर है।

१९३४]

वह दिव्य आलिंगन !

पत्र नं० १

प्रियवर...., ५-७-१९१९

अरे भाई, मेरी बात भी मान लो। तुम पीटरमें बहुत दिन रह चुके। मेरा तो यही ख़याल है। किसी एक ही जगहपर बहुत दिन रहना ठीक नहीं। इससे आदमी थक जाता है और उसकी तबीयत ऊब जाती है। अगर राज़ी हो, तो इधरकी यात्राका प्रबन्ध करूँ। बोलो ! सारा इन्तज़ाम हम लोगोंके सुपुर्द रहा।

तुम्हारा,

....

पत्र नं० २

प्रियवर...., १८-७-१९१९

इधर विश्रामके लिए चले आओ। मैं अक्सर दो-दो दिनके लिए ग्रामोंकी ओर निकल जाता हूँ, और वहाँ तुम्हारे रहनेका प्रबन्ध कर सकता हूँ। चाहे थोड़े दिन रहना, चाहे बहुत दिन। अरे भई, मेरी बात मानके चले भी आओ।

तार दो, कब आ रहे हो ? तुम्हारे सफ़रके लिए हम एक कम्पार्ट-मेण्ट रिज़र्व करा देंगे, जिससे तुम आरामसे आ सको। थोड़े दिनके लिए आबहवा बदलनेसे तुम्हारी तबीयत ठीक हो जायगी।

जवाबका इन्तज़ार कर रहा हूँ।

तुम्हारा,

....

पत्र नं० ३

प्रियवर...., ९-८-१९२१

मैं तो इतना थक गया हूँ कि अपनी जान बचानेके लिए भी कुछ नहीं कर पाता। लेकिन तुम? तुम्हारे थूकके साथ तो खून आने लगा है, और फिर भी बाहर जानेका नाम नहीं लेते! भई, मेरी बात मानो, तुम्हारी यह ज़िद बिल्कुल बेजा और फ़िज़ूल है। यूरोपके किसी अच्छे सेनेटोरियम (आरोग्यशाला) में तुम्हारा इलाज ठीक तौरपर हो सकेगा और वहाँ तुम यहाँसे तिगुना काम कर सकोगे। मेरी भी सुन लो। यहाँ हमारे नज़दीक रहते हुए, न तो तुम्हारा कुछ इलाज हो सकता है और न तुम कुछ साहित्यिक काम ही कर पाते हो। यहाँ तो ऊल-जलूल कोलाहल तथा व्यर्थाभिमान —निरर्थक अहंकार—का बोलबाला है। यहाँसे बाहर चले जाओ और तन्दुरुस्ती हासिल करो। ज़िद मत करो भाई! मेरी विनती भी सुन लो।

तुम्हारा,

....

× × ×

ये अमर पत्र २०-२१ वर्ष पहलेके हैं, और संसारके एक महान् राज-नैतिक नेताने एक विश्वविख्यात लेखकको भेजे थे। उनके नाम थे लेनिन और गोर्की!

दरअसल लेनिन गोर्कीको देशकी एक अमूल्य विभूति मानते थे और उनके स्वास्थ्यके विषयमें अत्यन्त चिन्तित रहते थे। अत्यन्त कार्य-व्यस्त रहनेपर भी वे इस तरहकी पचासों चिट्ठियोंके लिखनेके लिए वक़्त निकाल लेते थे। तीसरी चिट्ठी तो तब लिखी गई थी, जब लेनिन बिल्कुल थके हुए तथा बीमार थे और स्वास्थ्यप्रद भोजन भी उन्हें नसीब नहीं होता था।

लेनिनकी पचासवीं वर्षगाँठ थी। उनके मित्रोंने एक षड्यंत्र किया।

प्राइवेट तौरपर एक मीटिंगका प्रबन्ध किया, और लेनिनको इस बातकी ख़बर भी न दी कि उनकी रजत-जयन्तीका उत्सव मित्र-मंडलीमें मनाया जा रहा है। किसी तरह भरमाकर वे लोग लेनिनको उस स्थानपर लाये, जहाँ यह मंडली इकट्ठी हुई थी। जब लेनिनको इस षड्यंत्रका पता लगा, तो वे बहुत नाराज़ हुए और अपने दोस्तोंको डाट बताते हुए बोले--

"जनाब, आपने समझ क्या रखा है? यह भी कोई दिल्लगी है? आप लोगोंके नामकी रिपोर्ट केन्द्रीय कमेटीके पास पेश की जायगी, क्योंकि आप भले आदमियोंके क़ीमती वक़्तकी बर्बादी इस तरहकी बेहूदी कार्रवाइयोंमें किया करते हैं!"

इसके बाद गोर्की खड़े हुए, और उन्होंने संक्षेपमें लेनिनके व्यक्तित्वका ऐसा शब्द-चित्र खींचा कि श्रोताओंके हृदय तथा नेत्र भर आये। इतनेमें देखते क्या हैं कि दोनों महापुरुष एक दूसरेको गाढ़ालिंगन कर रहे हैं! लेनिनने गोर्कीको छातीसे लगा लिया था। कई मिनट तक यह दृश्य रहा।

सुना है कि प्राचीन युगमें स्वर्गके देवता मर्त्यलोकके इसी प्रकारके दृश्य देखकर आकाशसे फूल बरसाया करते थे। पर स्वर्ग, देवता और आकाश-पुष्पोंकी कहानी तो बहुत पुरानी हुई। इस नवयुगमें और युग-युगान्तर तक सहृदयोंकी श्रद्धांजलिका पात्र रहेगा राजनीति तथा साहित्य-का वह अनुपम संगम--लेनिन और गोर्कीका वह दिव्य आलिंगन!

१९३९]
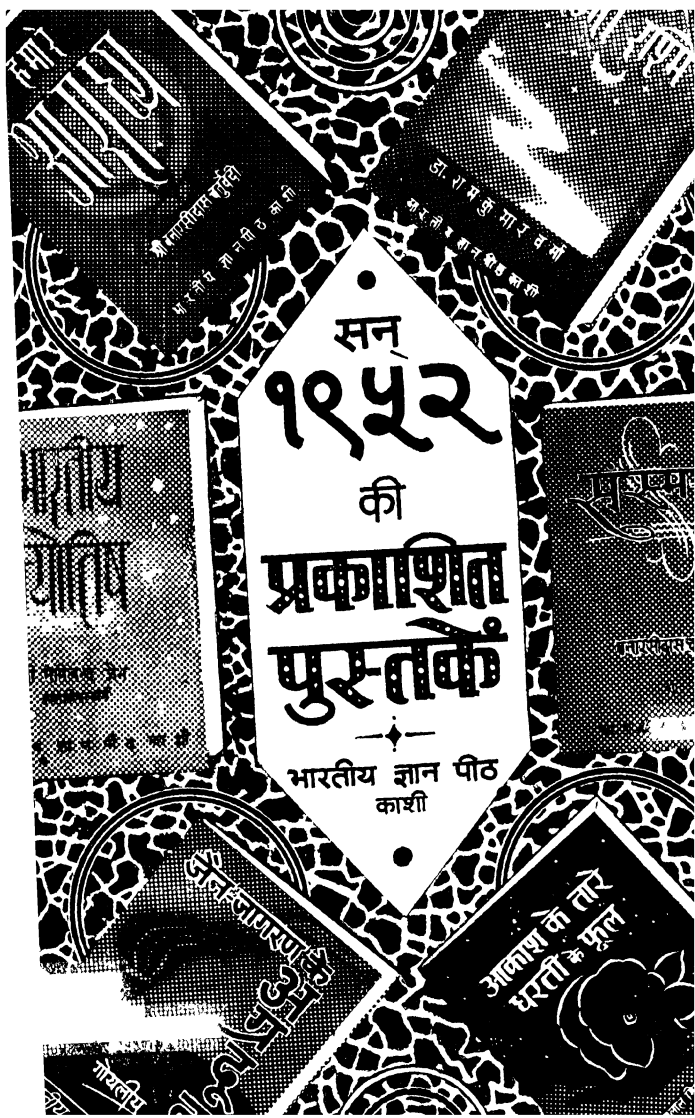
सन् १९५२
की
प्रकाशित
पुस्तकें
भारतीय ज्ञान पीठ
काशी
आकाश के तारे
धरती के फूल